

# संस्कृतिका

समय-समाज के संदर्भों की शोध-पत्रिका

संपादक

डा. वज कुमार पाण्डेय

डा. दीपक कुमार राय

अलका पब्लिकेशन्स

448, पॉकेट-5, मयूर विहार, फेज-I

दिल्ली-110091

वर्ष : 4 अंक : 4 □ अक्टूबर 2011

## सैद्धान्तिकी

सैद्धान्तिकी भारत में समाचार पत्रों के निबंधक ( आर.एन.आई. ) द्वारा अनुमोदित है।

संरक्षक:	डा. नवल किशोर डा. पी. एन. सिंह डा. एस. त्रिपाठी
परामर्श:	डा. गिरीश मिश्र डा. आर. एन. कुमार डा. जी. पी. ओझा
संपादक मंडल:	डा. शशिकांत राय डा. कृष्ण कुमार सिंह डा. अनिल कुमार सिंह
प्रबंध संपादक:	डॉ. विद्यापति गौतम
साज-सज्जा :	मो. सलीम अंसारी

### संपादकीय सम्पर्क:

448, पॉकेट-5, मयूर विहार, फेज-1,  
दिल्ली-110091  
फोन : 011-47541851, 64683387  
e-mail : editorialindia@yahoo.com

मूल्य : रूपये 500.00

मुद्रक एवं प्रकाशक शैलेन्द्र सेंगर द्वारा 448, पॉकेट-5, मयूर विहार, फेज-I, दिल्ली-110091 से प्रकाशित तथा बी. के. ऑफसेट, नवीन शाहदरा दिल्ली-32 से मुद्रित

---

### नोट :

पत्रिका में प्रकाशित लेखकों के विचार अपने हैं। उसके लिए पत्रिका/संपादक/संपादक मंडल को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। पत्रिका से सम्बंधित किसी भी विवाद के निपटारे के लिए न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

## सम्पादकीय

अच्छे व ज्ञानी शिक्षार्थियों की उच्च शिक्षा में जितनी जरूरत आज है पहले कभी नहीं थी। विश्व बैंक कहता है कि मानवीय धन या मानवीय पूंजी 64 प्रतिशत महत्व की है कम से कम। विकसित देशों में यह 80 प्रतिशत है। सार्क देशों में यह बहुत कम महत्व रखती है, इसलिए वे पिछड़े हुए हैं। पिछड़ेपन की तस्वीर को देखिये, इन देशों की तकदीर को देखिये। तदबीर की कमी से तकदीर साथ नहीं देती। यह वह सत्य है जिसे नकारा नहीं जा सकता। तदबीर कड़ी मेहनत दूरदृष्टि, लक्ष्य, स्पष्टता का एक कड़वा मिश्रण ही स्वादिष्ट फल दिला सकता है। मानव संसाधन का बाहुल्य उत्पादकता में सबसे बड़ा सहायक होता है। भारत मानव संसाधन उपयोग की दृष्टि से दुनिया में 135वें स्थान पर है। भारत जी.डी.पी. का 6 प्रतिशत भी मानव संसाधन पर खर्च नहीं करता जबकि जापान, दक्षिण कोरिया जैसे 'चमत्कारी आर्थिक प्रगति' वाले देश शिक्षा पर बहुत खर्च करते हैं।

शिक्षा का अर्थ है ज्ञान वृद्धि और ज्ञान शिक्षा। शिक्षा रोजगार परक होगी, तभी युवा शक्ति को आकर्षित करेगी पर रोजगार का अर्थ सरकारी नौकरी मानने का संकल्प या मतलब पूरी तरह छोड़ना होगा। रोजगार शिक्षा का उद्देश्य या लक्ष्य नहीं हो सकता, संपूर्ण शिक्षा का एक महत्वपूर्ण हिस्सा ही हो सकता है। इसके लिए इस सच्चाई को समझना भी जरूरी है कि भारत में उपनिवेशवादी शासन ने जिन शिक्षा व्यवस्थाओं को जन्म दिया है, वे राष्ट्रीय हित में नहीं हैं। इस व्यवस्था ने बहुत सी विसंगतियां पैदा कर दी हैं पर हमारी सरकारों ने बाबू और गुलाम पैदा करने को स्वतंत्रावेत्ता व्यक्तियों से अधिक महत्व दिया है। बाबू और गुलाम पैदा करने वाला देश अनुशासित हो भी नहीं सकता।

अनुशासन के लिए आत्म-जागृति, समाज व देश के प्रति सही निष्ठा, कर्तव्यों के प्रति चेतना जरूरी तत्त्व हैं। इनके बिना शिक्षा सार्थक नहीं हो सकती। युवा वर्ग को बड़ी और ऊंची उड़ान के लिए कुछ तत्कालिक बातों का त्याग करना पड़ेगा। यह एक मुश्किल काम है क्योंकि पिछली पार्टियों ने उन्हें इस तरह का शिक्षा व प्रशिक्षण नहीं दिया है, कर्तव्य बोध नहीं दिया है, स्वार्थ का बेलगाम घोड़ा दिया है। फिर भी बहुत कुछ बदल रहा है। सूचना तकनीक के विकास ने कितने ही नये आयाम खोल दिये हैं। सूचना तकनीक, कंप्यूटर तकनीक, व्यापार फाइनेंस, प्रबंध, लोक प्रशासन सभी क्षेत्रों में ई-गवर्नेन्स एक धमाकेदार तरीके से जीवन में घुस आई है। इस घुसपैठ को जीवन की प्रगति का एक आवश्यक तथा महत्वपूर्ण भाग बनाना इसे सार्थक रूप देने के लिए, दिशा देने के लिए कटिबद्ध होना पड़ेगा। विश्वविद्यालय इसके सबसे बड़े साधक हैं। उनकी साधना में ही भविष्य की कुंजी है। राधाकृष्णन कमीशन ने कहा था कि विश्वविद्यालय बौद्धिक जोखिम के घर हैं। इसका तात्पर्य यह है कि विश्वविद्यालय को नया ज्ञान खोलना चाहिए। सत्य की खोज में, लोकोपयोगी क्षेत्रों में नई शिक्षा आवश्यकता और अन्वेषणों को लाना चाहिए। नित्यक्रम और समानता अपनी जगह है पर जोखिम लेने की क्षमता के बिना विश्वविद्यालय शिक्षा अधूरी व कुछ हद तक आवश्यक है। कोठारी कमीशन ने भारतीय शिक्षा की बड़ी संतुलित व्याख्या की थी। शिक्षा शास्त्री इन सबको भूल गये हैं, सरकारें इनके बारे में बेखबर हो गई हैं। शोध और खोज दोनों ही बहुत पीछे रह गये हैं। भारतीय बुद्धि का न तो समुचित उपयोग हो रहा है न सदुपयोग।

खोज व अन्वेषण साहस का ही फल होता है। बहुत सी मेहनत, बहुत सा पैसा व्यर्थ जा सकता है पर खोज में लगे रहना ही विश्वविद्यालय का एक सही लक्ष्य भी है। मानव संसाधन विकास का उत्तरदायित्व मुख्यतः सरकार पर है पर जब तक शिक्षकों और विद्यार्थियों का दबाव नहीं होगा राज्य सचेत, सावधान नहीं रहेगा। क्रियान्वयन धीमा व सुस्त रहेगा। धीमापन या सुस्ती ज्ञान को कभी माफिक नहीं आती। ज्ञान का विस्तार जितनी तेजी से होगा, विकास की गति भी उतनी ही तेज होने की संभावना रहेगी। ज्ञान का भंडार बढ़ता ही रहना चाहिए। ज्ञान का भंडार ज्ञान पर आधारित सामाजिक पूंजी अर्जित करने वाला समाज होता है। ज्ञान तक हर विश्वविद्यालय विद्यार्थी की पहुंच होनी चाहिए। ज्ञान का अंतर समाज में उत्तरोत्तर कम होना चाहिए। दुनिया के विकसित देश ज्ञान का अंतर समाप्त करने में लगे हुए हैं ताकि अकुशलता, अकर्मण्यता न बढ़े और तत्पर वृद्धि को रोकने के सभी तरीके पंगु हो जायें। विश्वविद्यालय और महाविद्यालय खोलकर ही यह कार्य नहीं किया जा सकता।

जनता में उस बौद्धिक चेतना और विश्वास का होना जरूरी है जिससे वह उच्च शिक्षा का पूरा लाभ उठा सके। उच्च शिक्षा भी स्तरीय होनी चाहिए ताकि लाभकारी हो। बाजार तो प्रतिस्पर्धा का स्थान है, खाली आदेशों की बात करना जनता को भुलावा देता है। हर अच्छी शिक्षा में आदर्श समाहित होते हैं, हर स्तरीय शिक्षा इसी तरह की होती है पर जनता की नैया को पार लगाने और प्रतिस्पर्धा बन जाए, ऐसी धारणा बननी चाहिए।

—दीपक कुमार राय

## इस अंक में

### इतिहास

नई सदी में ब्रह्मचर्य की प्रासंगिकता या अप्रासंगिकता का सवाल—संजय कुमार	7
बौद्ध धर्म : एक विश्लेषण—लक्ष्मी कुमारी	9
भारत में उच्च शिक्षा का विकास—अभिषेक आर्ष	13
“संन्यासवाद : शास्त्रीय परम्परा और व्यवहार के सन्दर्भ में”—सरोज कुमार सिंह	16
1857 का क्रांतिकारी उभार—सुमन कुमार	23
भारतीय इतिहास में बाल गंगाधर तिलक का मूल्यांकन—राकेश कुमार	26
सामाजिक न्याय : गाँधी की दृष्टि—विपीन कुमार राय एवं अमृता कुमारी	29

### हिन्दी साहित्य

तुलसीदास की भक्ति में लोक—मोहन चौबे	32
प्राचीन हिंदी काव्य में गंगा नदी—डॉ. दिलीप कुमार श्रीवास्तव	34
समकालीन गीतकारों की रचना दृष्टि—रणविजय पासवान	36
आजादी में पत्रकारिता का योगदान—डॉ. श्याम सुन्दर प्रसाद	38
बांग्ला कहानी का वैभव—विश्वजीत कुमार चौधरी	41

### संस्कृत साहित्य

शुक्रनीति में युद्धनीति का वर्णन—प्रो. शेलडिया किशोर	44
वर्ण व्यवस्था : एक अवलोकन—डॉ. राणा प्रताप सिंह	49
ज्योतिष विज्ञान है?—डॉ. अभिषेक कुमार द्विवेदी	52
विश्वोत्पत्ति वेदान्त में सृष्टिक्रम—रश्मि	54
संस्कृत वास्तुशास्त्र: एक अनुशीलन—डॉ. प्रसून दत्त सिंह	55
महाभारत का स्वरूप तथा महत्व—डॉ. बेचन सिंह यादव	57
“भक्तिपरिपूर्ण संस्कृतस्तोत्रसाहित्यम्”—डॉ. कुमारी संगीता	60
काव्यशास्त्र में औचित्य की उपेक्षा के कारक—भारती कुमारी	62
‘किरातार्जुनीयम्’ में राजनीति—निरूपण—डॉ. विजयेन्द्र कुमार पाण्डेय	64
वैदिक वाङ्मय में निरूपित पर्यावरण संरक्षण : एक विवेचन—मनोज कुमार सिंह	66
वैदिक वाङ्मय में निरूपित राजधर्म—रमेश नाथ मिश्र	69

### चित्रकला

भारत में लोक चित्रकारिता—डॉ. निरंजन कुमार सिंह	71
--	----

चिरांद चेचर की प्राचीन सभ्यता के अवशेष (प्राचीन-मृणमूर्तियाँ)—संजीव किशोर गौतम	74
मध्यकालीन भारत में चित्रकला—डॉ. मधु रानी	79

## दर्शन शास्त्र

मानव के अस्तित्व एवं महात्मा गाँधी के ईश्वरीय विचार—डॉ० ब्रजेश्वर प्रसाद सिंह	81
---	----

## History

Deterioration in Quality of Doctoral Research in Universities of Bihar— <i>Dr. Kumkum Kumari</i>	83
Rise of Urban Economy, Trade and Commerce in Medieval India— <i>Dr. Kahkashan</i>	87
A History of Child Marriage in India— <i>Rakesh Ranjan</i>	90
Indian Resistance Movements in the Early Nineteenth Century— <i>Binny Patel</i>	93
The British “Civilising Mission” and its Legacy on India’s Political Culture— <i>Amar Kumar Mishra</i>	96
Western Education in Nineteenth-Century India— <i>Ram Pravesh Singh</i>	99
Rammohan Roy and the Advent of Constitutional Liberalism in India— <i>Rajesh Prasad</i>	102
India's De-industrialisation in the 18th and 19th Centuries— <i>Anjana Kumari</i>	105
Land Tenure System in India: A Historical Perspective— <i>Dr. Pawan Kumar</i>	108
Origins of Guru-Shishya Parampara in Ancient India— <i>Dr. Chandrika Sah</i>	111
Early Buddhist Tradition on the Origin of the Mahayana Sutras— <i>Dr. Dayanand</i>	114
Economy in Sangam Age— <i>Manish Kumar Sharma</i>	116
Textile Industry in Gujrat under Great Mughal though the Traveller’s Account— <i>Dr. Ravi Shankar Kumar Choudhary and Richa Rani</i>	119

## Political Science

Public Administration in India: Evolution, Change and Reform— <i>Dr. Anil Kumar Singh</i>	125
Bureaucracy and Development: The Indian Scenario— <i>Dr. Ganesh Prasad</i>	128
The Implications of Political Corruption for India’s Economic Development— <i>Princy Priya Roy</i>	131
Globalization and the De-nationalization of Indian Middle Class— <i>Dr. Arvind Kumar</i>	134
The Challenge of Good Governance in India: Need for Innovative Approaches— <i>Dr. Sudhir Kumar Singh</i>	137
Modernity as a Vision of Conquest: Development and Culture in India— <i>Dr. Narendra Pathak</i>	140
Land Acquisition: Its Legal and Constitutional Implications— <i>Animesh Chandra Jha</i>	143

## Psychology

Central Nervous System Volumes: Contribution to Motor Function and Working Deficits in Alcoholism— <i>Basant Lal Sharma</i>	146
---	-----

Nexus between Unemployment, Stress and Social Capital— <i>Dr. Asha Rani</i>	149
Home and Community Influences in Social Development— <i>Dr. A.N. Pathak</i>	153
Psychology of Advertisement and Selling— <i>Dr. Umapati Singh</i>	156
Nature of Psychology and Learners— <i>Akshay Kumar</i>	159
<b>Philosophy</b>	
A Healthy Relationship between “Doctor and Patient”— <i>Dr. Anjana Singh and Dr. Malini Verma</i>	162
<b>Library Science</b>	
Role of Academic Library in/for Information Literacy— <i>Parveen Kumar</i>	165
<b>English Literature</b>	
‘Kubla Khan’ as the Waking Dream of Coleridge— <i>Dr. Sunil Kumar</i>	168
<b>LSW</b>	
India’s National Food Security Act: Entitlement of Hunger— <i>Dr. Vidyapati Gautam</i>	172
<b>Sociology</b>	
Globalization and Local Cultures: Issues and Perspectives in India— <i>Dr. Surendra Mohan</i>	174
<b>Management</b>	
The Administration of Public Funds— <i>Dr. Praveen Kumar Tiwari</i>	176
<b>Commerce</b>	
Role of E-Business in the New Economy— <i>Bhupesh Kumar Tripathi</i>	179
<b>Economics</b>	
The Institutions and Governance of Economic Reform: Theoretical Extensions and Applications— <i>Dr. Sharada Nand Sahni</i>	182

# नई सदी में ब्रह्मचर्य की प्रासंगिकता या अप्रासंगिकता का सवाल

संजय कुमार

आज समाज में जिस तरह की उच्छृंखलता, उद्वेगता और अराजकता विद्यमान है, खासकर युवाओं में दुष्प्रवृत्तियों, दुराचरणों एवं दुर्व्यसनों का बोलबाला दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है उससे हँसते-खेलते मानव जीवन नरक में तब्दील हो रहा है एवं इससे वर्तमान समाज का स्वरूप भी विखंडित हो रहा है। हमारा समाज इस तरह के वातावरण से कभी गुजरा नहीं है। इसके जड़ में जाने पर पता चलता है कि कुछ ऐसे कारण हैं जिससे समाज का स्वरूप ही विघटित हो रहा है। मेरी समझ है कि प्राचीन भारतीय समाज की परम्परा और भारतीय विचारकों के उपदेश एवं उनके आदर्श ने तथा सामाजिक एवं धार्मिक ग्रंथों में ब्रह्मचर्य पालन का जो विधान बना था वह बहुत बड़ा अस्त्र था जिसके चलते समाज सुसंस्कृत एवं सभ्य बना था। प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति से जुड़े हुए जितनी भी पुस्तकें हैं खासकर वैदिक साहित्य के सामाजिक पहलुओं में आश्रम-व्यवस्था का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। वर्ण, आश्रम एवं ऋण इन तीनों में चार-चार महत्वपूर्ण तत्व समाहित हैं जो सामाजिक व्यवस्था के आधार कहे जा सकते हैं।

- (क) वर्ण:- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र।  
(ख) आश्रम:- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास।  
(ग) ऋण:- मनुष्य का ऋण, देव ऋण, ऋषि ऋण एवं पितृ ऋण।

भीष्म पितामह सर्वगुण संपन्न होते हुए भी पितृ ऋण से मुक्त नहीं हुए ऐसा उल्लेख महाभारत में है। जीवन की सार्थकता इसी में है कि मनुष्य मर्यादाओं में उक्त निर्देशों का पालन करते हुए सामाजिक उत्तरदायित्वों का पालन करें। आश्रम-व्यवस्था में सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं प्रथम स्थान ब्रह्मचर्य का है जो जीवन का उषा काल कहा जा सकता है।

मनुष्य जीवन की संपूर्ण आयु को सौ वर्ष निर्धारित करते हुए प्राचीन मनीषियों ने 25-25 वर्ष को चार खण्डों में

विभाजित किया है। अर्थात् जन्म से 25 वर्ष तक ब्रह्मचर्य, 25 से 50 वर्ष गृहस्थ, 50 से 75 वर्ष वानप्रस्थ एवं 75 से 100 वर्ष की आयु को संन्यास आश्रम। दुनिया के किसी भी इतिहास में मनुष्य जीवन के संपूर्ण आयु को इतने वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण नहीं किया गया है। इन सौ वर्षों की अवस्था प्राप्त करने के लिए उचित जीवन पद्धति, खान-पान, आचार-व्यवहार एवं ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है।

(1) ब्रह्मचर्य आश्रम में मनुष्य कठोर नियमों का पालन करते हुए विद्या एवं ज्ञान की प्राप्ति हेतु गुरु की शरण में 25 वर्ष की आयु तक रहता था।

(2) इस आश्रम में मनुष्य अविवाहित रहकर ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करते हुए 25 वर्ष की उम्र तक विद्या एवं ज्ञानार्जन में संलग्न रहता था।

यह समय शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से बलिष्ठ होने के सारे गुण को जीवनरूपी भव्य निर्माण में नींव के ईंट की तरह काम आता था। इस आश्रम में मनुष्य के जीवन का 100 वर्ष की जो उम्र सीमा निर्धारित की गई है उसमें मूलतः शारीरिक आँख, कान, नाक, दाँत, बाल मानसिक एवं आध्यात्मिक रूप से स्वस्थ रहे यह तभी संभव जब ब्रह्मचर्य के निर्देशों का पूरी तरह से पालन हो। धर्म कहता है- 84 लाख योनियों में भटकने के बाद आत्मा मानव शरीर को प्राप्त करता है, अतः आश्रम-व्यवस्था के अनुपालन कर ही हम लोक मंगल कार्यों को कर जीवन को सफल कर सकते हैं।

प्रायः लोग ब्रह्मचर्य का अर्थ यौनक्रिया अर्थात् काम वासना से लगाते हैं, परंतु यही सब कुछ नहीं है वरन् यह इसका पहलू है। ब्रह्मचर्य का बड़ा ही व्यापक अर्थ है- ब्रह्म कहते हैं ब्रह्मा को, महानता को और चर्य का अर्थ है- विचरण या विचरणा अर्थात् महानता में विचरणा, महान् होना, महानता का आचाण करना यही ब्रह्मचर्य का शाब्दिक अर्थ है। सद्ग्रंथों का अध्ययन कर अपनी मेधा बुद्धि को विकसित करके उचित-अनुचित नीति का निर्णय करके अपने विवेक को जागृत करना और यह तभी संभव है जब वीर्य रक्षा कर उत्तम स्वास्थ्य सुनिश्चित किया जाय जो इसका पालन करता है उसमें दैवी तेज स्वतः देखा जा सकता है, नेत्र ज्योति तीक्ष्ण हो जाती है, कपोल गुलाबी हो जाते हैं, चेहरा ओजस व तेजस आभा से देदीप्यमान हो जाता है, शरीर हिष्ट-पुष्ट, तन मन में दृढ़ता, साहस, धैर्य और आत्मा प्रसन्नचित्त रहती है। लौकिक और परालौकिक दृष्टि से स्वास्थ्य आवश्यक है नहीं तो यह धन-धान्य, ऐश्वर्य, विद्या, बुद्धि किस काम की? स्वस्थ रहने के लिए भी ब्रह्मचर्य आवश्यक है।

इतिहास विभाग, राम सुन्दर दास महिला महाविद्यालय, सोनपुर, सारणा।

(3) ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाहनत्। इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत।।

जिस प्रकार सूर्य अपने प्रकाश से अंधकार दूर करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य को चाहिए कि वह ब्रह्मचर्य के द्वारा रोग, आलस्य, निर्धनता आदि को हटाकर मोक्ष सुख प्राप्त करें। “तमसो मा ज्योतिर्गमय” अर्थात् संसार में चारों ओर फैले अज्ञान के अंधकार को दूर करके दिव्य प्रकाश फैलाना ही मानव जीवन की सार्थकता है। संयत, सादगी, श्रमशीलता, अपरिग्रह, परमार्थ, सेवा, त्याग, सहिष्णुता, दया, सहानुभूति, मैत्री, करुणा, नम्रता, धर्म, ईश्वरपरायणसता, शारीरिक शक्ति, मानसिक तेज और आत्मिक बल की अभिवृद्धि बिना ब्रह्मचर्य के संभव नहीं है। भोग-विलास के दलदल में फँसा हुआ व्यक्ति अपने उम्र के 25वें बसंत में ही बूढ़ा नजर आने लगता है वही संयमी पुरुष -“1857 के स्वतंत्रता संग्राम के अमर सेनानी वीर कुंवर सिंह के रंगों में युवाओं जैसी शक्ति थी।” ब्रह्मचर्य आश्रम कोई लाल लंगोट धारण करने के लिए भी नहीं कहता है। यह आत्म-नियंत्रण और इन्द्रिय संयम का सर्वोत्तम साधन है। राम और कृष्ण, सीता, शंकर-पार्वती के साथ-साथ रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द हमारे उच्चतम आदर्श के प्रतीक हैं। राम ने राज्याभिषेक और वनवास दोनों का आलिङ्गन किया, न राज्य प्राप्ति का उल्लास और न वन गमन का दुःख। सीता ने भी उसी मर्यादा का अनुकरण किया। कृष्ण को न समझने वाले लोग उन्हे रसीया भी कहते हैं, किन्तु कृष्ण का संपूर्ण जीवन ब्रह्मचर्य का एक प्रयोग मात्र था। चाहे ग्वाल-बाल के साथ हो या गोपियों के संग रास लीला, राजनीति के दांव-पेच हो अथवा युद्ध का मैदान हर जगह उनका संयम देखते बनता है। मन, वाणी और कर्म का ऐसा सुन्दर नियंत्रण क्या ब्रह्मचर्य के बिना संभव है? अत्यधिक भोग से रोग पैदा होता है और मनुष्य अपने लक्ष्य से भटक जाता है, इसके बिना शान्ति, एकाग्रता और कर्तव्यनिष्ठा में बाधा

पहुँचती है। वह व्यक्ति अपना तथा राष्ट्र का कभी भला नहीं कर सकता जो रोगी हो, भोगी हो और दोगी हो। ब्रह्मचर्य वही है जहाँ पुरुषार्थ है, एवं पुरुषार्थी व्यक्ति ही अपना, समाज एवं राष्ट्र का कल्याण कर सकता है। अतः आश्रम-व्यवस्था में ब्रह्मचर्य शेष जीवन के मार्ग के उज्ज्वलांश को प्रशस्त करता है। “कन्याप्येवं पालनीया शिक्षणीयातियत्तः” अर्थात् 25 वर्षों तक ब्रह्मचर्य पालन पुत्रों की तरह पुत्रियों की भी होनी चाहिए। आधुनिक शैक्षणिक जगत में भी 25 वर्ष की अवस्था विद्या अध्ययन के लिए सर्वथा उपर्युक्त है एवं देश की कानून-व्यवस्था भी इसके बाद ही वैवाहिक संबंधों की अनुमति प्रदान करता है, आरोग्य शास्त्र के अंतर्गत ब्रह्मचर्य के लिए कुछ महत्वपूर्ण निर्देश हैं- सरल जीवन, सादा भोजन, शीतल जल से स्नान, विलासिता का अभाव और समस्त शारीरिक या मानसिक प्रबल उत्तेजनाओं से बचाव, सतसंग, मन को किसी अच्छे काम या विचार में काफी समय तक लगाये रखना, खुली हवा में यथेष्ट व्यायाम करना आदि। जिससे आगे का गृहस्थ जीवन सुचारू ढंग से से संचालित किया जा सके। आधुनिक युग में भी इस अवस्था में जो छात्र विद्या अध्ययन में आत्म संयम, सदगुणों एवं ब्रह्मचर्य का अंश मात्र भी आत्मसात करते हैं उनका जीवन सफल एवं सुखद व्यतीत होता है। मनुष्य को केवल अपनी उन्नति के लिए ही ब्रह्मचर्य पालन की आवश्यकता नहीं है अपितु समाज को भी इसकी आवश्यकता है। इसके अभाव में ही आज चारों तरफ घोटाला, स्वार्थपरता, असमर्थता, अश्लीलता, व्यक्ति से राष्ट्र तक एक अजीब विश्रृंखलता की स्थिति कायम है। आधुनिक युग में भी परिवार, समाज एवं राष्ट्र हित के लिए इसकी प्रासंगिकता आवश्यक लगती है। ब्रह्मचर्य जीवन का गौरव काल है। अतः 25 वर्ष की आयु किसी व्यक्ति के विद्या अध्ययन एवं उनके व्यक्तित्व के संपूर्ण विकास में आज भी मील का पत्थर साबित होता है तथा ब्रह्मचर्य की महिमा एवं

अपरिहार्यता को भूत में ही नहीं वर्तमान और भविष्य में भी इसकी महत्ता को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है।

उपर मैंने ब्रह्मचर्य से संबंधित जिन नीतियों और सिद्धांतों का उल्लेख किया आधुनिक युग में बहुत सारे विषय इसे नकारते हैं। मनोविज्ञान के महत्वपूर्ण विचारक फ्रायड इसका विरोध करते हैं, उसी तरह मेडिकल सायंस भी। लेकिन भारतीय वाङ्मय में आज जो उच्छ्रंखलता और अराजकता है उसका कारण ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करना है। आज समाज में आये दिन जितनी बड़ी संख्या में बलात्कार हो रहा है उसके कारण के जड़ में जाने से पता चलता है कि खुला सेक्स करने का वातावरण पश्चिमी देशों में देखने को मिलता है उसका प्रभाव हमारे देश पर भी पड़ रहा है। यातायात के विकास, मोबाईल, टेलीविजन एवं कम्प्यूटर नेटवर्किंग के कारण दुनिया ग्लोबल हो गई है। हम आज साइबर क्राईम का समाचार रोज देख रहे हैं। पश्चिमी देशों में 12-14 वर्ष के बच्चों धड़ल्लें से सेक्स कर रहे हैं इसके परिणामस्वरूप कम उम्र की बच्चियाँ गर्भ धारण कर रही हैं। इस कच्ची उम्र में पैदा होनेवाले बच्चों कमजोर और अपाहिज होते हैं। ब्रह्मचर्य के पालन नहीं करने का परिणाम है कि आज होमो और लेसबियनों की संख्या तेजी से बढ़ रही है। आज सरकारों से माँग हो रही है कि सरकार कानून बनाकर उन्हें शादी को मान्यता दे और कई देशों ने तो ऐसी शादियों को कानूनी मान्यता दे भी रखी है। इस पर रोक लगाने का एक ही रास्ता है संयमपूर्ण जीवन अर्थात् ब्रह्मचर्य का पालन।

## संदर्भ

- (1) प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास  
डॉ. ए. के. मितल (पृ.-79)
- (2) विश्व की प्राचीन सभ्यताओं का इतिहास, शुशील माधव पाठक (पृ.- 554)
- (3) विवेकानन्द साहित्य, खण्ड - द्वितीय (पृ.-316)
- (4) अथर्ववेद (11/5/19)

## बौद्ध धर्म : एक विश्लेषण

लक्ष्मी कुमारी

भारतीय इतिहास पर ईसा पूर्व छठी शताब्दी की अमीट छाप पड़ती है, क्योंकि यह युग दार्शनिक चिंतन में गहनशीलता का साक्षी रहा है। छठी शताब्दी ई. पू. के उत्तरार्द्ध में मध्य गंगा के मैदानों में अनेक धार्मिक संप्रदायों का उदय हुआ। माना जाता है कि इस युग में करीब 62 धार्मिक संप्रदायों का उदय हुआ था। इनमें से कई संप्रदाय पूर्वोत्तर भारत में रहने वाले विभिन्न समुदायों में प्रचलित धार्मिक कुप्रथाओं और जटिल अनुष्ठान विधियों के फलस्वरूप अस्तित्व में आये। विभिन्न धर्म सुधार आंदोलनों के परिणामस्वरूप जिन नवीन धर्मों का उदय और विकास हुआ, उसमें सबसे प्रमुख बौद्ध धर्म है। इस युग में धार्मिक आंदोलन का प्रबलतम रूप हम बौद्ध धर्म की शिक्षाओं और सिद्धांतों में पाते हैं। जैन धर्म की तरह ही बौद्ध धर्म ने भी वैदिक या ब्राह्मण धर्म को चुनौती दी। महावीर की तरह बुद्ध ने भी अपने जीवन काल में ही अपने अनुयायियों की बड़ी संख्या बना ली। बौद्ध धर्म की शिक्षायें और सिद्धांत पालि भाषा में लिखित ग्रंथ 'त्रिपिटक' में संकलित हैं। यह पालि साहित्य वैदिक ग्रंथों के बाद सबसे प्राचीन रचनाओं की कोटि में आते हैं। बौद्ध धर्म के समुचित ज्ञान के लिए इस धर्म के त्रिरत्न- बुद्ध, धर्म और संघ तीनों का अध्ययन आवश्यक है। महात्मा बुद्ध के मृत्यु के पश्चात् भी बौद्ध धर्म फलता-फूलता रहा। इसने जैन धर्म से भी अधिक प्रभावशाली ढंग से लंबे समय तक भारतीय इतिहास को प्रभावित किया। इस बात का प्रमाण आज भी देखने को मिलता है। बौद्ध धर्म आज भी सिर्फ हिन्दुस्तान में ही नहीं बल्कि विदेशों अर्थात् चीन, जापान, श्रीलंका आदि देशों में भी फैला हुआ है।

### बौद्ध धर्म का उत्थान

छठी शदी ई. पू. में बौद्ध धर्म और जैन धर्म का उत्थान एक प्रमुख घटना थी। विद्वानों ने बौद्ध धर्म के उत्थान के कारणों पर विस्तारपूर्वक विचार किया है एवं बौद्ध धर्म के उत्थान के संदर्भ में विविध पक्षों एवं मतों को प्रतिपादित किया है। बौद्ध धर्म के उत्थान के संदर्भ में महत्वपूर्ण है कि इसने वर्ण व्यवस्था एवं कर्मकांडों पर आधारित ब्राह्मण धर्म का खंडन किया एवं अधिकाधिक संतुलित और स्वीकार

करने योग्य समाधान प्रस्तुत किया, जो लोहे के उपयोग के फलस्वरूप समाज में आये सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तनों के परिप्रेक्ष्य में महत्वपूर्ण हो गया था।

कुछ विद्वानों का मत है कि समाज के मूल तत्व में आये परिवर्तन के कारण जैन धर्म और बौद्ध धर्म का उत्थान हुआ। इनके अनुसार ये आंदोलन उत्तर वैदिक समाज एवं यक्षों के शुद्धिकरण की ओर प्रेरित था, जो कठोर एवं शोषक प्रकृति का हो गया था। वही एक अन्य मत यह था कि बौद्ध आंदोलन राजकीय नियंत्रण, वर्ण आधारित समाज एवं उस सामाजिक संरचना के विरुद्ध थी, जिसकी प्रकृति शोषण की थी। जिसके परिणामस्वरूप तात्कालिक व्यवस्था से असंतुष्ट विशाल जन समूह का समर्थन बौद्ध धर्म को प्राप्त होने लगा।

द्वितीय अवस्था में हम देखते हैं कि लोहे के प्रयोग से अर्थव्यवस्था में दूरगामी परिवर्तन आया। लौह आधारित कृषि के कारण बड़ी संख्या में बैलों एवं अन्य पशुओं की आवश्यकता हुई, पर उस युग में यज्ञों में दी जाने वाली बलि के कारण बड़ी संख्या में पशुओं की हत्या हो रही थी। यदि उस समय इस कृषि व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करना था तो इन हत्याओं को रोकना अनिवार्य था। ऐसी स्थिति में बुद्ध द्वारा अहिंसा एवं पशु सुरक्षा पर अधिकाधिक बल दिया गया, फलतः लोग बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट हुए।

कृषि क्षेत्र में आये आमूल परिवर्तनों के फलस्वरूप व्यापार वाणिज्य का भी विकास हुआ। जिसके परिणामस्वरूप नये शहरी केन्द्रों का उदय हुआ। पंचमार्क सिक्कों के प्रचलन से इस प्रक्रिया में सुविधा होना स्वाभाविक था। इन सबके कारण वैश्यों की हैसियत बढ़ गई। वर्णाश्रय व्यवस्था आधारित समाज में वैश्यों की स्थिति तीसरे दर्जे की थी। अतः वैश्यों ने किसी ऐसे धर्म का सहारा लेना उचित समझा जो उनकी स्थिति को सुधारने में मदद दे। बौद्ध धर्म ने इस क्षेत्र में अग्रणी भूमिका निभाई। बौद्ध धर्म ने तात्कालिक समय में सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में हुए परिवर्तन को स्थिर रखने में सहयोग दिया।

### सामाजिक स्थिति

“राधा कृष्णन” जैसे विद्वानों के अनुसार बौद्ध धर्म के प्रसार का एक महत्वपूर्ण कारण बुद्ध का वास्तविक अर्थ में समकालिन समाज का प्रतिनिधित्व करना था। इस समय आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन के परिणामस्वरूप व्यावसायिक समूहों के सामाजिक स्तर में भी व्यापक परिवर्तन हुआ। जिस

समय वैदिक समाज ने उत्पादन में लौह तकनीक के प्रयोग और प्रसार की महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, उसी समाज की अनेक प्राचीन मान्यताएँ आर्थिक प्रगति के लिए अनुकूल नहीं थी, जैसे-समुद्री व्यापार वैदिक परंपरा के अनुसार निरिदित बताया गया है, पर बौद्ध साहित्य समुद्री व्यापार के प्रति अनुकूल दृष्टिकोण रखता है। यह स्वभाविक ही था, वैश्य वर्ग बौद्ध धर्म को प्रोत्साहन देगा।

भारत में जन्मे किसी भी अन्य ऐतिहासिक व्यक्ति ने विश्व का बलात् इतना अधिक ध्यान आकृष्ट नहीं किया जितना बुद्ध ने किया है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है, बुद्ध ने अपने समय के तेजी से बदलते समाज का विश्लेषण करने तथा मनुष्य जाति के लिए एक स्थायी समाज दर्शन प्रदान करने का अत्यंत गहन और व्यापक प्रयास किया था। बौद्ध धर्म ने एक वैकल्पिक समाज का खाका तैयार किया था। ई. पू. छठी शताब्दी के समाज में बुद्ध के समाज दर्शन की जड़ें साफ-साफ पायी जाती हैं। भारत में प्रारंभिक राज्य संगठन का उद्भव मुख्यतः तीन चरणों में आगे बढ़ा। प्रथम चरण में गंगा के मैदानी क्षेत्र में आर्यों के आगमन के समय की अर्धयायावर जनजातियों के एक निश्चित क्षेत्र की कई जनजातियों में संक्रमण था। द्वितीय चरण में 76 प्रमुख महाजनपदों के बीच ई. पू. की परवर्ती 7वीं शताब्दी और प्रारंभिक छठी शताब्दी में प्रतिद्वन्द्विता का था। तृतीय चरण ई. पू. छठी शताब्दी से चौथी शताब्दी तक की अवधि में तब पहुँचा जब इन महाजनपदों में से एक मगध ने दुसरे जनपदों पर अपना कब्जा जमा लिया था। प्रारंभिक भारत में राज्य संगठन का यह अंतिम और अत्यंत प्रगाढ़ चरण था और इस प्रक्रिया के प्रारंभ के साक्षी बुद्ध रहे थे।

इस तथ्य का साक्ष्य हम ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में निर्मित गया तथा साँची के स्तूपों में वर्णित दृश्यों में देख सकते हैं कि वैश्य वर्ग ने बौद्ध धर्म को

अपनाकर तथा दान आदि देकर विशेष प्रोत्साहन दिया। स्वयं बुद्ध के समय में ही अनाथ पिंडक तथा यश नामक श्रेष्ठियों द्वारा बौद्ध धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा प्रकट करने से भी यह तथ्य प्रमाणित होता है। अहिंसा मूलक बौद्ध धर्म की शिक्षायें सिद्धांत रूप में साम्राज्यवादी युद्धों के विपरीत पड़ती थी। इन युद्धों में व्यापारिक वर्ग की अधिक हानि होती थी। इस काल में समाज के धनाढ्य वर्ग को ऐसे नियम तथा सिद्धांतों की आवश्यकता थी जो व्यक्तिगत संपत्ति की सुरक्षा तथा संपत्ति के अधिकार को किसी न किसी रूप में मान्यता प्रदान करें। बौद्ध धर्म की संपत्ति संग्रह न करने की शिक्षा केवल भिक्षुओं के लिए ही सार्थक हो सकती है जबकि अस्त्येय (अर्थात् चोरी न करना) संपत्ति के अधिकार को अप्रत्यक्ष रूप से समर्थन देता है। बौद्ध संघ में ऋणी व्यक्ति का प्रवेश वर्जित करना भी इसमें सहायक सिद्ध होता है। बौद्ध ग्रंथों में व्यापार के लिए ऋण लेने की प्रथा की चर्चा है किन्तु इसकी निंदा नहीं की गई है। ब्राह्मण धर्म में भोजन संबंधी आचार-विचार तथा गणिकाओं के प्रति दृष्टिकोण नागरिक जीवन के क्रिया-कलापों के अनुकूल नहीं था, किन्तु बौद्ध धर्म की मान्यताएँ शहरीकरण की प्रक्रिया में सहायक थी।

इस तरह हम देखते हैं कि आर्यों के जीवन में विभिन्न भौतिक परिवर्तनों ने अनेक समस्याओं को जन्म दिया। आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तनों के परिणामस्वरूप व्यावसायिक समूहों के सामाजिक स्तर में भी व्यापक परिवर्तन हुआ। वैश्यों और शूद्रों ने विभिन्न धातु, शिल्प व्यापार और वाणिज्य को अपना प्रमुख व्यवसाय बना लिया। एक तरह से समाज का चौथा वर्ग अर्थात् शूद्रों का स्थान रिक्त हो गया। अनाथों ने भूमि जोतने का कार्य आरंभ कर दिया और वे शूद्र बनकर सामाजिक व्यवस्था में मूल शूद्रों द्वारा रिक्त स्थानों की पूर्ति करने लगे। वैश्य और शूद्रों जो नयी आर्थिक व्यवस्था

में नये व्यवसाय अपनाकर सामाजिक व्यवस्था में कुछ ऊँचे उठ गये थे, उनको उचित एवं संतोषप्रद सामाजिक एवं धार्मिक आधार नहीं मिला। शहर में रहने वाले व्यापारियों तथा अमीर खेतिहर समुदायों के पास प्रचूर संपत्ति थी। ये समुदाय स्वयं को अन्य वर्गों के बराबर मानने लगे थे। जिससे सामाजिक व्यवस्था का ढाँचा हिलने लगा था। पहले का समाज पुरोहित प्रधान था और सत्ता भी पुरोहितों में केंद्रित थी। वैश्य वर्ग जो कि आर्थिक रूप से काफी समृद्ध था, उन्हें सामाजिक वास्तविकताओं के अनुरूप अपेक्षित स्थान नहीं दिया गया था। क्षत्रिय वर्ग की सामाजिक स्थिति ब्राह्मण वर्ग के बाद थी। ये सामाजिक समुदाय उस सामाजिक व्यवस्था का विरोध कर रहे थे जो ब्राह्मणों ने वंश के आधार पर निर्धारित की थी। बौद्ध मत ने जन्म के आधार पर सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा को कोई महत्त्व नहीं दिया। इसने सामाजिक व्यवस्था में कठोर स्तरीकरण को अस्वीकार कर दिया। इस कारण ब्राह्मण वर्ग से इतर वर्गों के लोगों ने बौद्ध धर्म को प्रश्रय दिया।

इस तरह हम देखते हैं कि किस तरह से बौद्ध धर्म ने समाज में फैली कुरुतियों को दूर किया है और लोगों की सामाजिक स्थिति को मजबूत किया है। इतना ही नहीं आर्थिक क्रांति की परिपक्वता से उपेक्षित एवं बहिष्कृत वर्गों की एक नयी समस्या सामने आयी, वे तत्कालीन शहरी आर्थिक क्रियाओं से तो जुड़े थे, परन्तु समाज में अपनी पहचान बनाने में असमर्थ थे, इन्हें भी बौद्ध धर्म ने आश्रय प्रदान किया। बौद्ध धर्म ने लोगों की व्यवहारिक समस्याओं में भी गहन रूचि ली और लोगों को घृणा, निर्दयता, हिंसात्मक प्रवृत्तियों एवं धन संचय आदि से दूर रहने का आदेश दिया। इससे सामाजिक असमानताओं में कमी आई। पहले से चली आ रही वैदिक धर्म की पद्धतियाँ अब जटिल तथा अर्थविहीन हो गई थी। बलि-यज्ञों

तथा अनुष्ठानों का महत्त्व अत्याधिक बढ़ गया था। इससे इसमें आम लोगों की भागीदारी कम हो गयी थी और रूचि भी समाप्त होने लगी थी। देखते हैं कि तत्कालीन कृषि व्यवस्था का आधार पशु थे, जबकि वैदिक धर्म के अन्तर्गत बलि प्रथा के चलते पशु धन की हानि हो रही थी। बौद्ध धर्म ने अहिंसा और पशु जीवन के महत्त्व और पवित्रता पर बल देते हुए देश में पशु संपत्ति की भावना को प्रोत्साहित किया। इससे समाज के कृषक वर्ग ने भी बौद्ध धर्म का समर्थन किया। इन सब तथ्यों के कारण बौद्ध मत के प्रसार में काफी सहायता मिली और समाज के विभिन्न वर्गों के लोगो ने बौद्ध मत को अपनाया।

### बौद्ध धर्म और सफलता

बुद्ध के जीवन काल में ही बड़ी संख्या में लोग उनके अनुयायी बन गए थे। इनके महापरिनिर्वाण के पश्चात् भी यह धर्म आगे भी फलता-फूलता रहा। बौद्ध धर्म को विदेशों में फैलाने में कई साम्राटों ने अग्रणी भूमिका निभाई जैसे अशोक और कनिष्क आदि। 12वीं शताब्दी तक यह धर्म भारत के बाहर चीन, मध्य एशिया, सुदूर दक्षिण पूर्व, तिब्बत आदि जगहों तक पहुँच चुका था।

इस समय तक धर्म का महत्त्व गौण हो चुका था एवं आडंबरों की प्रधानता बढ़ गई थी। वेदों और पुरोहितों की सत्ता को प्रभावशाली ढंग से चुनौती देने वाला कोई नहीं था, यज्ञ और बलि की प्रधानता बढ़ रही थी। सामाजिक जीवन भी असमानताओं और तनाव से परिपूर्ण था। ऐसी स्थिति में जब बुद्ध ने अपने उपदेश दिया, उससे जनता में एक नई आशा और उमंग पैदा हुई और नए धर्म को बिना पुरोहितों या यज्ञ-बलियों के अपनाया जा सकता था। नए धर्म में निर्वाण की प्राप्ति के लिए छुआछूत, ऊँच-नीच तथा स्त्री-पुरुष का विभेद नहीं रखा गया। अतः समाज के सभी वर्गों का ब्राह्मण धर्म से मोह भंग हो

गया और उन्होंने बुद्ध के उपदेशों को अपनाया। जिससे इस नए धर्म की लोकप्रियता बढ़ी।

बौद्ध धर्म को सफलता के शिखर पर पहुँचाने को बुद्ध के प्रभावशाली व्यक्तित्व का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। बुद्ध एक राजपरिवार में उत्पन्न होने के बावजूद, सांसारिक सुखों को त्याग कर संन्यासी का कठिन जीवन अपनाकर जनता के समक्ष एक उज्ज्वल आदर्श रखा। इनके इस त्याग से जनता काफी प्रभावित हुई और उन्होंने समझ लिया कि बुद्ध पूर्णतः निःस्वार्थ भाव से जनकल्याण में लगे हुए हैं। अतः जनता ने उन्हें अपना समर्थन दिया। बुद्ध स्वयं लोगों से मिलते थे और उनके दुःख दर्द का हमेशा समाधान करते थे। इस तरह से जनता के सहयोग और बुद्ध के माध्यमिक मार्ग ने बौद्ध धर्म को आगे भी फलने-फूलने का अवसर दिया। महावीर निर्वाण का मार्ग कठोर तप एवं साधना को मानते थे, परन्तु बुद्ध मध्यममार्ग द्वारा ही निर्वाण प्राप्ति की बात करते थे। जैन दर्शन के अनुसार गृहस्थों के लिए निर्वाण प्राप्त करना असंभव था, जबकि बुद्ध के अनुसार आष्टांगिक मार्ग पर चलते हुए गृहस्थों या उपासक भी निर्वाण प्राप्त कर सकते थे। बौद्धों की तरह जैनियों का संघ सुगठित नहीं था। इसे विशेष महत्त्व भी नहीं प्राप्त था। जैनधर्म ने ब्राह्मण धर्म से स्वयं को अलग और सुस्पष्ट करने का प्रयास भी नहीं किया, जबकि बौद्ध धर्म ने ऐसा किया था। इसी कारण से बौद्ध धर्म का अधिक प्रचार हुआ। दोनों धर्मों के उद्देश्यों में समानता होते हुए भी उनके आदर्शों और कार्य-कलापों में महत्त्वपूर्ण अन्तर था। जैन धर्म का स्वरूप जहाँ “सुधारवादी” था, वहीं बुद्ध के उपदेश “क्रांतिकारी” थे। फलतः जनता का समर्थन बौद्ध धर्म को अधिक प्राप्त हुआ। दोनों धर्मों की तुलना “मोनियर विलियम्स” ने समान पिता के जैसे पुत्रों की है, जिनका जन्म एक ही समय कुछ अंतराल के बाद हुआ था, परन्तु

दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ थीं।

इस कारण से जैन धर्म की अपेक्षा बौद्ध धर्म आगे की कालों में भी फलता-फूलता रहा और इसे हमेशा जनता का समर्थन प्राप्त होता रहा।

### बौद्ध धर्म और पतन

जिस तरह से बौद्ध धर्म का उत्थान हुआ पाँचवी, छठी शताब्दी के बाद बौद्ध धर्म भारत के कुछ ही क्षेत्रों में सिमट कर रह गया। महात्मा बुद्ध की मृत्यु के एक शताब्दी के अन्दर ही बौद्ध धर्म के सिद्धांत में विवाद और मतभेद आरंभ हो गये थे जिसके फलस्वरूप बौद्ध मतावलंबियों की चार सभायें हुईं और चौथी महासभा में बौद्ध धर्म हीनयान और महायान संप्रदायों में विभक्त हो गया। विभाजन की प्रक्रियाओं को गति प्रदान करने के सक्रिय प्रयासों ने बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा को काफी नुकसान पहुँचाया। जन्म और मरण चक्र को मूलभूत सिद्धांत स्वीकार करना बहुत हानिकारक रहा। वैदिक धर्मों के अन्तर्गत जन्म मरण और धर्म का सिद्धांत पहले से ही अस्तित्व में था। मूर्ति पूजा की भी प्रथा थी। बौद्ध धर्म ने वैदिक धर्म की अनेक विशेषताओं को ग्रहण कर लिया। जिससे धीरे-धीरे बौद्ध धर्म और उत्तर वैदिक काल में आर्यों के बीच का अन्तर लगभग मिट ही गया और दोनों हिन्दु धर्म के दो संप्रदाय मात्र रह गये जिनमें परस्पर कोई अन्तर शेष नहीं रहा। शंकराचार्य आदि विद्वानों ने शास्त्राचार्य में बौद्ध धर्म के महान दिग्गजों को परास्त कर बौद्ध धर्म की कमजोरियों को उजागर कर दिया। इससे जनमानस में बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा को चोट पहुँची।

बौद्ध धर्म के विकास के साथ नये संप्रदायों का भी निरंतर आविर्भाव होता रहा। इनमें धर्म प्रचार और प्रसार की अपेक्षा परस्पर ईर्ष्या, द्वेष और प्रतिद्वंद्विता की भावना अधिक थी। कालांतर में बौद्ध धर्म में तंत्र और वाम मार्गी शाखा का भी विकास हुआ। हिन्दु धर्म में भी ये शाखाएँ विद्यमान थीं। बौद्धों ने कालांतर

में पाली भाषा त्यागकर हिन्दु धर्म की संस्कृत भाषा को ग्रहण कर लिया। इन समस्त तत्वों ने बौद्ध धर्म और हिन्दु धर्म के विलग अस्तित्व को लगभग समाप्त कर दिया। इससे बौद्ध धर्म की ओर पलायन की प्रवृत्ति में धीरे-धीरे कमी होने लगी। कालांतर में महात्मा बुद्ध को भी हिन्दुओं में भगवान विष्णु के अवतार की मान्यता मिल गयी। इस तरह मूल रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दु धर्म में क्रांतिकारी परिवर्तन एवं संशोधन तथा बौद्ध धर्म का अपने मूल सिद्धांतों से पलायन और विकृति ही भारत में बौद्ध धर्म के पतन के लिए उत्तरदायी है।

आरंभिक अवस्था में बौद्ध धर्म की अपार सफलता का एक कारण यह था कि उसने जन साधारण की भाषा पालि के माध्यम से प्रचार कार्य किया। बौद्धों के ग्रंथ भी पालि भाषा में ही लिखे गए थे। अतः जन साधारण के लिए बौद्ध धर्म सरल और ग्राह्य बना रहा, परन्तु कालांतर में महायान-संप्रदाय के उदय के पश्चात् बौद्धों ने भी दुरुह और कठिन संस्कृत भाषा का सहारा लिया। बौद्ध ग्रंथों की रचना भी संस्कृत में होने लगी। वज्रयान संप्रदाय के उदय के साथ बौद्धों का संस्कृत से संबंध और भी गहरा हो गया। जन साधारण धर्म की गूढ़ बातों को समझने में असफल रहा और उसने इस धर्म से अपना संबंध विच्छेद कर लिया।

बौद्ध धर्म को नव ब्राह्मणवाद के बढ़ते प्रभाव का सामना करना पड़ा, जिसके समक्ष बौद्ध धर्म टिक नहीं पाया। प्रारंभ में बौद्ध धर्म को ब्राह्मण धर्म से इसलिए खतरा पैदा नहीं हुआ कि यह पतनोन्मुख अवस्था में था और जनता की सहानुभूति इसे प्राप्त नहीं था परन्तु कालांतर में इस धर्म के घटते प्रभाव से चिंतित होकर ब्राह्मण धर्म को भी नई दिशा देने की कोशिश की गई। छठी शताब्दी ई. पू. में ही भागवत और शैव संप्रदायों का उदय हुआ, परन्तु नए धर्मों की प्रभावशाली लहर के सामने ये विशेष

प्रगति नहीं कर सके। शुंग शासकों ने पुनः ब्राह्मणवाद को प्रतिष्ठित करने का प्रयास आरंभ किया, इनके इस कार्य को सातवाहनों, गुप्तों और अन्य शासकों ने आगे बढ़ाया। उत्तर और दक्षिण भारत में समान रूप से विष्णु और शिव की पूजा प्रचलित होने लगी। इनके लिए मंदिर और मूर्तियाँ बनीं। इतना ही नहीं ब्राह्मण धर्म ने भी बौद्धों की अनेक प्रथाओं-मूर्ति पूजा, रथ यात्रा इत्यादि को अपना लिया तथा बुद्ध को भी विष्णु का अवतार मान लिया। कुमारिलभट्ट और शंकराचार्य ने भी वैदिक धर्म को पुनः स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

हिन्दु धर्म के इन दार्शनिकों और विद्वानों के बढ़ते प्रभाव के समक्ष जर्जर बौद्ध धर्म टिक नहीं पाया। इतना ही नहीं विदेशी आक्रमणों ने भी बौद्ध धर्म के पतन में सहयोग दिया। इस समय बौद्धों को हूणों के आक्रमण का सामना करना पड़ा। हूण विजेता ने बौद्धों से चिढ़कर उनके विहारों को नष्ट कर दिया और भिक्षुओं की हत्याएँ भी करवाईं। हूणों के आक्रमण से बौद्धों को अत्यधिक क्षति हुई। बाद में तुर्क आक्रमणकारियों ने भी धन के लालच में और बौद्धों से कुपित होकर बौद्ध विहारों को अपना निशाना बनाया, जिसके फलस्वरूप बंगाल और बिहार के प्रमुख बौद्ध केन्द्र (नालंदा, विक्रमशीला आदि) अग्नि की भेंट चढ़ा दी गईं और असंख्य भिक्षु मौत के घाट उतार दिये गए तथा जो बच सके वे भागकर नेपाल और तिब्बत चले गए। इस तरह से भारत में तुर्की राज्य की स्थापना के साथ ही बौद्ध धर्म भारत से विलुप्त हो गया।

भले ही बौद्ध धर्म का पतन विभिन्न कारणों से हो गया है पर आज भी हम देखते हैं कि बौद्ध धर्म की शिक्षाएँ एवं सिद्धांत देश-विदेशों में जिन्दा हैं। आज भी विदेशों अर्थात् चीन जैसे देशों में बुद्ध की शिक्षाओं को काफी मान्यताएँ मिल रही हैं। हम इन्हें बौद्ध धर्म के

फैली स्मारकों के रूप में देख सकते हैं। जिन्हें आज भी काफी संरक्षण प्राप्त हो रहा है।

तिब्बतियों के धर्म गुरु दलाई लामा ने सन् 2010 में बुद्ध पुर्णिया के दिन बिहार राज्य के पटना रेलवे स्टेशन के पास 22 एकड़ जमीन पर 25 करोड़ रुपये की लागत से बने 200 फीट ऊँचे स्तूप वाले भव्य बुद्ध स्मृति पार्क को जनता को समर्पित किया। इसमें 6 देशों से लाए गए “बुद्ध अस्थि अवशेष” की मंजुषाएँ रखी गई हैं, जो दुनिया भर के बुद्ध पर्यटकों के लिए आकर्षण का केन्द्र बन सकती हैं। दलाई लामा ने इस पार्क में बने स्तूप को “पाटलिपुत्र करुणा” स्तूप नाम दिया, उन्होंने इस मौके पर कहा कि भगवान बुद्ध के बिहार से जुड़े पवित्र बंधन का एक और स्मृति स्थल आज पटना में विकसित हुआ है। तत्कालीन मुख्यमंत्री नितिश कुमार के “डीम प्रोजेक्ट” के रूप में चर्चित इस पार्क को और भी खुबसूरत बनाने में राज्य सरकार का नगर विकास निगम लगा हुआ है। नितिश कुमार खुद अपनी देख-रेख में इस पुरे आयोजन को संभव बनाने में जुटे हैं। उन्होंने दलाई लामा के हाथों पार्क का उद्घाटन सम्पन्न होने के बाद कहा “मेरा एक सपना साकार हुआ” और आगे भी इस पार्क को हर तरह से लोकोपयोगी बनाने का मेरा प्रयास जारी रहेगा।

## संदर्भ

1. घोष, अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया
2. घोष, उपरोक्त
3. उपाध्याय गो.प्र., प्रचीन भारत का इतिहास
4. पाण्डेय, वी.सी., प्रचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास
5. चट्टोपाध्याय एवं दत्त, भारतीय दर्शन
6. सत्यकेतु विद्यालंकर, मौर्य साम्राज्य का इतिहास
7. शास्त्री नीलकंठ, नंद मौर्ययुगीन भारत
8. चौधरी, हेमचंद्र राय, नंद मौर्ययुगीन भारत
9. त्रिपाठी, प्रचीन भारत का इतिहास
10. भंडारकर, डी.आर., अशोक।

# भारत में उच्च शिक्षा का विकास

## अभिषेक आर्ष

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी क्षमता के अनुसार विकसित होने का अधिकार और इसके लिए शिक्षा अत्यंत आवश्यक है। उसमें भी उच्च शिक्षा व्यक्ति का समाज से जुड़ाव का मुख्य साधन है इस रूप में राष्ट्र या समाज के सर्वांगीण विकास में इसका अहम योगदान है। परंतु हमारी उच्च शिक्षा व्यवस्था में क्रमिक विकास के बावजूद अनेक खामियां हैं यदि इन खामियों पर ध्यान दिया जाए तो निश्चय ही भारत में कुशल मानव-संसाधन का विकास होगा जो वैश्विक स्तर पर नेतृत्व करने में सक्षम होगा।

मूल रूप से शिक्षा के दो उद्देश्य होते हैं पहला वह व्यक्ति को शिष्ट, सभ्य एवं सामाजिक नागरिक बनने में मदद करता है और दूसरा वह आजीविका का साधन होता है। महत्वपूर्ण शिक्षाविदों ने इसकी व्याख्या में कई परिभाषाएं दी हैं पाश्चात्य दार्शनिक प्लेटो ने कहा था कि ज्ञान ही अच्छाई है, जिसकी शक्ति का स्रोत शिक्षा ही है। फ्रेडरिक हेयाक के अनुसार, शिक्षा भौतिकता भी प्रदान करती है तो भी उसका आधार सामाजिक एवं आध्यात्मिक होता है। प्रसिद्ध भारतीय चिंतक राधाकृष्णन के अनुसार शिक्षा मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास का संग-उनात्मक प्रयास है उनका मानना था कि हरेक व्यक्ति में दैवीय गुण होता है और शिक्षा के माध्यम से इसका विकास विवेकपूर्ण ढंग से होता है जिससे दैविक एवं मानवीय संगति आय की खोज, पूर्णता की प्राप्ति, सौंदर्य बोध तथा आदर्श एवं प्रेरणा का विकास बोध तथा आदर्श एवं प्रेरणा का विकास होता है।<sup>1</sup> गांधीजी ने भी शिक्षा के माध्यम से मनुष्य एवं बच्चों के शरीर एवं मन (आध्यात्मिक) के विकास की बात की है।<sup>2</sup> अतः उच्च शिक्षा के बारे में कहा जा सकता है कि अंधकार को कोसने से अच्छा है कि एक दीपक जला दिया जाए जिससे अज्ञानता रूपी अंधकार को दूर किया जा सके। भारत में शिक्षा के विकास का इतिहास वैदिक काल से प्रारंभ होकर वर्तमान तक निरंतर क्रमिक रूप से हुआ है। हालांकि निरंतरता एवं आधुनिकता का शिक्षा में समावेश ब्रिटिश काल की महत्वपूर्ण देन है। क्योंकि 18वीं

सदी तक भारत में शिक्षा की स्थिति दयनीय हो गई थी जिसका प्रमाण 21 फरवरी 1784 के वारेन हेस्टिंग्स के पत्र में दिखता है इसके अनुसार उत्तर एवं दक्षिण के सभी प्रमुख नगरों में विद्यालय धन, जन एवं भवन से क्षीण अवस्था में है। 1765-1813 के मध्य शिक्षा निजी प्रयासों से ही चलती रही 1813 के चार्टर एक्ट (धारा 43) में “साहित्य के पुनरुद्धार एवं उन्नति के लिए, विद्वानों को प्रोत्साहन के लिए और अंग्रेजी प्रदेश के वासियों में विज्ञान के आरंभ एवं उन्नति के लिए एक लाख रुपया दिया गया।

इसी के साथ शिक्षा के स्वरूप को लेकर आंग्ल-प्राच्य विवाद प्रारंभ हो गया जहां प्राच्य समर्थक पारंपरिक शिक्षा को बनाए रखने के समर्थक थे वहीं मैकाले जैसे लोग आंग्ल शिक्षा को व्यापक रूप से महत्व देते थे यहां तक कि मैकाले ने अपने स्मरण-पत्र (Minute) में लिखा कि यूरोप के एक अच्छे पुस्तकालय की एक आलमारी का एक कक्ष भारत एवं अरब के समस्त साहित्य से मूल्यवान है।<sup>3</sup> इसी दृष्टिकोण को गर्वनर जनरल बेटिक की सरकार ने 7 मार्च 1835 के प्रस्ताव द्वारा अपना लिया।<sup>4</sup> भविष्य में कंपनी की सरकार यूरोपीय साहित्य को अंग्रेजी माध्यम द्वारा उन्नत करने का प्रयत्न करे और सभी धनराशि इसी से निमित दी जानी चाहिए।<sup>4</sup> आगे चलकर उच्च शिक्षा के विकास की संस्तुति 1854 में शिक्षा पर ‘वुडस डिस्पैच’ में की गई जिसके अंतर्गत लंदन विश्वविद्यालय के आधार पर कलकत्ता मद्रास एवं बंबई में तीन विश्वविद्यालय स्थापित किए गए। साथ ही पंथनिरपेक्ष शिक्षा, प्रशिक्षित शिक्षक एवं अच्छी पुस्तकें सभी के लिए उपलब्ध कराने की व्यवस्था की गई, स्त्री शिक्षा के लिए स्वस्थ व नैतिक वातावरण उपलब्ध करवाना तथा तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षा की भी बात की गई।<sup>5</sup> 1882 में हंटर शिक्षा आयोग का गठन किया गया जिसका क्षेत्र मुख्यतः प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा तक सीमिति था परंतु इसने विश्वविद्यालयी शिक्षा को निजी प्रयास से विकसित करने का समर्थन किया। इन्हीं प्रयासों के फलस्वरूप सदी के अंत तक 191 कॉलेज विकसित हुए जिसमें प्रसिद्ध फर्ग्युसन कॉलेज एवं रिपन कॉलेज कलकत्ता भी शामिल है। हंटर आयोग के सुझावों के बीस वर्षों (1882-1902) के बीच अंग्रेजी प्रशासित छः भारतीय प्रांतों में उच्च शिक्षा पाने वालों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई जो निम्न आंकड़ों से स्पष्ट है।<sup>6</sup>

शोध छात्र, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

	1881-82	1901-02
1. उच्च शिक्षा पाने वाले विद्यार्थियों	5,403	191
2. व्यावसायिक व प्राविधिक कॉलेज	72	191
3. महाविद्यालय जिन्हें सरकारी अनुदान	11	53
4. उपयुक्त महाविद्यालय में पढ़ने वाले छात्रों की संख्या	716	5,803

(1-3 तक के आंकड़े जे.पी. गायक एवं नुरुल्ला के भारतीय शिक्षा का इतिहास एवं 4 के अर्पणा वस्तु-ग्रोथ ऑफ एजुकेशन एंड पॉलिटिकल डेवलपमेंट इन इंडिया से लिये गये हैं।

1882 में भारत की उच्च शिक्षा पर टिप्पणी करते हुए रिचर्ड टेंपुल ने लिखा—उच्च शिक्षा में भौतिक विज्ञानों एवं व्यावहारिक प्रशिक्षण की समान शाखाओं की तुलना में साहित्य एवं दर्शन पर आवश्यकता से अधिक ध्यान दिया गया है परिणामस्वरूप कानूनी, न्यायिक एवं प्रशासनिक व्यावसायों में बहुत भीड़ हो गई है। जबकि इंजीनियरिंग, रसायन विज्ञान, वनस्पति विज्ञान एवं कृषि से संबंधित व्यवसाय की अवहेलना होती है और इसमें प्रशिक्षण का अभाव है।<sup>7</sup>

इसके बाद 1902 में लार्ड कर्जन ने रैले की अध्यक्षता में एक आयोग का गठन किया जिसका उद्देश्य विश्वविद्यालय की स्थिति का अनुमान लगाना एवं उनके संविधान तथा कार्यक्षमता के विषय सुझाव देना था। जिससे अध्ययन एवं शोध के लिए प्राध्यापकों एवं व्याख्याताओं की व्यवस्था हो सके, उचित मात्रा में प्रयोगशाला एवं पुस्तकालय स्थापित की जा सके। विश्वविद्यालयों पर सरकार का नियंत्रण पढ़ा दिया गया तथा सरकार को सीनेट द्वारा पारित प्रस्ताव पर निषेधाधिकार दिया गया। इसके तुरंत बाद के वर्षों में संबद्ध महाविद्यालयों की संख्या घटी थी। निम्न आंकड़े इसका प्रमाण हैं—

वर्ष	1902	1907	1912	1922
संब महाविद्यालयों की संख्या	192	174	170	207

परंतु कर्जन की नीति का परिणाम यह हुआ कि 1902 से पांच लाख रुपया वार्षिक पांच वर्षों के लिए विश्वविद्यालयों के सुधार के लिए निश्चित किया गया और सरकारी अनुदान सरकारी नीति का अंग बन गई।

1917 में सरकार ने कलकत्ता विश्वविद्यालय की संभावनाओं के अध्ययन के लिए सैडलर आयोग की नियुक्ति की जिसके अनुसार उत्तर माध्यमिक शिक्षा चरण के पश्चात् स्नातक की उपाधि के लिए शिक्षा तीन वर्ष की होनी चाहिए और प्रावीण्य (Honours) एवं साधारण पाठ्यक्रम में अंतर होना चाहिए।

इसके अलावा पुराने संबंधी विश्वविद्यालय (Affiliating Universities) के स्थान पर केंद्रित, एकांकी, आवासिक अध्यापन (Unitary, Residential Teaching and Autonomous) संस्था बननी चाहिए विश्वविद्यालयों के अधीन डिप्लोमा डिग्री एवं व्यावसायिक कॉलेज खोलना चाहिए।

इस प्रकार, 1855-1921 के बीच भारत में उच्च शिक्षा की ऐसी व्यवस्था विकसित हुई जो कॉलेज व्यवस्था पर आधारित थी और ये कॉलेज एक विश्वविद्यालय से संबद्ध थे। औपनिवेशिक शासनकाल में विकसित होने वाले विश्वविद्यालय शिक्षा के संबंध में शिक्षाविद एरिक एश्वी का कहना है—विकास निस्संदेह शानदार था, किन्तु शुरू से ही विकृति और कमी का तत्त्व विद्यमान था, बहुत सीमा तक अपने वर्ग की सामाजिक परंपरा के कारण एवं उपलब्ध सुविधाओं के कारण भी अधिकांश विद्यार्थी साहित्य या कानून का प्रशिक्षण ही चुनते थे। आरंभ में डॉक्टरी की पढ़ाई अधिक लोकप्रिय नहीं थी, इंजीनियरिंग तो और भी कम लोकप्रिय थी। कला और विधि संकाय इन दोनों की तुलना में अधिक विकसित हो गए और विश्वविद्यालय के गठन में यह असंतुलन स्पष्ट लक्षित होता था।<sup>9</sup>

1921 के बाद हार्टोग समिति (1929), वर्धा योजना (1935) एवं सार्जेन्ट योजना (1944) में मूलतः प्राथमिक एवं माध्यमिक के लिए प्रयास किए गए यहां पर उच्च शिक्षा महत्वपूर्ण प्रयासों से वंचित रही। 1946-47 तक के उच्च शिक्षा के संदर्भ में घोष<sup>10</sup> के आंकड़े महत्वपूर्ण हैं—20 से कम विश्वविद्यालय थे जिनमें छात्रों की संख्या 16,000 थी। 297 कला एवं विज्ञान के कॉलेजों में 96,000 छात्र थे। विश्वविद्यालयों पर कुल खर्च 2.03 करोड़ था, 16 अभियांत्रिकी कॉलेज थे, व्यावसायिक शिक्षा में छात्रों की संख्या 71,897 थी तथा इन पर खर्च 2.75 करोड़ था। स्वतंत्र भारत में पहली बार उच्च शिक्षा में सुधार के लिए राधाकृष्णन आयोग (1948-49) का गठन किया गया जिनकी प्रमुख संस्तुतियों में विश्वविद्यालय पूर्व बारह वर्ष का अध्ययन परीक्षा दिनों के अतिरिक्त कम से कम 180 दिन की पढ़ाई (11-11 सप्ताह के तीन सत्रों में), उच्च शिक्षा के तीन लक्ष्य-सामान्य शिक्षा, संस्कारी शिक्षा एवं व्यावसायिक शिक्षण निर्धारित किए गए। साथ ही कृषि, वाणिज्य शिक्षा, अभियांत्रिकी तकनीकी, विधि तथा आयुर्विज्ञान पर अधिक बल देना चाहिए, शिक्षा को समवर्ती सूची में शामिल करना चाहिए एवं उच्च शिक्षा के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का गठन किया जाना चाहिए।<sup>11</sup>

इसी के परिणामस्वरूप विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का गठन 1953 में किया गया।

शिक्षा पर अभी तक बने आयोगों में कोठारी आयोग ने सबसे ज्यादा व्यापक एवं विस्तृत अनुशंसा की। उच्च शिक्षा के संदर्भ में कुछ महत्वपूर्ण अनुशंकाएं थी नैतिक शिक्षा एवं सामाजिक उत्तरदायित्व पर बल दिया गया, उन्नत अध्ययन केंद्रों को अधिक सुदृढ़ बनाया जाए तथा विश्वविद्यालयों में एक छोटी सी संस्था ऐसी बनाई जाए जो उच्चतम राष्ट्रीय मानकों को प्राप्त करने का उद्देश्य रखे, शिक्षा के पुनर्निर्माण में कृषि में अनुसंधान तथा इससे संबंधित प्रावधानों को उच्च प्राथमिकता दी जाए।<sup>12</sup> मुख्यतः कोठारी आयोग की सिफारिशों पर आधारित करके 1968 में सरकार ने शिक्षा पर एक प्रस्ताव पारित किया जिसकी प्रमुख संस्तुतियां थी—राष्ट्रीय आय का 6 प्रतिशत की शिक्षा का सामान्यीकरण कृषि एवं उद्योग के लिए शिक्षा का विकास महत्वपूर्ण था।

1986 में आई नवीन शिक्षा नीति वर्तमान शिक्षा व्यवस्था की रीढ़ है। जिसमें गतिहीन समाज को गतिशील बनाने के लिए शिक्षा की वृद्धि और विकास पर जोर दिया गया। अभी हाल ही में फरवरी 2008 में प्रोफेसर यशपाल की अध्यक्षता में उच्च शिक्षा में सुधार के लिए 24 सदस्यीय समिति का गठन

किया गया जिसकी कुछ प्रमुख अनुशंसाएं हैं—रिपोर्ट में यूजीसी (UGC), एआईसीटीई (AICTE) और एमसीआई (MCI) जैसे संस्थाओं को समाप्त कर चुनाव आयोग की तरह एक सर्वसमाहित राष्ट्रीय उच्च शिक्षा एवं अनुसंधान आयोग का गठन किया जाना चाहिए।

डीम्ड विश्वविद्यालयों की बेहहाशा बढ़ती पर रोक लगनी चाहिए, देश के उत्कृष्ट 1500 कॉलेजों का दर्जा बढ़ाकर उन्हें विश्वविद्यालय बनाने का सुझाव दिया। देश में सभी विश्वविद्यालयों में समान परीक्षा प्रणाली लागू करने के मद्देनजर ग्रेजुएट रिकॉर्ड एग्जामिनेशन की तर्ज पर एक राष्ट्रीय परीक्षा आयोजन का प्रस्ताव रखा है जो कि पूरे देश में परीक्षा का संचालन करेगा शैक्षणिक संस्थाओं एवं विश्वविद्यालयों को नौकरशाहों के नियंत्रण से मुक्त कर अकादमिक स्वायत्तता एवं जबाबदेही विकसित करने पर बल दिया। बाहर के निकृष्ट संस्थानों के स्थान पर उत्कृष्ट विश्वविद्यालयों एवं शिक्षाविदों को भारत में लाने का प्रयास किया जाएगा।<sup>13</sup>

इस प्रकार उच्च शिक्षा के विकास की प्रक्रिया क्रमिक रूप से जारी है, यद्यपि इसमें कुछ खामियां भी मौजूद हैं और इन खामियों के मद्देनजर सुधार

कार्यों की आवश्यकता है ताकि उच्च शिक्षा के माध्यम से सामाजिक जुड़ाव को और अधिक विस्तृत किया जा सके, बौद्धिक चिंतकों के एक वर्ग का निर्माण किया जा सके जो भारत को भविष्य में मार्गदर्शन दे सके ताकि बुद्ध की भूमि पुनः विश्व को शांति एवं विकास का पाठ पढ़ा सके।

### संदर्भ

1. Ramachandran, Padma and Vasantha, Ramkumar Education in India, NBT publication, P.-120-121
2. Ibid, P.-9
3. Grover, B.L. and Yashpal-Adhunik Bharat ka Itihash, P.-255
4. Ghosh, Suresh Chandra, History of Education in Modern India 1757-1986, P.-33
5. Ibid, P.-77
6. Shukla, R.L., Adhunik Bharat ka Itihash, P.-314
7. Ibid, P.-327
8. Basu, Aparna-Growth of Education and Political Development in India.
9. Shukla, R.L. Adhunik Bharat ka Itihash, P.-328.
10. Ghosh-Ibid, P.-173.
11. Grover, Ibid, P. 261.
12. Report of the Kothari Commission, 1966.
13. Yogana-September-2009, P.-9.

## श्रेष्ठ कथा साहित्य

श्रीराधाकृष्ण प्रेम-प्रसंग व विन्धवासिनी	इंजि. प्रेमलाल सिंह/डॉ. सुधा सिंह	200.00
उत्तरांचल की लोककथाएं	राकेश चक्र	150.00
अन्तोन चेखव की अमर कहानियां, 1	अन्तोन चेखव	200.00
अन्तोन चेखव की अमर कहानियां, 2	अन्तोन चेखव	200.00
ओ. हेनरी की अमर कहानियां	ओ. हेनरी	150.00
ग्राम्य जीवन की कहानियां	प्रेमचन्द	150.00

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

## पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर, दिल्ली-110053 फोन : 9811710900

## “संन्यासवाद : शास्त्रीय परम्परा और व्यवहार के सन्दर्भ में”

सरोज कुमार सिंह

प्रस्तुत शोधपत्र के द्वारा संन्यासवाद के व्याकरण सम्मत अर्थ को स्पष्ट करते हुए संन्यास की भारतीय शास्त्रीय परम्परा व्यावहारिकता तथा सूफीसन्तों के आगमन पर आए परिवर्तनों का एक संक्षिप्त तथ्यपरक विवरण उपस्थित किया जा रहा है।

संन्यास शब्द सम् एवं नि उपसर्गपूर्वक अस् धातु से भाव में घञ प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है<sup>1</sup> (सम्, नि, अस्, घञ = सम् नि आस = संन्यास) जिसका शाब्दिक अर्थ होता है विरक्त होना, प्रपंच छोड़ना। “सम्यक् न्यस्तानि अधर्माचरणादीनि सांसारिक- मायामोहावरणानि येन स संन्यासः” अर्थात् जिसके द्वारा भली - भाँति अधर्मादि कुत्सित आचरण छोड़ दिये जाते हैं वह संन्यास है और “संन्यासो विद्यते यस्य स संन्यासी” अर्थात् जिसमें संन्यास है वह संन्यासी है।<sup>2</sup> सांसारिक प्रपंचों जो मुख्यतः पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लाकैषणा से सम्बद्ध है उनको भली - भाँति त्याग देने की भावना जिनमें जाग्रत है वह संन्यासी है।<sup>3</sup> इन सभी का त्याग करने वाले व्यक्ति को संन्यासी कहा जाता है।<sup>4</sup>

एक दूसरी मान्यता के अनुसार सत् में न्यस्त व्यक्ति को संन्यस्त कहा जाता है तथा उसे ही संन्यासी का अभिधान मिलता है। इसमें सत् में स्थित होने को संन्यास कहकर अभिप्राय को पूर्णतः स्पष्ट कर दिया गया है। सत् वह स्थिति है जिसमें राग-द्वेष का तिरोभाव हो जाता है। सत् के गुणों से संपन्न व्यक्ति को सात्विक कहा जाता है। ऐसी स्थिति में संन्यासियों की पहली पहचान उनकी वेश- भूषा, आहार-विहार आदि से बढ़कर उनकी सात्विकता होती है। सात्विकता की यदि कोई संक्षिप्त व्याख्या की जाय तो उसके अनुसार सात्विकता वह भाव है जिसमें राजसिकता और तामसिकता का अभाव होता है। इस सात्विकता को न केवल वैदिक परंपरा के साहित्य में अपितु बौद्ध एवं जैन साहित्य में भी एक

ही प्रकार से वर्णित किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता जिसमें भारतीय दर्शन का निचोड़ है उसमें सतोगुण का विवरण है। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा - “हे निष्पाप ! सतोगुण अन्य गुणों की अपेक्षा अधिक शुद्ध होने के कारण प्रकाश प्रदान करनेवाला और मनुष्यों को सारे पाप कर्मों से मुक्त करनेवाला है। जो लोग इस गुण में स्थित होते हैं वे सुख तथा ज्ञान के भाव से बँध जाते हैं।”<sup>5</sup>

सात्विक भाव को और स्पष्ट करते हुए भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है - “हे भरतपुत्र ! निर्भयता, आत्मशुद्धि, आध्यात्मिक ज्ञान का अनुशीलन, दान, आत्मसंयम, यज्ञपरायणता, वेदाध्ययन, तपस्या, सरलता, अहिंसा, सत्यता, क्रोधविहीनता, त्याग, शांति, छिद्रान्वेषण में अरुचि, समस्त जीवों पर करुणा, लोभविहीनता, भद्रता, लज्जा, संकल्प, तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, ईर्ष्या, तथा सम्मान की अभिलाषा से मुक्ति ये सारे दिव्य गुण हैं जो दैवी प्रकृति से संपन्न देवतुल्य पुरुषों में पाये जाते हैं।”<sup>6</sup>

श्री कृष्ण ने दैवी लक्षणों का संबंध सात्विक पुरुषों से बतलाया है। सत् में स्थित व्यक्तियों के भोजन के सम्बन्ध में भी कहा गया है - “जो भोजन सात्विक व्यक्तियों को प्रिय होता है वह आयु बढ़ानेवाला, जीवन को शुद्ध करनेवाला होता है। ऐसा भोजन रसमय, स्निग्ध, स्थिर और हृदय को बल देनेवाला होता है।”<sup>7</sup>

सात्विक भोजन को और स्पष्ट करने के लिए विपरीत भोजनों का भी उल्लेख हुआ है - “अत्यधिक तिक्त, खट्टे, नमकीन, उष्ण, रूक्ष तथा विदाही भोजन रजोगुणी व्यक्तियों को प्रिय होते हैं। ऐसे भोजन दुःख, शोक तथा रोग उत्पन्न करनेवाले होते हैं। पर्युषित (तीन घंटे पूर्व पकाया गया) स्वादहीन, वियोजित एवं सड़ा, जूठा तथा अस्पृश्य वस्तुओं से युक्त भोजन उन लोगों को प्रिय होता है जो तामसी होते हैं।”<sup>8</sup>

भोजन के उपरांत गीता में सात्विकता के कर्तव्यों का भी विवरण दिया गया है। सात्विक, वही यज्ञ करते हैं जो शास्त्र के निर्देशानुसार कर्तव्य समझकर किया जाय न कि फलाफल का विचार करके। जो यज्ञ किसी भौतिक लाभ के लिए या गर्ववश किया जाता है वह राजसी यज्ञ होता है।<sup>9</sup> सात्विक जनों के लिए तपस्या भी विधेय होता है और इस प्रकार की तपस्याओं का निरूपण इस प्रकार किया गया है - “परमेश्वर, ब्राह्मणों, गुरु, माता - पिता जैसे गुरुजनों की पूजा करना तथा पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा शारीरिक तपस्या है। सच्चे, प्रिय, हितकर तथा क्षुब्ध न करने वाले वाक्य बोलना और स्वाध्याय वाणी की तपस्या होती है। संतोष, सरलता,

गंभीरता, आत्मसंयम एवं भाव शुद्धि ये मन की तपस्या हैं तथा सात्विक पुरुषों को एसी ही तपस्या करनी है।<sup>10</sup>

सात्विक व्यक्ति दानशील भी होता है जिसकी परिभाषा इस प्रकार की गई है - “जो दान कर्तव्य समझकर किसी प्रत्यूपकार की आशा के बिना समुचित काल तथा स्थान में और योग्य व्यक्ति को दिया जाता है वह सात्विक माना जाता है।<sup>11</sup>

आरंभ में संन्यास शब्द की दूसरी निरुक्ति को अधिक बोधगम्य मानकर संन्यासी शब्द को सदाचरण से जोड़ा गया है इसकी पुष्टि श्रीमद्भगवद्गीता में होती है - “भौतिक इच्छा पर आधारित कर्मों के परित्याग को विद्वान लोग संन्यास कहते हैं और समस्त कर्मों के फलत्याग को बुद्धिमान लोग त्याग कहते हैं।<sup>12</sup>

संन्यासी शब्द को समझने के लिए गीता में भारतीय दर्शन के निचोड़ को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि - “संन्यासी त्यागी नहीं होता अपितु कर्तव्यशील होता है। संन्यासी को यज्ञ, दान तथा तपस्या के कर्मों का कभी परित्याग नहीं करना चाहिए। जब मनुष्य नियत कर्तव्य को करणीय मानकर करता है और समस्त भौतिक संगति को त्याग देता है तो उसका त्याग सात्विक कहलाता है। पर सतोगुण में स्थित बुद्धिमान त्यागी जो न तो अशुभ कर्म से घृणा करता है न शुभ कर्म में लिप्त होता है वह कर्म के विषय में कोई संशय नहीं रखता। गीता की मान्यता है कि संन्यासियों को कर्म त्यागी नहीं होना चाहिए, वस्तुतः किसी भी देहधारी प्राणी के लिए समस्त कर्मों का परित्याग कर पाना असंभव है, लेकिन जो कर्मफल का परित्याग करता है वहीं त्यागी है। जो कर्म नियमित है और जो आसक्ति, राग या द्वेष से रहित कर्मफल की चाह के बिना किया जाता है वह सात्विक कर्म कहलाता है।<sup>13</sup>

वह बुद्धि सतोगुणी है जिसके द्वारा मनुष्य यह जानता है कि क्या करणीय है और क्या अकरणीय, किससे डरना चाहिए और किससे नहीं, क्या बाँधनेवाला है और क्या मुक्ति देनेवाला है।<sup>14</sup>

इस प्रकार प्राचीन मान्यता के अनुसार संन्यास निष्क्रियता की स्थिति का नाम नहीं अपितु पूर्ण सक्रियता का नाम है जिसमें व्यक्ति समाज के लिए उचित कर्तव्यों को निर्लिप्त भाव से तथा निःसंकोच ढंग से करते हैं ऐसा गीता के आधार पर तो कहा ही जा सकता है।

परन्तु यदि संन्यास शब्द की प्रथम व्याख्या को लिया जाय तो उसके अनुसार संन्यास (सम्यक् आत्म न्यास) परम निष्क्रियता को इंगित करता है। गीता में जैसे संन्यासियों का भी उल्लेख है जो दिव्य पद पर स्थित होते हैं। जैसे संन्यासी के बारे में यह वर्णन है - “अपनी बुद्धि से शुद्ध होकर तथा धैर्यपूर्वक मन को वश में करते हुए इन्द्रिय तृप्ति के विषयों का त्याग कर, राग तथा द्वेष से मुक्त होकर जो व्यक्ति एकान्त स्थान में वास करता है, जो थोड़ा खाता है, जो अपने शरीर, मन तथा वाणी को वश में रखता है, जो सदैव समाधि में रहता है तथा पूर्णतया विरक्त, मिथ्या अहंकार, मिथ्या शक्ति, मिथ्या गर्व, काम, क्रोध तथा भौतिक वस्तुओं के संग्रह से मुक्त, जो स्वामित्व की भावना से रहित तथा शांत है वह निश्चय ही ब्रह्मभूय होने में समर्थ है।<sup>15</sup>

परन्तु यह ब्रह्मभूयता उच्चतम कोटि के संन्यासी का लक्षण है जिसके कारण वैसा संन्यासी समाज से अपने को पूर्णतः अलग कर लेता है। ये बिरले होते हैं। गीता के अनुसार इनसे इतर संन्यासी सात्विकता के निर्वाह के कारण संन्यासी कहलाते हैं और वे कर्तव्यभाव से समाज के उत्थान के लिए व्यक्तिगत हित को

अमान्य करके अत्यन्त सक्रिय रहते हैं। इनकी सक्रियता किसी जाति या अपने परिवार से नाममात्र को भी बँधी नहीं रहती है जिसके कारण इनकी सक्रियता सर्वपूज्य होती है।

प्राचीन भारतीय परंपरा में संन्यास भाव में आने का अधिकार उन व्यक्तियों को ही दिया गया था जो गृहस्थ आश्रम से विरत हो चुके थे। मनु के अनुसार - “अपने वय के तीसरे भाग को तपश्चर्यादि के द्वारा वन में काट कर वय के चौथे भाग में सब विषय सद्गुणों का त्याग कर संन्यासाश्रम का पालन करना चाहिए। द्विज को दस लक्षण घृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियों को वश में करना, ज्ञान, विद्या, सत्य, क्रोध का त्याग वाले धर्म का पालन करते हुए ऋणत्रय से छुटकारा पाकर संन्यास ग्रहण करना होता था। ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थाश्रम में और गृहस्थाश्रम से वानप्रस्थाश्रम का पालन करने के पश्चात् ही द्विज को संन्यासाश्रम ग्रहण करना चाहिए।<sup>16</sup>

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ग्रन्थ में संन्यास ग्रहण करने की तीन परिस्थितियों का उल्लेख किया है। एक तो यह कि ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम एवं वानप्रस्थाश्रम में अभीष्ट विषयों का ज्ञान प्राप्त कर, उनका उपभोग कर क्रमशः संन्यासाश्रम में प्रवेश करना चाहिए। दूसरा पक्ष यह है कि जब कभी वैराग्य अर्थात् बुरे कार्यों से चित्त हटकर ठीक-ठीक सत्यमार्ग में निश्चित हो जाय तो उस समय गृहस्थाश्रम से भी संन्यास हो सकता है। तीसरा पक्ष है कि जो पूर्ण विद्वान होकर सब प्राणियों का शीघ्र उपकार करना चाहें वे ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यास ग्रहण कर सकते हैं।<sup>17</sup>

अपवादस्वरूप ही गृहस्थ या ब्रह्मचारी संन्यासी हो सकते थे। पर सामान्यतः इस प्रकार के संन्यासी दुर्लभ थे। संन्यास

आश्रम किसी अवस्था से अधिक मन के सात्विक भाव पर अवलम्बित था जिसे प्राचीन मान्यता के अनुसार सांसारिक भोग से विरत व्यक्ति ही प्राप्त कर सकता था। गृहस्थ आश्रम के पश्चात् एक वानप्रस्थ आश्रम होता था उसमें भी सात्विकता का पोषण होता था। पर परिवार के साथ रहना उसमें अनुमत था। उन वानप्रस्थियों के सात्विक लक्षणों के कारण जनसामान्य उन्हें भी संन्यासी मान लेता था। पर संन्यास आश्रम वानप्रस्थ आश्रम से कहीं अधिक उच्चतर था।

मनुस्मृति में संन्यास आश्रम की स्थिति किंचित स्पष्ट है। वहाँ वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के एक ही प्रकार का लक्षण वर्णित है और उसका संन्यासी समाज से अलग व्यक्ति है।

इस प्रकार की अस्पष्टता ने भारतीय समाज में एक भ्रम की स्थिति लायी। इसीलिए कहीं पर किसी ने संन्यासियों के समाज के हित में प्रवृत्त रहने को आवश्यक बतलाया तो कहीं समाज से अलग होकर पूर्ण निष्क्रिय होते हुए और ब्रह्म में ध्यान लगाते हुए मृत्यु की प्रतीक्षा करना संन्यासियों का एकमात्र कर्तव्य बतलाया गया है। वस्तुतः संन्यासियों की कोटियों पर बहुत से विचारकों ने ध्यान नहीं दिया। उच्चतम कोटि के संन्यासी को यति का नाम मिलता था। पर अन्य संन्यासी केवल संन्यासी कहलाते थे। पर जब यति को संन्यासी शब्द से निर्दिष्ट किया जाता है तो व्यासदेव जैसे व्यक्ति भी यह लिख देते हैं- “जैसे कुएँ में पत्थर फेंकने पर वह वापस नहीं आता, इसी प्रकार किसी की बात सुनकर जो उत्तर नहीं देता है, सुनी हुई बात जिसके अन्दर जाकर शान्त हो जाती है, वह संन्यास आश्रम में प्रवेश करने का अधिकारी है।”<sup>18</sup> और आधुनिक काल में स्वामी विवेकानन्दजी लिखते हैं कि “जिन्होंने

सब सांसारिक पद, सम्पदा और ख्याति त्याग दी है तथा जिनका उद्देश्य ज्ञान की खोज है वे संन्यासी हैं।”<sup>19</sup> मिलता-जुलता विवरण अन्य धर्म ग्रन्थों में भी मिलता है। उदाहरणार्थ मनुस्मृति की ये व्यवस्थाएँ -

सभी स्थावर तथा जड़गम प्राणियों को अभय देकर संन्यास ग्रहण करना चाहिए।<sup>20</sup> पवित्र कमण्डलु, दण्ड आदि से युक्त, मौन धारण कर, गृह त्याग कर, स्वादिष्ट भोज्य एवं मृदु वस्त्रादि में निःस्पृह होकर संन्यास ग्रहण करना चाहिए।<sup>21</sup> मनु ने सही संन्यासी उसे स्वीकार किया है जो लौकिक अग्नि से रहित, गृह से रहित, शरीर में रोगादि होने पर भी चिकित्सा का प्रबंध न करनेवाला, स्थिर बुद्धिवाला, ब्रह्म का मनन करनेवाला और ब्रह्म में भाव रखने वाला हो।<sup>22</sup> संन्यासी को न तो अपने जीवन में आनन्द और न अपने मृत्यु में दुःख की इच्छा होनी चाहिए, किन्तु नौकर जिस प्रकार वेतन की प्रतीक्षा करता है, उसी प्रकार काल और मृत्यु की प्रतीक्षा करनी चाहिए।<sup>23</sup> संन्यासी सहनशील, किसी को अपमानित या किसी के साथ वैर न कर, क्रोधी व्यक्ति पर भी स्वयं क्रोध न कर किसी के द्वारा अपनी निन्दा करने पर उससे मधुर बात ही करे तथा विनाशशील वाणी नहीं बोले।<sup>24</sup>

संन्यासी के भिक्षा ग्रहण के सम्बन्ध में भी मनु ने नियमन दिया है - “संन्यासी जीवन निर्वाह के लिए दिन में एक बार ही भिक्षाग्रहण करे तथा उसको भी अधिक प्रमाण में लेने में आसक्ति न करे, क्योंकि भिक्षा में आसक्ति रखनेवाला संन्यासी विषयों में भी आसक्ति हो जाता है। जितनी भिक्षा से जीवन- निर्वाह हो सके उतने ही प्रमाण में भिक्षा मांगे। दण्ड, कमण्डलु आदि की मात्रा में भी आसक्ति न करे। भिक्षा के न मिलने पर

विषाद और मिलने पर हर्ष न करे। विशेष रूप से आदर-सत्कार के साथ मिलनेवाली भिक्षा को स्वीकार न करे क्योंकि पूजापूर्वक होनेवाली भिक्षाप्राप्ति से संन्यासी बँध जाता है उसे विषयों की ओर आकृष्ट होती हुई इन्द्रियों को थोड़ा भोजन और एकान्तवास के द्वारा वश में करना होता था।”<sup>25</sup> उसे उतना ही भोजन करने को निर्देश दिया गया था, जितने से उसकी प्राणशक्ति बनी रहने में समर्थ होती थी।<sup>26</sup>

मनुस्मृति में वर्णित संन्यासी का आचरणीय धर्म एकात्ममानववाद का सजीव चित्रण प्रस्तुत करता है। मनु कहते हैं कि शरीर के पीड़ित होने पर भी रात या दिन में सभी जीवों के रक्षार्थ सर्वदा भूमि को देखकर ही संन्यासी को चलना चाहिए।<sup>27</sup> संन्यासी के लिए आवश्यक था कि वह किसी भी जीव, जन्तु, प्राणी आदि के कष्ट में स्वयं के कष्ट का अनुभव कर मन, कर्म, वचन से किसी भी प्रकार से उन्हें आहत न करते हुए विचरण करे। संन्यासी का जीवन समस्त राग-द्वेष और माया-मोह से विलग पूर्णतया एकाकी था। उसे अपनी स्पृहा, इन्द्रिय, आचरण आदि पर नियंत्रण रखना अनिवार्य था।<sup>28</sup>

संन्यासी को जगत् के सम्मान से विष के तुल्य डरना चाहिए और अमृत के समान अपमान की चाह करनी चाहिए, अधर्म का खण्डन तथा धर्म का मण्डन सदा करना चाहिए। जिस कर्म से गृहस्थों की उन्नति हो या माता, पिता, पुत्र, स्त्री, पति, बन्धु, बहिन, मित्र, पड़ोसी, नौकर, बड़े और छोटों में विरोध छूटकर प्रेम बढ़े, उसका उपदेश करना चाहिए।<sup>29</sup> संन्यासी का मुख्य धर्म शांति और अहिंसा है।<sup>30</sup>

यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ऊपर दिये गए विवरण शत-प्रतिशत भारतीय संस्कृति के अनुकूल ही हैं और

इस प्रकार का मत रखनेवाले भी रंचमात्र भी गलत नहीं हैं। वस्तुतः संन्यासी शब्द के सामान्य प्रयोग से ही यति संन्यासी कहलाये जाते हैं। शोध के उद्देश्य से नये-नये अपने आलेख में संन्यास शब्द के दूसरे अर्थ को ही प्रयोजनार्थ लिया है और यह पाया है कि दूसरी कोटि के संन्यासी समाज से अत्यन्त जुड़े रहते थे। समाज से जुड़नेवाला जनवर्ग को पथभ्रष्ट होने से रोकने के लिए भी प्रयत्नशील रहता है। दूसरे शब्दों में वह कर्तव्यपथ के संबंध में जागृति भी फैलाता है। उसे अपने लिए कुछ नहीं चाहिए। पर शेष समाज कर्तव्यपथ पर चलता रहे इसके लिए वह व्याकुल रहता है। वह स्थान-स्थान पर उपदेश देता है, तद्विधायक ग्रन्थों की रचना करता है और अन्याय का प्रतिरोध करने के लिए जनसमुदाय का आह्वान भी करता है।

सात्विक सक्रियता प्रारंभिक संन्यास अवस्था की अनिवार्य विशेषता होती है। इसको आधार तथ्य मानकर प्राचीन भारतीय संस्कृति में संन्यास ग्रहण करने का अधिकार उन्हें ही दिया गया जिनकी राजसी और तामसी प्रवृत्तियाँ शांत हो चुकी हों तथा सात्विक प्रवृत्ति का सुदीर्घ अभ्यास हो चुका हो। इन मानदण्डों के अनुसार गृहस्थ आश्रम पूर्ण कर लेनेवाला ब्राह्मण ही संन्यास का अधिकारी माना गया। ऐसा माना जाता था कि ब्राह्मण अपनी आजीविका के कारण सात्विक गुणों का अभ्यास अन्य वर्णों की अपेक्षा अधिक कर लेता है तथा अपनी राजसी एवं तामसी प्रवृत्तियों का शमन गृहस्थ आश्रम के द्वारा सफलतापूर्वक कर लेता है।

संन्यासाश्रम में प्रवेश के लिए ब्राह्मण मात्र का ही अधिकार है, ऐसा जाबालोपनिषद् में कहा गया है।<sup>31</sup> किन्तु कूर्म पुराण में ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य को भी संन्यासाश्रम में प्रवेश की अर्हता निर्दिष्ट है।<sup>32</sup> बौधायन स्मृति में कहा

गया है कि संन्यास ब्राह्मणों का ही धर्म है, क्षत्रियों एवं वैश्यों का नहीं, ऐसा दत्तात्रेय मुनि का मत है। ऐसा ही मत मल्लिनाथ का भी है। फिर भी संन्यास का प्रचलन प्रायः ब्रह्मणों में ही अधिक था।

संन्यास कौन ग्रहण करे इस संबंध में अंगिरा, हारीत, क्रतु, वृहस्पति तथा व्यासदेव जैसे शास्ताओं ने जिस प्रकार के निर्देश दिये हैं उनसे भली-भाँति उजागर होता है कि ब्राह्मण ही संन्यास के योग्य होते हैं। अंगिरा ऋषि का विचार है कि जब मन में सभी वस्तुओं के प्रति अरूचि का भाव पैदा हो जाए तभी संन्यास लेना चाहिए।<sup>33</sup> हारीत कहते हैं कि बुद्धिमान को चाहिए कि यदि वह संसार से विरक्त हो तो ही संन्यास ग्रहण करे यदि संसार के विषयों के प्रति जरा भी अनुराग मन में हो तो उसे घर में ही रहना चाहिए।<sup>34</sup> क्रतु के अनुसार जिसमें सहन करने की शक्ति है, इन्द्रियाँ जिसकी शान्त हैं, पवित्रता, सत्य, संतोष और सरलता जैसे गुण जिसमें विद्यमान हैं जो किसी भी वस्तु को अपना नहीं समझता और जो दम्भ नहीं करता वह संन्यास आश्रम का अधिकारी है।<sup>35</sup> वृहस्पति के विचार में जो भोगे हुए विषयों का न तो स्मरण करता है और न ही चिन्तन करता है तथा न ही प्राप्त भोगों का अभिनन्दन करता है, जो अन्दर रहनेवाली इन्द्रियों को अन्दर और बाहर के विषयों को सदा बाहर ही रख सकता है, वह संन्यास आश्रम में प्रवेश करे।<sup>36</sup> व्यासदेव कहते हैं जिसकी जिह्वा, उपस्थ, उदर और हाथ उसके नियंत्रण में हों वह ब्राह्मण अपनी ब्रह्मचर्यावस्था में ही बिना विवाह किये हुए ही संन्यास ग्रहण कर सकता है। संसार को निस्सार देखकर जिसके मन में परम वैराग्य की भावना जागृत होती है, वे वास्तविकता को जानने की इच्छा से बिना विवाह किये ही संन्यास ग्रहण करते हैं।<sup>37</sup>

उपर्युक्त मर्यादाओं का यथार्थ उन्हीं से संभव था जिसने ब्राह्मण वृत्ति और ब्राह्मण जीवन बीता लिया हो।

सारांश स्वरूप यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार ब्राह्मण शब्द के दो अर्थ होते हैं, एक में ब्राह्मण को ब्राह्मण कहा जाता है और दूसरे में ब्राह्मण आजीविका चलाने वाले को ब्राह्मण कहा जाता है। उसी प्रकार संन्यासी शब्द के भी दो अर्थ - एक में ब्रह्मभूयता को प्राप्त करने के लिए सब कुछ त्याग कर निर्जन स्थान में ध्यानस्थ यति को संन्यासी कहा जाता है तो दूसरे में जाति, परिवार एवं देश छोड़कर सबकी भलाई में निष्काम एवं अपरिग्रह भाव से लगे हुए परिव्राजक व्यक्ति को संन्यासी माना जाता है। ब्राह्मण और संन्यासी दोनों में दूसरे अर्थ को ही समाज ने अधिक प्रयुक्त किया है।

आधुनिक काल में संन्यासियों की जो दसनामी परंपरा है उसका प्रवर्तन आदि शंकराचार्य ने किया था। पूरे राष्ट्र को एक सूत्र में पिरोने की आकांक्षा और सर्वत्र समंजस्य धार्मिक व्यवस्था के लिए उन्होंने भारत के चारों दिग्गंतों में चार मठों की स्थापना की थी। एक मठ की स्थापना पश्चिम दिशा में द्वारकापुरी में शारदा मठ के नाम से स्थापित हुआ था जिसका प्रभार स्वरूपाचार्य (आचार्य विश्वरूप (सुरेश्वराचार्य)) को दिया गया। उनकी देख रेख में तीर्थ और आश्रम नामक संन्यासी रखे गये। दूसरा मठ शंकराचार्यजी ने पूर्व दिशा में जगन्नाथपुरी (पुरुषोत्तम) में स्थापित किया था जिसका संभार उन्होंने पद्मपाद आचार्य को दिया था। इनकी देख-रेख में वन और अरण्य संन्यासी शाखाएँ थीं। तीसरा मठ उत्तर दिशा में बदरी-कंदार क्षेत्र (बद्रीकाश्रम) में जोशी (ज्योतिर्मठ) मठ की स्थापना हुई थी जिसके संरक्षक द्रोतकाचार्य (तोटककाचार्य) बनाये गये थे। उनकी

देख-रेख में गिरि, पर्वत और सागर नामधारी संन्यासी रखे गये। चौथा मठ दक्षिण दिशा मेंशृंगेरी में हुई थी जिसका दायित्व पृथ्वीधर आचार्य (हस्तामलक) को दिया गया था और जिसके प्रक्षेत्र में पुरी, भारती और सरस्वती शाखाओं के संन्यासियों को रखा गया था।<sup>38</sup> इस प्रकार संन्यासियों के सभी दस संप्रदाय इन मठों के अन्तर्गत रख दिये गये।

संन्यासियों के जो दस वर्ग बनाये गये थे उनका प्रधान ध्येय था अद्वैतवाद पर प्रवचन देना और इसके लिए वे बहुत से शिष्यों के साथ परिभ्रमण भी किया करते थे। वैसे उनके धार्मिक एवं विद्यागत कर्तव्यों का विशद निर्धारण भी किया गया था जो इस प्रकार था -<sup>39</sup>

	शारदा मठ	गोवर्धन मठ	ज्योतिर्मठ	शृंगेरी मठ
उपाधि	तीर्थ, आश्रम	वन, अरण्य	गिरि, पर्वत, सागर	सरस्वती, भारती, पुरी
वेद	सामवेद	ऋग्वेद	अथर्ववेद	यजुर्वेद
आराध्य देव	सिद्धेश्वर	जगन्नाथ	नारायण	आदिवराह
आराध्य देवी	भद्रकाली	विमला	पुष्पागिरि (पूर्णागिरि)	कामाक्षी
पवित्र नदी	गोमती	महोदधि	अलकनन्दा	तुंगभद्रा
महावाक्य	तत्त्वमसि	प्रज्ञानम् ब्रह्म	अयमात्मा ब्रह्म	अहं ब्रह्मस्मि
स्वाध्याय हेतु	तीर्थ-केन,	वन-ऐतरेय,	गिरि-मण्डूक,	सरस्वती-
उपनिषद्	आश्रम-छान्दोग्य	अरण्य-	पर्वत-प्रश्न,	वृहदारण्यक,
		कौषीतकी	सागर-माण्डूक्य	भारती- तैत्तिरीय,
गोत्र	अग्निभुवः (अविगत)	कश्यप	भृगु	भूर्भुवः
पवित्रमठ	द्वारका	जगन्नाथ पुरी	बदरिकाश्रम	रामेश्वर
आचार्य	स्वरूपाचार्य	पद्मपाद	त्रोटकाचार्य	पृथ्वीधर

इन मठों की स्थापना संन्यासियों के लिए हुई थी और संन्यासी अद्वैतवाद के प्रचार व वैराग्य साधन एवं धर्मरक्षण के कर्तव्यों से जोड़े जाते थे। संन्यास धर्म में प्रवेश के लिए कोई जातिगत बंधन था या नहीं, इसमें आधुनिक काल के विद्वानों में मतभेद है। “त्रैवारिक संन्यास सार’ नामक अपनी रचना में कैलाश पर्वत ने याज्ञवल्क्य स्मृति और ब्रह्मवैवर्त पुराणों के श्लोकों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि संन्यास धर्म में ब्राह्मणों के अतिरिक्त क्षत्रियों और वैश्य कुल में जन्म-प्राप्त व्यक्तियों को भी प्रवेश करने का अधिकार था। पर गोपाल नन्द परमहंस ने अपनी रचना ‘संन्यास-ग्रहण पद्धति’ में यही माना है कि केवल ब्राह्मणों को ही संन्यासी होने का अधिकार होता था।<sup>40</sup>

सरस्वती और गिरि शाखाओं के संन्यासी जो बनारस और प्रयाग में अवस्थित हैं एक मौखिक परम्परा का साक्ष्य देते हुए यह बतलाते हैं कि संन्यास परम्परा में बाध्य होकर क्षत्रिय और वैश्यों को सम्मिलित करना पड़ा था। इनके अनुसार यह परम्परा अकबर के राज्यकाल में आरंभ हुई। उनका वक्तव्य इस प्रकार है - “उन दिनों मुस्लिम फकीर सशस्त्र चलते थे और अपने समय के युद्धों में भाग लेते थे। फकीरों को विशेषाधिकार प्राप्त तो था ही सरकार भी उनकी रक्षा करती थी। जब किसी संन्यासी की हत्या होती थी तो किसी को भी सरकार दण्ड नहीं देती थी जबकि संन्यासी अपने अहिंसा-धर्म के बंधन में आक्रामकों को उग्र प्रत्युत्तर नहीं दे

पाते थे। संन्यासियों में एक प्रसिद्ध विद्वान मधुसूदन, जो बनारस में रहते थे, यह जानने के लिए कि संन्यासी सम्प्रदायों की रक्षा के लिए सरकार कुछ करेगी या नहीं अकबर से मिलने जब गये तो राजा बीरबल ने उन्हें समझाया कि वे इसके लिए संन्यासियों की परम्परा में अब्राह्मण वंशजों को भी ले लें। अकबर ने भी यह मान लिया कि प्रशासन संन्यासियों के कार्यकलापों में हस्तक्षेप नहीं करेगा।<sup>41</sup>

इसी से प्रेरित होकर मधुसूदन ने दस संन्यासी परम्पराओं में सात में क्षत्रिय और वैश्य वर्ग के लोगों को बहुत अधिक संख्या में ले लिया। इतिहास जो भी रहा हो आधुनिक काल में संन्यासियों में अब्राह्मणों का दीक्षित होना एक सुदीर्घ परम्परास्वरूप स्थापित था। दीक्षित होने के उपरान्त वे जाति बंधन से मुक्त माने जाते थे और उनकी सामाजिक स्थिति सर्वोच्च हो जाती थी। गोपालानन्द की ‘संन्यास-ग्रहण पद्धति’ और विश्वेश्वर सरस्वती की रचना ‘यतिधर्मसंग्रह’ में यही बतलाया गया है।<sup>42</sup>

पर इन लक्ष्यों के साथ-साथ कालान्तर में अपने धर्म की रक्षा के लिए संन्यासी शस्त्रास्त्र साधन का भी अभ्यास करने लगे। उपर्युक्त चार मठों से अनेकों मठ भी निकले। एक जिले में सभी मठ मिलकर एक मण्डल बनाते थे जिसका अध्यक्ष मण्डलेश्वर कहलाता था। इसे संन्यासी लोग ही निर्वाचित करते थे। मण्डलेश्वर को सामान्य भाषा में महन्त कहते थे। वह अपनी सहायता के लिए एक कारबारी (मंत्री) और एक कोतवाल (संरक्षक) नियुक्त कर लेता था। महन्त का काम था मण्डल के संन्यासियों को पथभ्रष्ट होने से रोकना और इस हेतु वह न्यायाधीश का कार्य स्वयं करता था। महन्त इस बात की व्यवस्था करता था कि संन्यासी संस्कृत में लिखी धर्म रचनाओं का निरन्तर अध्ययन एवं पालन

करें और जब सशस्त्र होने की आवश्यकता हुई तो इस व्यवस्था में 'अखाड़े' भी जोड़े गये। एक अखाड़े में हंस या परमहंस पद पर पहुँचे तीन से चार संन्यासी होते थे। शस्त्रधारी संन्यासियों को नाग (नागा) संन्यासी कहा जाने लगा। वे बहुत शारीरिक तप और हठयोग से अपने शरीर को सुदृढ़ भी करते थे।

आरंभ में तीर्थ, आश्रम, सरस्वती नामक संन्यासी दण्डी कहलाते थे। 'भारती' वर्ग में भी आधे दण्डी माने जाते थे और शेष गोस्वामी। शेष बचे सभी छः संन्यास-सम्प्रदाय भी गोस्वामी कहलाते थे। लोकभाषा में इन्हें गोसाईं कहा जाता था। गोसाईं लोगों ने कालान्तर में ब्रह्मचर्य का त्याग कर धार्मिक कार्यों के अतिरिक्त व्यावसायिक कार्य भी अपना लिए।<sup>43</sup> दण्डी संन्यासियों का स्थान फलतः अधिक ऊँचा माना जाने लगा। इन संन्यासियों में भी उच्चावच श्रेणियाँ थीं। निम्नतम श्रेणी में कुटीचक संन्यासी होते थे, उनसे ऊँची श्रेणी में बाहुदक, बाहुदक से ऊपर की श्रेणी में हंस और सर्वोच्च श्रेणी में परमहंस होते थे।<sup>44</sup>

संन्यासियों के इस विकास-क्रम के समानान्तर ही इस्लामी फकीरों का इतिहास था। आधुनिक काल में विद्रोह करने में प्रधान रूप से मदारी फकीर थे। इन मदारी फकीरों की परंपरा का सूत्रपात्र 14वीं ईस्वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ था। इसका आरंभ वहियूद्दीन नामक फकीर ने सूफी पद्धति के अन्तर्गत किया था। वहियूद्दीन को शाह-इ-मदार की उपाधि मिली थी, अतः उसकी परंपरा के फकीर मदारी कहलाये। शाह-इ-मदार सीरिया के अबू-इश्क के घर में 1315 ई. में जन्मे थे। इनका परिवार हजरत मुहम्मद के समकालीन एवं अनुयायी उवैस करानी की दरवेश परम्परा को मानता था। शाह-इ-मदार 1351 में भारत आये और यहाँ सुदूर परिभ्रमण कर यश एवं जनश्रद्धा अर्जित

की। अंतिम समय में कानपुर के पास माकनपुर में बस गये थे। इनके शिष्य शाह अल्लाह ने उनके धर्म का प्रचार पूर्वी क्षेत्रों में विशेषकर बंगाल में किया।

मदारियों पर हिन्दू धर्म की संन्यास परंपरा का बहुत प्रभाव पड़ा था। मोहसिन फानी की 17वीं शताब्दी की रचना 'दबिस्तान' में यह लिखा है कि वहियूद्दीन मदार भारत में आकर योगी बन गये थे। इसीलिए उनके शिष्य अवधूतों की भाँति जटा धारण करते थे तथा भस्म लगाते थे। वे हाथों और गर्दन पर सिक्कड़ रखे रहते थे, काला झण्डा लेकर चलते थे और काली पगड़ी रखते थे।<sup>45</sup> फकीर भी उपनिषदों में व्यक्त अद्वैतवाद से मिलती-जुलती दार्शनिक धारणा रखते थे। वे भी संसार को मिथ्या मानकर ईश्वर के अद्वैत रूप में घोर विश्वास रखते थे। वे भारतीय योग पद्धति का पालन करते थे, प्राणायाम, आसन, ध्यान एवं समाधि के लिए प्रयासरत रहते थे। केवल उनकी भाषा बदल जाती थी। प्राणायाम को हब्स-इ-दम और ध्यान को मुरकीवाह कहते थे। सूफियों में कुछ भारतीय तंत्रिकों की भाँति शवसाधना भी (कश्फू-इ-कब्र नाम से) करते थे।

दसनामी संन्यासियों की भाँति मदारी फकीरों का भी संगठन होता था। सूफियों में आध्यात्मिक गुरु को मुशीद और पीर कहते थे। शिष्य को मुरीद कहा जाता था। 12वीं शताब्दी तक सूफियों के बारह सिलसिले (संप्रदाय) हो गये, उधर हिन्दू योगियों में भी बारह संप्रदाय होते थे।<sup>46</sup> पीर का आश्रम खानकाह कहलाता था। बहुत से खानकाहों में ठहरने और भोजन की व्यवस्था रहती थी। हिन्दुओं में प्रचलित भजनों की परम्परा खानकाह में 'साम' गायन के रूप में चलती थी। इन सामों में हिन्दी फारसी मिश्रित होती थी।

18वीं एवं 19वीं शताब्दी में बहुत से संन्यासी एवं फकीर सांसारिकता में

परम्परागत रूप से लिप्त थे और अपने व्यावसायिक हितों के लिए सत्ता का प्रतिरोध करने की क्षमता भी रखते थे। फकीरों की टकराहट तो 16वीं शताब्दी से ही दिख रही थी।<sup>47</sup> राजेन्द्र गिरि गोसाईं और उनके उत्तराधिकारी अनूप (हिम्मत) गिरि तथा उमराव गिरि अपनी नागा सेना के साथ सत्ता की लड़ाई में सफदरजंग, शुजाउद्दौला, मीरकासिम, रघुनाथ राव, आसफुद्दौला, मिर्जा नजफ खान आदि का साथ देते रहे। इस दौरान संन्यासी सत्ता का भी सुख भोगते रहे। संन्यासियों के पास विशाल भू-सम्पदा इकट्ठा हो गई थी। गोसाईं जमीन्दार व्याज का धन्धा भी चलाते थे। संन्यासी लगान, व्याज और दानप्राप्ति से अकूत धन इकट्ठा कर रहे थे। महन्त एवं उनके चेले इस धन को व्यापार में लगा देते थे। बिहार एवं बंगाल के अन्य क्षेत्रों से व्यापारिक संबंध मुख्यतः संन्यासियों के माध्यम से होते थे।

इन विवरणों से स्पष्ट है कि संन्यासी केवल शब्द रूप में ही रह गया था, अधिकांश संन्यासी (गोसाईं) सांसारिकता में गहराई से लिप्त थे। उन्हें न तो धर्म रक्षा से कोई सरोकार था और नहीं देश-रक्षा से। उन्हें बस आमदनी चाहिए थी, भले इसके लिए मुसलमान शासकों की भी सेवा क्यों नहीं करनी पड़े। संन्यासी राजाओं के यहाँ पदधारण भी करने लगे थे। उपर्युक्त विवरण यही इंगित करते हैं कि संन्यासी एवं फकीर आम जीवन से बहुत अधिक जुड़े हुए लोग थे।

20वीं शताब्दी में जनता में यह भाव उत्पन्न हो रहा था कि जीवन सत्य है और जीवन के क्षेत्र में जो नाना कर्तव्य हमारे सामने आते हैं उन्हें सम्यक् विधि से संपन्न करके हम अपनी मुक्ति खोज सकते हैं, इसके लिए जंगलों में जाने, कामिनी और कंचन का परित्याग करके प्राणायाम और समाधि में लीन होने की

कोई आवश्यकता नहीं। विवेकानन्द ने संन्यास का नया आदर्श स्थापित किया जिसमें संन्यासी कौमार्य और ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए भी बहुत कुछ गृहस्थों के ही समान थे, क्योंकि वे ध्यान और समाधि में थोड़ा ही समय लगाते थे, बाकी उनका काम संसार की सेवा करना था जो परोपकारी गृहस्थ भी करते रहते हैं। महर्षि अरविन्द में आकर संन्यास ने एक और परिवर्तन स्वीकार किया जिससे गैरिक वसन की अनिवार्यता जाती रही और बाल-बच्चों से अलग भागना धर्म-साधना का प्रधान सोपान नहीं माना जाता है। अरविन्द- आश्रम के संन्यासी और गृहस्थ एकाकार होकर एक ही साधना में प्रवृत्त हुए। गांधीजी ने समाज-सेवा एवं उच्च नैतिक आचरण को धर्म का एकमात्र आधार मान लिया तथा संन्यासी और गृहस्थ का भेद मिटाकर यह घोषणा की कि धर्म में वैरागी के लिए एक और संन्यासी के लिए दूसरा मार्ग नहीं है। वैरागी और संन्यासी दोनों का मूल उद्देश्य मानव-स्वभाव को निर्मल बनाकर आज की अपेक्षा अधिक सुन्दर, सुखद और पवित्र विश्व का निर्माण करना है। आदर्श समाज वह होगा जिसके संन्यासी भी गृहस्थ और गृहस्थ भी संन्यासी होंगे अथवा दोनों के बीच कोई भेद नहीं रह जायेगा।

## सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. श्वावेश पाणिनीय- अष्टाध्यायी, 3/3/18
2. सरस्वती, स्वामी दयानन्द, 'संस्कार विधि:' आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, 2006, पृष्ठ-190
3. शतपथ ब्राह्मण, का. 14। अ. 7। ब्रा. 2
4. "श्रीमद्भगवद्गीता", गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. 2021, पृ. 99, 100, 5। 3।
5. श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद, 'श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप', भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, मुंबई, 1999, पृष्ठ -672 14। 6।
6. वही, पृष्ठ - 725, 16। 2,3।
7. वही, पृष्ठ- 763,17। 8।

8. वही, पृष्ठ - 763,764, 17। 9,10।
9. वही, पृष्ठ- 766, 17। 11, 12।
10. वही, पृष्ठ - 767 से 770, 17। 14,15,16,17।
11. वही, पृष्ठ- 772, 17। 20।
12. वही, पृष्ठ - 781, 18। 2।
13. वही, पृष्ठ - 783 से 796, 18। 5,9,10,11,23।
14. वही, पृष्ठ -800, 18। 30।
15. वही, पृष्ठ - 815, 18। 51,52,53।
16. श्री पं. हरगोविन्दशास्त्री, 'मनुस्मृति:', चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2001, 6। 33, 92, 35, 94, 34। पृ. - 289, 290, 304
17. सरस्वती, महर्षि दयानन्द, 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका 'सिद्ध योग पीठ ट्रस्ट, कुरुक्षेत्र, हरियाणा, 2008, पृष्ठ 303 एवम् गोयन्दका, हरिकृष्णदास (व्याख्याकार), "वेदान्त दर्शन", गीताप्रेस, गोरखपुर 2009, पृ.-312,। 3। 4। 20।
18. सरस्वती, स्वामी सदानन्द, 'यतिधर्मदर्शिनी', द्वारकाधीश संस्कृत एकेडमी एण्ड इण्डोलॉजिकल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, द्वारका, गुजरात, 2010, पृष्ठ - 85, 2। 1। 18।
19. स्वामी विवेकानन्द साहित्य : संचयन, रामकृष्ण मठ (प्रकाशन विभाग), रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली, नागपुर, 2003 पृष्ठ - 213
20. श्री पं. हरगोविन्द शास्त्री, 'मनुस्मृति:', चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2001, पृष्ठ, - 290, 6। 39। यों दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रब्रजत्यभयं गृहात्।
21. वही, पृष्ठ -291, 6। 41।
22. वही, पृष्ठ - 291, 6। 43।
23. वही, पृष्ठ - 292, 6। 45।
24. वही, पृष्ठ - 293, 6। 47, 48।
25. वही, पृष्ठ - 295, 6। 55, 57, 58, 59।
26. मत्स्य पुराण, 40। 13। यावत्प्राणश्रिसन्धानां तावदिच्छेद्य भोजनम्।
27. शास्त्री, श्री पं. हरगोविन्द, 'मनुस्मृति:' पूर्वोद्धृत, पृष्ठ- 297, 6। 68।
28. थापर, रोमिला, 'एशिएंट इंडियन सोशल हिस्ट्री', पृष्ठ -64
29. सरस्वती, स्वामी दयानन्द, 'संस्कार विधि:'

- आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, 2006, पृष्ठ-213
30. सरस्वती, स्वामी सदानन्द, 'यतिधर्मदर्शिनी' द्वारकाधीश संस्कृत एकेडमी एण्ड इण्डोलॉजिकल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, द्वारका, गुजरात, 2010, पृष्ठ- 329, 12। 2। 42।
  31. याज्ञ संन्यास प्रकरण, संन्यासे विप्रस्यैवाधिकारः ब्राह्मणः प्रब्रजन्तीति आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रब्रजेत् गृहात्।
  32. कूर्म पुराण ब्राह्मणः क्षत्रियोवाथवैश्वो प्रब्रजेत् गृहादिति।
  33. सरस्वती, स्वामी सदानन्द, 'यतिधर्मदर्शिनी', पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 10
  34. वही, पृष्ठ -10
  35. वही, पृष्ठ-11
  36. वही, पृष्ठ-12
  37. वही, पृष्ठ - 10
  38. सरकार, यदुनाथ, "ए हिस्ट्री ऑफ दसनामी नागा संन्यासिज", इलाहाबाद पृष्ठ 53 से 54
  39. सिन्हा, सुरजीत एवं सरस्वती, बी. एन., "एसेटिक्स ऑफ काशी", वाराणसी, 1978, पृ.- 61से 63
  40. सरकार, यदुनाथ "ए हिस्ट्री ऑफ दसनामी नागा संन्यासिज", इलाहाबाद, पृष्ठ - 64, 65
  41. फरक्यूहार, जे. एन., "द ऑर्गेनाइजेशन ऑफ द संन्यासिज ऑफ द वेदान्त", जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयरलैण्ड, 1925, पृ. - 479 से 486
  42. सरकार, यदुनाथ, "ए हिस्ट्री ऑफ दसनामी नागा संन्यासिज", इलाहाबाद, पृ. 64, 65
  43. वही, पृष्ठ - 109 से 114
  44. वही, पृष्ठ - 59 से 62
  45. फानी, मोहसिन, "दबिस्तान", पृ.- 223, 224
  46. फानी, मोहसिन, "दबिस्तान" पृ. - 223, 224
  47. फरक्यूहार, जे. एन., "द ऑर्गेनाइजेशन ऑफ द संन्यासिज ऑफ द वेदान्त" जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयरलैण्ड, 1925, पृ. 479से 486

## 1857 का क्रांतिकारी उभार

सुमन कुमार

यद्यपि जिस विद्रोह को मात्र सिपाही विद्रोह या सैन्यद्रोह या फिर धार्मिक आस्थाओं के ब्रिटिश अतिक्रमण का प्रतिवाद मानकर खारिज किया जाता था अब, 1857 का वह महान् विद्रोह भारतीय स्वतंत्रता का पहला संग्राम माना जाने लगा है। उन्नीसवीं सदी के दौरान औपनिवेशिक शासन के लिए वह संग्राम सबसे बड़ा विद्रोह था। उसने जनता के हर वर्ग के हिन्दू और मुसलमान दोनों को आकर्षित किया। सामाजिक और आर्थिक मूलभूत सुधारों की मांग को उत्प्रेरित किया। संग्राम ने नए समाज के निर्माण का आह्वान किया जिसमें जनता की मांगों का अधिक प्रजातांत्रिक प्रतिनिधित्व हो सके।

वह कोई आकाश से गिरी गाज नहीं थी। यह तथ्य अच्छी तरह से जाना ही नहीं गया कि 1763 और 1856 का काल ऐसा नहीं था कि भारतवासियों ने विदेशी शासन को बिना किसी प्रतिरोध के स्वीकार लिया हो। आदिवासियों, किसानों और राजाओं द्वारा ब्रिटिश विरोध बारंबार हुए। कुछ विरोध लंबे समय तक बने रहे, कुछ छुटपुट ही रहे और कुछ अवरोधों के क्रांतिकारी कार्य थे। सबने औपनिवेशिक शासन को चुनौतियाँ दीं। वन एवं कृषि संपदा के अनियंत्रित दोहन से उत्पन्न विकराल दरिद्रता और जनता की पदलित स्थिति, दोनों को उस काल ने देखा था।

ब्रिटिश करों का बोझ कमर तोड़ था। भारतीय किसानों और दस्तकारों से उनकी पैदावार का हिस्सा, उनसे अतिरिक्त धन वसूली तथा बेगार करवाने में ब्रिटिश अधिकारी बल प्रयोग करते थे। इनके खिलाफ शिकायतों को न्यायालय स्वीकार नहीं करते थे। 1856 में ब्रिटिश हाउस ऑफ़ कमीशंस के सामने टार्चर कमीशन, मद्रास ने पहली रिपोर्ट में यह स्वीकार किया था कि ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारी यातना देने का परित्याग नहीं करते और न ही वे इसे रोकने का कोई उपाय करते थे। 1855 सितंबर में, कोर्ट ऑफ़ डायरेक्टर्स ऑफ़ ईस्ट इंडिया कंपनी को दिये गए लार्ड डलहौली के पत्र से पुष्टि होती है कि यातना का वह तरीका केवल मद्रास प्रिंसीडेंसी तक ही सीमित नहीं था वरन् उसका

प्रयोग प्रत्येक ब्रिटिश शासित प्रदेश में किया जाता था। दुखांत प्रतिरोध के सिवाय निराश जनता के पास कोई उपाय नहीं था। लगभग हर वर्ष सशस्त्र विद्रोह होते थे और ब्रिटिश द्वारा निर्ममतापूर्वक कुचल दिये जाते थे। ब्रिटिश जैसी अग्नेय शक्ति के अभाव में विद्रोहियों को गोली से उड़ा दिया जाता था और संवाद साधनों के अभाव में विद्रोह अन्य विद्रोहों से सहकार्य नहीं कर पाते थे। प्रतिकूल समय के कारण करारी हारें होती थीं। तब भी, इनमें से कुछ संघर्ष अनेक वर्षों तक चले।

पहले के विद्रोहों में से एक शिमोगा के डोंडिया वांग के द्वारा किया गया था। 1799 में, उसने टीपू सुल्तान की हार के बाद शिमोगा, चित्रदुर्ग और बेल्लारी जिले को थोड़े समय के लिए स्वतंत्र कर लिया था। 1824 में कर्नाटक की रानी चिन्नम्मा ने कित्तू क्षेत्र में एक विद्रोह का नेतृत्व किया। पांच वर्ष बाद, सिंगोली रायना का गौरिल्ला युद्ध हुआ। 1833 तक कर्नाटक में अनेक विद्रोह होते रहे। 1831 का कोल विद्रोह, 1855 का संधाल विद्रोह और 1816 से 1832 तक चला कुच विद्रोह भी महत्वपूर्ण रहे। ब्रिटिश शक्ति के सामने धराशायी होने के पूर्व उड़ीसा एवं पश्चिमी बंगाल के कुछ राजाओं ने अनेक शताब्दियों तक उनका कठोर प्रतिरोध किया था। सैन्य विद्रोह के पूर्व वेलूर, उत्तरी तमिलनाडू, के भारतीय सैनिकों ने 1806 में विद्रोह किया। यद्यपि वह असफल रहा परंतु उसके फलस्वरूप ब्रिटिश अधिपतियों के विरुद्ध सैनिकों की समस्याओं के लिए राजनैतिक समितियाँ बनाई गई थी।

उदाहरण के लिए बंगाल की सेना में 1,40,000 भारतीय लोग “सिपाही” नियुक्त हुए थे जो लगभग 26,000 ब्रिटिश अधिकारियों के अधीन थे। इन सिपाहियों ने 1838-42 के पहले ब्रिटिश-अफगान युद्ध की अग्नि को सहा और दो पंजाब के युद्धों 1845-46 एवं 1848-49 और दूसरे एंग्लो-बर्मी युद्धों को निकटता से लड़ा था। उन्हें अफीम युद्ध में चीन के विरुद्ध क्रिमियन युद्ध 1854 में लड़ने के लिए समुद्र पार भेजा गया था। मृत्यु का लगातार सामना करने पर भी भारतीय सिपाहियों को अपनी पदोन्नति के बहुत ही कम अवसर मिलते थे। सभी प्रमुख पदों पर यूरोपियनों का एकाधिकार था।

बंगाल सेना के बहुत से सिपाही, उत्तर प्रदेश के हिंदी भाषी क्षेत्रों से थे जहाँ अवध को छोड़कर ब्रिटिश ने “महलवारी” करों को लगाया था जो राजस्व की लगातार बढ़ती हुई मांग से निहित था। 19वीं शताब्दी के पहले भाग में, ब्रिटिश को

शोध छात्र, बीआरए बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

दिया जाने वाला कर-राजस्व 70 प्रतिशत तक बढ़ाया गया। इससे कृषि पर कर्ज का भारी बोझ बढ़ा और बहुत तेजी से जमीन महाजनों और व्यापारियों के यहां रेहन रखी जाने लगी। इसी अमानवीय टैक्स प्रथा को अवध तक फैलाया गया जहां की संपूर्ण कुलीनता को सरसरी तौर पर अपदस्थ किया जा चुका था।

परिणामस्वरूप, ब्रिटिश के विरुद्ध असंतुष्टि केवल कृषि समुदायों तक ही सीमित नहीं रही। कुलीन एवं मध्यमवर्ग के दिवालियापन से अनेक वस्तुओं की मांग लुप्तप्राय हो गई। उसी समय, स्थानीय उद्यमों को ब्रिटिश आयातित वस्तुओं की भ्रष्ट प्रतिस्पर्धा का भी सामना करना पड़ा। इन परिणामों को विद्रोही राजा फिरोजशाह ने अपनी 1857 की घोषणा में पेश किया: “यूरोपियनों ने भारत में अंग्रेजी वस्तुओं को लाकर बुनकरों, सूती वस्त्र कर्मियों, बढ़ईयों, लुहारों और जूता बनाने वालों को बेकार बना दिया और उनके पेशों को हड़प लिया। हर प्रकार का हस्तकार भिखारी बन गया।”

इन घटनाओं की तुलना भारत में मुगलों के आगमन से कर लेते हैं। बाबर ने भारतीय जलवायु और रीतिरिवाजों की नापसंदगी के बावजूद, भारत के हस्तकारों की कुशलता एवं विभिन्नता को परखा और बढ़ते हुए भारतीय उत्पादन में अपार संभावनाएं देखीं। ब्रिटिश के बिल्कुल विपरीत, मुगलों ने भारतीय शिल्पियों की शक्तियों का गठन किया जो पहले की सल्तनतों के समय में अच्छी तरह से स्थापित थे और उनको बाद के समय में चमत्कारी ऊंचाइयों तक उठाया। 19वीं शताब्दी के मध्य तक, वास्तव में, ब्रिटिश नीतियों ने औद्योगिकरण के पूर्व के गुणों को पूरी तरह से दमघोंटकर मार डाला। उस काल के एक ब्रिटिश इतिहासकार थॉमस लो ने परखा कि कैसे “पश्चिमी दुनिया पर अपने नाम और आश्चर्य को फैलाने

वाले भारतीय कलाकार और उत्पादक, आज के समय में, लगभग लुप्त हो गए हैं। एक समय के प्रसिद्ध और जाने माने शहर विनाश के ढेर हैं।”

इन सबने 1857 के विद्रोह के लिए भूमि तैयार की थी। यद्यपि भारत के उत्तर में केंद्रित 1857 का विद्रोह पूर्व में ढाका और चटगांव से पश्चिम में दिल्ली तक फैला। बंगाल के मुख्य शहर, उड़ीसा में कटक सहित बिहार, संभलपुर, पटना और रांची ने भागीदारी की। मध्य भारत में विद्रोह इंदौर, जबलपुर, झांसी और ग्वालियर तक फैला। राजस्थान के नसीराबाद, महाराष्ट्र में औरंगाबाद एवं कोल्हापुर और अफगान सीमा पर पेशावर में उपद्रव भड़के थे। उत्तर प्रदेश के समतल मैदान में ही युद्ध-भूमि थी। परंतु ब्रिटिश आक्रमणकारियों को हर बड़े शहर से कठोर अवरोध मिलता रहा। यह संग्राम सिपाही विद्रोह से शुरू होकर जल्दी ही अवध और उत्तर पश्चिमी प्रदेशों में जनविद्रोहों से संयुक्त हुआ। ब्रिटिश शासन का विरोध जेलों और सरकारी इमारतों पर धावों से प्रकट हुआ। सरकारी “खजानों” पर धावा बोला, बैरिकों और न्यायालय भवनों पर प्रहार किया और जेल के दरवाजों को तोड़ डाला गया। जनविद्रोह समाज के हर वर्ग के लोगों की सहभागिता का बड़ा आधार था जैसे सीमावर्ती धनवान, कृषक, कारीगर, धार्मिक गुरु एवं भिक्षुक गण, सरकारी सेवक, दुकानदार और नाविक लोग।

1857 में मई 10 को मेरठ में शुरू हुए विद्रोह के बाद कई, महीनों तक भारत के उत्तरी मैदान में ब्रिटिश शासन खत्म हो गया था। कई मुस्लिम और हिन्दू राजा विद्रोही सैनिकों, लडाकू किसानों और अन्य राष्ट्रीय सेनानियों के साथ शामिल हुए। विद्रोह के प्रमुख नेताओं में नाना साहेब, तांतिया टोपे, बक्तखान, अजीमुल्लाखान, रानी

लक्ष्मीबाई, बेगम हजरत महल, कुंवर सिंह, मौलवी अहमदउल्ला, बहादुरखान और राव तुलाराम थे। ब्रिटिश के विरुद्ध उत्तराधिकार के बदनाम कानून सहित राजाओं की अनेक समस्याएं थीं। उत्तराधिकार कानून ब्रिटिश को किसी भी राज्य में “कानूनी पुरुष उत्तराधिकारी” न होने पर, उस राज्य को अपने अधीन कर लेने का अधिकार देता था। विद्रोहियों ने दस सदस्यों की कोर्ट ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन का गठन किया जिसमें छः सैनिक और चार नागरिक थे। इनमें हिन्दू और मुस्लिम दोनों को समान प्रतिनिधित्व दिया गया। विद्रोही सरकार ने सामान्य उपयोग की वस्तुओं को कर मुक्त किया और जमाखोरी को दंडित किया। उनके घोषणापत्र में ब्रिटिश द्वारा थोपी गई घृणित जमीनदारी प्रथा के उन्मूलन और किसानों को जमीन देने का आदेश था।

यद्यपि जिन राजाओं ने विद्रोहियों का साथ दिया था वे इतने आगे तक नहीं जाना चाहते थे। विद्रोही-सरकार द्वारा की गई घोषणाओं के अनेक पक्षों पर ध्यान देने की आवश्यकता है। सभी घोषणाएं जनसामान्य भाषा में की गई थीं। हिन्दी और उर्दू के मूलपाठ के साथ हिन्दू और मुस्लिम दोनों के नाम से घोषणाएं की गई थीं। फिरोजशाह ने अगस्त 1857 की अपनी घोषणा में कुछ महत्वपूर्ण बातों का समावेश किया था। यथा सरकारी भाप चलित नावों एवं भाप गाड़ियों के मुफ्त उपयोग करने की सुविधा के साथ व्यापार केवल भारतवासियों के लिए सुरक्षित किया जाना चाहिए। सार्वजनिक कार्यालय भी केवल भारतवासियों को दिए जायें और सिपाहियों का वेतन बढ़ाया जाये।

घटनाओं के ऐसे मूलगामी मोड़ से घबराकर ब्रिटिश शासकों ने संघर्ष को कुचलने के लिए सैनिकों और हथियारों के सभी स्रोतों को झोंका। यद्यपि विद्रोहियों

ने वीरतापूर्वक मुकाबला किया परंतु सिख, राजस्थानी और सिंधिया जैसे मराठा राजाओं ने ब्रिटिश राजभक्त बनकर भारत में उनके बने रहने का अवसर दिया। उस समय के गवर्नर जनरल लार्ड केनिन ने ध्यान दिया: “राजाओं ने तूफान में तरंगरोध की तरह काम किया अन्यथा उसने हमें एक ही लहर से बहा दिया होता! व्यापारिक समुदायों की पुराणपथिता ने भी ब्रिटिश की मदद की। वे लंबे समय तक चलने वाले जनविद्रोह की अनिश्चितताओं का साथ नहीं देना चाहते थे। परंतु साम्राज्य को बचाने में, ब्रिटिश क्रूरता और हथियारों का भारी महत्व था। विद्रोह दबाने की ब्रिटिश बर्बरता अभूतपूर्व थी। 1858 मई 8 को लखनऊ के हारने के बाद फ्रेडरिक एंग्लिस ने कहा था: “सत्य है कि यूरोप अथवा अमेरिका में ब्रिटिश जैसी क्रूर सेना नहीं थी। लूटमार, हिंसा, कल्लेआम ये जो अन्य जगहों से सख्ती और पूर्णता से समाप्त हो चुके हैं, ब्रिटिश सैनिकों के निहित स्वार्थ के अधिकार हैं”, आदिमकालीन विशेषाधिकार हैं” अवध अकेले में 1,50,000 लोगों की हत्या की गई जिसमें से 1,00,000 लोग नागरिक थे। दिल्ली के महान उर्दू कवि मिर्जा गालिब ने लिखा: “सामने आज खून की नदियां देखता हूँ।” उन्होंने आगे वर्णन किया कि कैसे विजयी सैनिक हत्या की रंगरेलियां मना रहे थे। लोगों की संपत्ति को लूटते और जैसे-जैसे आगे बढ़ते हर सामने पड़ने वाले को मौत के घाट उतार रहे थे।

दिल्ली में, बहादुरशाह जफर के तीनों बेटों को “खूनी दरवाजे” पर आम जनता के बीच फांसी दी गई। बहादुरशाह को अंधा बनाया और देश निकाले पर रंगून भेजा, जहां वे 1862 में मर गए थे। दया की भीख मांगने को नकारते हुए उसने ब्रिटिश को मुंह तोड़ जवाब दिया था: “यदि विद्रोहियों के हृदय में

स्वाभिमान की ज्वाला मंद नहीं पड़ी तो भारत की शक्ति एक दिन लंदन को हिला देगी।” थॉमस लो ने लिखा था: “अब भारत में रहना ज्वालामुखी के मुंहाने पर खड़े रहने के समान है जिसके किनारे हमारे कदमों से दूर हो तेजी से बिखर रहे हैं और उबलता हुआ लावा फूट पड़ने तथा हमें भस्म कर देने के लिए तैयार है।” 1857 के विद्रोह ने हिन्दू और मुस्लिम एकता को इस्पात की तरह मजबूत बनाया। वह संग्राम स्वतंत्रता प्रेमियों के भविष्य की पीढ़ियों के लिए आशा और प्रेरणा देने का महत्वपूर्ण मील का पत्थर था। 1837 के बाद औपनिवेशिक शासन में नाटकीय बदलाव आया। राष्ट्रीय विद्रोह की 1857 की हार के बाद ब्रिटिश “बांटो और राज करो” की नीति पर धार्मिक घृणा को फैलाते हुए तेजी से काम करने लगे। झूठ एवं भ्रम का सहारा लेते हुए ब्रिटिश ने भारतीय इतिहास को जानबूझकर सांप्रदायिक रंगों में ढाला और भारतीय जनगण को बांटने के लिए घातक जातिवादी नीतियों को लागू किया। वे नीतियां आज भी उपमहाद्वीप को परेशान कर रहीं हैं। जब अधिकांश लोग औपनिवेशिक जड़ों के इस अलगाव और जातिवादी खाई को पहचान लेंगे तब संभव है कि हिन्दू मुस्लिम एकता को पहुंचे नुकसान को थोड़ा कम किया जा सके। यदि 1857 की आत्मचेतना में हिन्दू और मुस्लिम पुनः मिलें और आपसी सहयोगी बन सकें तो हमारा उपमहाद्वीप आज भी समर्थ है औपनिवेशिक विगत से मुक्ति पाने में।

### संदर्भ

- Alavi, Seema (1996), *The Sepoys and the Company: Tradition and Transition 1770-1830*, Oxford University Press.
- Anderson, Clare (2007), *Indian Uprising of 1857-8: Prisons, Prisoners and Rebellion*, New York: Anthem Press

- Bandyopadhyay, Sekhara (2004), *From Plassey to Partition: A History of Modern India*, New Delhi: Orient Longman.
- Bayly, Chistopher Alan (1988), *Indian Society and the Making of the British Empire*, Cambridge University Press.
- Harris, John (2001), *The Indian Mutiny*, Ware: Wordsworth Editions
- Hibbert, Christopher (1980), *The Great Mutiny: India 1857*, London: Allen Lane
- Keene, Henry George (1883), *Fifty-Seven. Some account of the administration of Indian Districts during the revolt of the Bengal Army*, London: W.H. Allen
- Kulke, Hermann; Rothermund, Dietmar (2004), *A History of India* (4th ed.), London: Routledge
- Majumdar, R.C.; Raychaudhuri, H.C.; Datta, Kalikinkar (1967), *An Advanced History of India* (3rd ed.), London: Macmillan
- Markovits, Claude, ed. (2004), *A History of Modern India 1480-1950*, London: Anthem
- Metcalf, Thomas R. (1990), *The Aftermath of Revolt: India, 1857-1870*, New Delhi: Manohar
- Metcalf, Thomas R. (1997), *Ideologies of the Raj*, Cambridge University Press
- Palmer, Julian A.B. (1966), *The Mutiny Outbreak at Meerut in 1857*, Cambridge University Press
- Robb, Peter (2002), *A History of India*, Basingstoke: Palgrave
- Roy, Tapti (1994), *The politics of a popular uprising: Bundelkhand 1857*, Delhi: Oxford University Press, pp. 291
- Stein, Burton (2001), *A History of India*, New Delhi: Oxford University Press
- Stokes, Eric (1980), *The Peasant and the Raj: Studies in Agrarian Society and Peasant Rebellion in Colonial India*, Cambridge University Press
- Stokes, Eric; Bayly, C.A. (ed.) (1986), *The Peasant Armed: The Indian Revolt of 1857*, Oxford: Clarendon
- Taylor, P.J.O. (1997), *What really happened during the mutiny: a day-by-day account of the major events of 1857-1859 in India*, Delhi: Oxford University Press.

# भारतीय इतिहास में बाल गंगाधर तिलक का मूल्यांकन

राकेश कुमार

स्वतंत्रता आंदोलन में तिलक की भूमिका के मूल्यांकन पर प्रायः “सांप्रदायवाद” और “हिन्दू पुनरुत्थान” के आरोपों द्वारा अड़ंगा डाला जाता रहा है। परंतु तिलक के सार्वजनिक जीवन के इतिहास का सूक्ष्म और संतुलित परीक्षण एक दूसरी ही कहानी कहता है। 1888 के करीब तिलक ने अपने पूर्व सहयोगी चिपलूकर के साथ अंधदेशभक्त हिन्दू पुनरुत्थान के संकुचित और अलगाववादी कार्यक्रम के खिलाफ निर्णायक शुरूआत की। इसका मतलब यह नहीं कि वे हिन्दू रीतिरिवाजों के प्रति उदासीन थे। परंतु कुछ नेता अवश्य थे। अनेक मुस्लिम नेता मौलाना थे और प्रायः हिन्दू नेता आर्य समाज या ब्रह्म समाज से ताल्लुकात रखते थे। गीता में तिलक की रुचि न तो अपवाद थी और न ही उसने कोई अप्रिय आलोचना पाई।

वास्तव में, तिलक की हिन्दू दर्शन में रुचि न तो पुराणपंथता से और न ही प्रतिक्रियावादी पुनरुत्थान के रुझान से उत्पन्न हुई थी। स्वतंत्रता आंदोलन में उनके कर्मठ योगदान, राजनैतिक स्पष्टता एवं उनके संदेश की सरलता के संदर्भ में, यह कहना ज्यादा उपयुक्त होगा कि उनकी हिन्दू और मराठा धरोहरों में रुचि ब्रिटिश शिक्षा प्रणाली की छद्म और विदेशी चारित्रिकता से उत्पन्न हुई सांस्कृतिक शून्यता से पैदा हुई थी। प्राचीन भारतीय ग्रंथों और परंपरागत भारतीय निबंधों से प्रेरणा पाने के लिए समकालीन मूल्य की अंतरदृष्टि तिलक/और उनके समान अन्य नेताओं/के लिए स्वाभिमान एवं स्वचेतना को बढ़ाने में सहायक हुई।

उस समय उपनिवेशिन से प्रेरित मतों ने भारत की हर बात का मखौल उड़ाया और पश्चिमी विज्ञान तथा सभ्यता को

भारत के शेष सबको समाप्त कर देने के लिए प्रोत्साहित भी किया। इनको चुनौती देता हुआ तिलक का यह एक महत्वपूर्ण कार्य था। ऐसे समय जब पश्चिमी साहित्य और मूल्यों ने “राजभक्त” और “उदारपंथी” भारतीय राजनीतिज्ञों को मोहित कर लिया था, भारतीय सांस्कृतिक रीतिरिवाजों के साथ जुड़ना और उन्हें उभारकर सामने लाना किसी उत्कर्ष से कम न था। तिलक के संबंध में विशेष बात यह है कि उन्होंने कभी पश्चिम के वैज्ञानिक ज्ञान और तकनीक के साथ भारतीय रीतिरिवाजों को प्रतिपक्ष के समान पेश नहीं किया। वे विदेश-द्वेषी नहीं थे। वे यूरोप की वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक प्रगति से भारत को लाभावित करना चाहते थे। औपनिवेशिक कार्यक्रमों के घोर आभारियों के विपरीत, उसने कोई ऐसा कारण नहीं देखा कि शिक्षित भारतवासी अपने देश की धरोहरों में रुचि रखने से परहेज करें।

## गीता के बारे में तिलक

यह ध्यान देने योग्य है कि गीता पर उनकी विवेचना वास्तविक दुनिया से पलायन और त्याग को मानने वालों के लिए क्रांतिकारी है। गीता की उनकी व्याख्या समयानुकूल थी, स्वतंत्रता आंदोलन की भागीदारी को विस्तारित करने पर केंद्रीभूत थी और बहुत से मायने में गांधी की अपेक्षा उनकी अंतरदृष्टि दूरगामी थी। जबकि गांधी की दिशा आदर्शवाद की और, यहां तक कि, रहस्यवादी छायावाद की ओर उन्मुख थी। तिलक का तरीका कुशाग्रता से व्यवहारिक और वास्तविक कार्य की ओर सदैव उन्मुख होता था।

हिन्दू आध्यात्मवाद में उनकी रुचि अनुभव से पैदा हुई कि ब्रिटिश भारत में समाज शोषण जनता, समाज और देश के प्रति सामाजिक एकता और कर्तव्य की भावना को नष्ट कर रहा था। गांधी कभी-कभी एकदम स्वेच्छाचारी प्रतीत होते और जो अपनी राजनीति में अस्थिर थे, के विपरीत तिलक ने अपनी शिक्षाओं के पालन में कठोर परिश्रम किया और वही शिक्षा दी जिसका वे पालन करते थे। जबकि गांधी आम जनता के सैन्य विप्लव से डरते थे। इसलिए उसने ऐसे विचारों को आगे किया जिसने खदबदाते सामाजिक और नैतिक विरोधाभासों को अस्पष्ट एवं धुंधला किया। तिलक को ऐसी कुंठा पालने की कोई मजबूरी नहीं थी। औपनिवेशिक शोषण

के गैर समझौतावादी विरोध ने उनको “धर्म” या कर्तव्य के दृष्टिकोण का समर्थन करने का मौका दिया और यह एक प्रकार से औपनिवेशिक शासन एवं अन्याय के विरुद्ध लड़ने में ज्यादा सुयोग्य एवं नीतिपूर्ण था।

अपने शुरूआती वर्षों में जब उन्होंने महाराष्ट्र के हिन्दू त्यौहारों में भागीदारी को प्रोत्साहित किया था, वे लोगों में विश्वास पैदा करने की इच्छा से प्रेरित हुए थे जिससे उपनिवेशन के प्रति जड़वत्ता के प्रभाव से लड़ा जा सके। इन गतिविधियों से मुस्लिमों में शत्रुता, आक्रोश और अलगाववादी भावनाएं भड़केंगी यह बात उनको कभी नहीं सूझी क्योंकि वे कभी भी नहीं चाहते थे कि दो समुदायों के मध्य कोई दरार पैदा हो और वे चाहते थे कि समस्त त्यौहारों में दोनों समुदाय भाग लेते रहें।

## हिन्दू मुस्लिम एकता का महत्व

जैसे-जैसे वे राष्ट्रीय नेता की तरह परिपक्व हुए वे स्वतंत्रता संग्राम में हिन्दू मुस्लिम एकता के महत्व के प्रति ज्यादा सचेत हुए। 1893 तक तिलक जान चुके थे कि कैसे औपनिवेशिक प्रशासन के ऐंग्लो इंडियन अधिकारियों के उकसाने से हिन्दू और मुस्लिम के बीच तकरारें पैदा होती थी। औपनिवेशिक प्रशासकों की “बांटो और राज करो” नीति के प्रति वे भुलक्कड़ नहीं थे और जानते थे कि स्वतंत्रता के उद्देश्य में वह नीति कितनी घातक थी।

जेल से छूटने के बाद उसने देखा कि उनके जेल के वर्षों के दौरान राष्ट्रीय आंदोलन का कैसे पराभव हो चुका था और राष्ट्रीय आंदोलन की प्रगति के लिए हिन्दू मुस्लिम मतभेद कितने गंभीर रोड़े बन गए थे। तिलक और कांग्रेस के

उन जैसे धर्मनिरपेक्ष नेताओं ने मुस्लिम नेताओं को शांत किया, स्वतंत्रता संग्राम में वापस लाये और “स्वराज” के लिए मुस्लिम लीग के विश्वास को जीतने के लिए अपने प्रयासों को दुगुना किया। हिन्दू-मुस्लिम एकता को सर्वोपरि मानते हुए तिलक ने 1916 के कांग्रेस-मुस्लिम लीग के समझौते को पक्का करने में सहायता की जो वास्तव में, लीग की सभी मांगों को स्वीकार करता था।

लखनऊ के 31वें कांग्रेस के राष्ट्रीय अधिवेशन के भाषण में अपने धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण को इससे अधिक और क्या स्पष्ट किया जा सकता था जब उसने कहा: “कुछ लोगों के द्वारा कहा जाता है कि हम हिन्दू और मुस्लिम भाईयों के लिए बहुत अधिक झुक चुके हैं। मुझे भरोसा है कि संपूर्ण भारत के हिन्दू समुदाय की भावना का मैं प्रतिनिधित्व करता हूँ, जब मैं यह कहता हूँ कि हमें इतना अधिक नहीं झुकना चाहिए था।” उसने जोर देकर कहा कि वे भारतीय मुस्लिमों को/या कोई भी जाति के भारतीयों को/ ब्रिटिश द्वारा भारत के शासन को सौंपा जाना देखना ज्यादा पसंद करेंगे अपेक्षाकृत भारत में औपनिवेशिक सत्ता के सर्वोपरि की तरह ब्रिटिश के बने रहने के।

यद्यपि मुस्लिम लीग के राष्ट्रीय अधिवेशन के प्रति अमैत्रीपूर्ण रवैया दूर करने के तिलक के प्रयास असफल रहे और उस समय के दौरान लीग की गैर प्रजातंत्रात्मक और अतार्किक मांगों को लेकर तिलक और कांग्रेस के बीच की दूरी काफी बढ़ गई थी। इस बात को नकारा नहीं जा सकता।

इस प्रकार से तिलक के समकालीन मुस्लिमों ने तिलक को सच्चा

“राष्ट्रवादी” माना था। मौलाना शौकत अली और मौलाना हसरत मुहानी जो खिलाफत आंदोलन के पक्के सदस्य और राष्ट्रीय आंदोलन के शुरूआती समर्थक थे, तिलक के प्रशंसक थे, मुस्लिम लीग से जुड़ने तक। देशबंधु चितरंजन दास के विश्वसनीय समर्थक और “सुराजी” मजरूल हक ने तिलक की प्रशंसा की। कांग्रेस के अध्यक्षों में से एक डॉ. अंसारी ने भी स्वीकार किया कि तिलक की दृष्टि हिन्दू प्रभुत्व की नहीं थी।

एक बार मुस्लिम लीग ने विभाजन का रास्ता पकड़ लिया, मुस्लिम लीग के जिन्ना, जो पहले तिलक का मैत्रीवत् आदर करते थे, जैसे पाकिस्तान पक्षधर एवं उत्पाती ने तिलक की निंदा करना शुरू किया, उनको हिन्दू पुनरुत्थानवादी और साम्प्रदायिकवादी कहना शुरू किया।

एक बार मुस्लिम लीग ने विभाजन का मोड़ दृढ़ता से पकड़ा, यह आश्चर्यजनक नहीं था कि पाकिस्तान के चितरे तिलक के विरुद्ध तीक्ष्णता से मुड़ गए और तिलक के बारे में जो कुछ पहले कहा था का खंडन करना शुरू कर दिया। दो-देश नीति को इस प्रकार के खंडन-मंडन की आवश्यकता थी और भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के शुरू के वर्षों में उत्साहवर्धक योगदान देने वाले तिलक के सार्वजनिक जीवन को तंगनजरी से खंडित रूप में प्रस्तुत किया गया।

यद्यपि जिन्ना समान रूप से कांग्रेस/जिसे “हिन्दू” संगठन कहकर त्यागा था/ पर प्रहार करने से चूकते नहीं थे, उनके तिलक के प्रहार कुछेक भारतीय उदारपंथियों में प्रतिछाया स्वरूप पाये जाते थे। परंतु पहले जैसा कहा

गया है, तिलक हिन्दू संस्कृति और दर्शन में रुचि रखने वाले राष्ट्रीय नेताओं में मुश्किल से अकेले ही थे। खास विडम्बना यह थी कि उनके बड़े आलोचक खुद साम्प्रदायिकता में डूबे हुए थे और स्वतंत्र भारत में समाज के विकास और प्रौढ़ता के संबंध में प्रतिक्रियावादी तथा पुराणपंथी दृष्टिकोण रखते थे।

तिलक के भारतीय आलोचक जो उन्हें “जातिवादी” अछूत मानते थे, वे गंभीर रूप से विभ्रान्त या मिथ्यासूचित थे, परंतु संभवतः वे धर्मनिरपेक्षता की हिन्दू-दुर्भीति की भावना के वशीभूत हो चुके थे।

## अहिंसा और तिलक

1908 में भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में तिलक के स्तर के कम ही नेता थे और अनेक मायनों में उनके विचार गांधी के विचारों से आगे थे। कोई भी स्वतंत्रता या उन्नति प्रेमी इस बात से अवगत होगा। अहिंसा पर तिलक के आलेख अग्रिमबुद्धि को प्रकट करते थे। तिलक न तो बंदूक-पूजक थे और न ही हिंसा त्याग के आदर्शवादी।

1908 में उसने देखा कि नागरिक अवज्ञा के द्वारा अहिंसक प्रतिकार ही संघर्ष का उपयुक्त तरीका था क्योंकि उस खास समय में ब्रिटिश के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष के जीतने की संभावनाएं उसने नहीं देखी। परंतु न तो इस शंका से इंकार किया कि एक समय ऐसा आ सकता है कि जब भारतीय जनता सशस्त्र संघर्ष के लिए समर्थ, तत्पर और तैयार होगी, यदि अन्य कोई विकल्प ब्रिटिश को परास्त करने के लिए सफल नहीं होता तो। इस कारण वे सशस्त्र क्रांतिकारी को विधिसम्मत योद्धा एवं शहीद मानते

थे। व्यवहारिक यथार्थवाद के तत्त्वों को निडर त्याग के सिद्धांत के साथ संलग्न करना वह था जिसने युवा तिलक को राष्ट्रीय महत्व के बड़े नेता बनने में परिपक्व किया। उनका सार्वजनिक जीवन बतलाता है कि वे भारतीय जनता के प्रति अपेक्षाकृत अपने धोखेबाज एवं पाखंडी विरोधियों के, ज्यादा स्पष्टवादी और निष्कपट थे।

परंतु वे अपने समकालीनों की तुलना में दांव पेंच एवं रणनीति के मामलों में अधिक जकड़े हुए थे। तिलक ने राष्ट्रहित के लिए धैर्य एवं समर्पण का वह स्तर दिखलाया जो उनके निंदकों से ज्यादा ऊंचा था, वह भारतवासियों को संदेश देने में कतई नहीं हिचकिचाए। यद्यपि शुरू के वर्षों में नजरबंदी ने तिलक की हिम्मत को गंभीर रूप से कमजोर किया पर तिलक जैसे नेता थे जिसने जनता के आंदोलन में जान फूँकी और समय के साथ स्वतंत्रता संग्राम के विस्तार और गूढ होने के लिए भूमि तैयार की।

## References

1. D. Mackenzie Brown. “The Philosophy of Bal Gangadhar Tilak: Karma vs. Jnana in the Gita Rahasya.” Journal of Asian Studies, vol. 17, no. 3. (Ann Arbor: Association for Asian Studies, 1958), 204.
2. D. D. Karve, “The Deccan Education Society” The Journal of Asian Studies, vol. 20, no. 2 (Ann Arbor: Association for Asian Studies, 1961), 206-207.
3. Michael Edwardes, A History of India (New York: Farrar, Straus and Cudahy, 1961), 322.
4. Ranbir Vohra, The Making of India: A Historical Survey (Armonk: M.E. Sharpe, Inc, 1997), 120

5. Encyclopedia of Asian History. “Tilak, Bal Gangadhar,” (New York: Charles Scribner’s Sons And Macmillian Publishing Company 1988), 98.
6. M.V.S. Koteswara Rao. *Communist Parties and United Front - Experience in Kerala and West Bengal*. Hyderabad: Prajasakti Book House, 2003. p. 82
7. Minor Robert (1986) *Modern Indian Interpreters of the Bhagavad Gita*. State University of NY press.
8. Bal Gangadhar Tilak : Edited by M K Singh, Anmol, 2008, viii, 316 p, ISBN : 8126135127, Price : Rs. 900.00 Details
9. Bal Gangadhar Tilak : M.H. Syed, Himalaya Pub, 2011, 305 p, ISBN : 9789350248317, Price : Rs. 650.00 Details
10. Educational Thoughts of Lokmanya T i l a k : S u d h a r m a Joshi, Crescent, 2009
11. Encyclopaedia on Tilak, Vols. I and II : Mahesh Kumar Singh, Anmol, 2009
12. Life and Works of Bal Gangadhar Tilak : S R Sharma, Book Enclave, 2007
13. Lokmanya Tilak : A Biography : A. K. Bhagwat and G.P. Pradhan, Jaico Publishing, 2008
14. Means of Protest: Gandhi and Tilak : Madhvi Tripathi, Yking Books, 2010
15. New Phase of Human Rights : A Study of Tilak and Annie Besant : M.L. Verma, Sarup, 2010
16. Srimad Bhagavadgita Rahasya Or Karma-Yoga-Sastra (2 Vols-Set) : Bal Gangadhar Tilak. Translated by Bhalchandra Sitaram Sukthankar, Low Price, 2002
17. Swaraj as Birth Right : Role of Tilak and Annie Besant : S.R. Bakshi, Vista International, 2006
18. Tilak and Gandhi : Perspectives on Religion and Politics : Jyoti Sharma, Gyan, 2001.

## सामाजिक न्याय : गाँधी की दृष्टि

<sup>1</sup>विपीन कुमार राय

<sup>2</sup>अमृता कुमारी

पौराणिक चिंतनपरंपरा, धार्मिक श्रुतियों, गीता तथा उपनिषद् जैसे महान धर्म ग्रन्थों से अनुप्राणित गाँधी का नाम सामाजिक न्याय के प्रमुख उन्नायकों में आदर के साथ लिया जाता है। गाँधी वेद और उपनिषद् में वर्णित 'श्रेय' और प्रेय की धारणा को स्वीकार करते हुये यह मानते हैं कि व्यक्ति को मात्र संकीर्ण स्वार्थ की प्राप्ति के लिये श्रेय मार्ग से नहीं हटना चाहिये। श्रेय मार्ग वह है जो सामाजिक समरसता, परमार्थ सुखवादी दृष्टिकोण और पर कल्याण की भावना रखता है।<sup>1</sup> जो व्यक्ति मात्र प्रेम को महत्व देता है वह समाज कल्याण मार्ग से विरत हो जाता है।<sup>2</sup>

गाँधी के वैचारिक चिन्तन में सामाजिक न्याय का महत्वपूर्ण स्थान है। तत्कालीन सामाजिक परिदृश्य में सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनैतिक स्तरों पर निहित असमानता एवं अन्यायापूर्ण क्रियाओं से समाज को मुक्त कराने की प्रतिबद्धता में गाँधी इस अवधारणा को भारतीय समाज की मौलिक आवश्यकता के रूप में प्रस्थापित करते हैं। यही कारण था कि गाँधी आजीवन अछूत जाति एवं स्त्रियों के उत्थान कार्यों में लगे रहे। वे जीवन में दो विषयों पर किसी प्रकार का समझौता करने को तैयार नहीं थे, एक स्त्री के अधिकार का प्रश्न एवं दूसरा अछूतों के अधिकार का प्रश्न। जिस समाज का कोई भी भाग मानवीय गरिमा की न्यूनतम आवश्यकताओं से वंचित हो, वह समाज सामाजिक न्याय का विलोम है।

न्यूनाधिक रूप में गाँधी सामाजिक न्याय की प्रतिस्थापना हेतु साध्य और साधन पर विशेष बल देते हैं। उनके अनुसार सामाजिक न्याय की प्राप्ति पवित्र साधनों से ही सम्भव है। जहाँ मार्क्स इसे प्राप्त करने के लिए वर्ग संघर्ष की बात करते हैं, जार्ज सोरेल ध्वसात्मक साधनों को अनुमोदन करते हैं, वहीं गाँधी की दृष्टि में सामाजिक न्याय की शर्त अहिंसा है।

सामाजिक न्याय के आदर्श को प्राप्त करने के लिए उन्होंने सत्याग्रह को एकमात्र साधन के रूप में स्वीकार किया था, और शक्ति के प्रयोग के प्रति असहमति व्यक्त किया था। गाँधी के शब्दों में :

मैंने हमेशा यह विश्वास किया है कि सामाजिक न्याय सबसे नीचे और कमजोर वर्गों के लिए भी शक्ति के द्वारा प्राप्त करना असम्भव है। मैंने आगे यह विश्वास किया है कि सबसे नीचे के व्यक्तियों के अपने प्रति अन्याय के निराकरण हेतु अहिंसा परक साधनों के प्रशिक्षण द्वारा अपने प्रति अन्याय को दूर करना सम्भव है और यह साधन अहिंसक असहयोग है।<sup>3</sup>

गाँधी का यह मानना था कि समाज में कुछ लोग जो अति सम्पन्न हैं उन्हें सामाजिक धरातल के अनुरूप होना चाहिए। जब विकास के संसाधनों एवं सोचों पर कुछ लोगों का एकाधिकार टूटेगा तभी नीचे के लोग अपने जीवन स्तर को ऊँचा उठा पायेंगे। तात्पर्य यह कि सामाजिक न्याय सार्वभौमिक हित के लिए आवश्यक है।<sup>4</sup>

गाँधी के सामाजिक न्याय का आधा नैतिक है। उपनिषदों तथा जैन एवं बौद्ध दर्शन से प्रभावित गाँधी सामाजिक न्याय की प्राप्ति हेतु पंचमहाव्रत का पालन अनिवार्य मानते हैं। ये पंचमहाव्रत हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य।

जहाँ तक सामाजिक न्याय का प्रश्न है गाँधी जी ने न्याय, समानता, ओर स्वतंत्रता के आधार पर एक अहिंसक समाज रचना का सम्पूर्ण जीवन दर्शन प्रस्तुत किया है।<sup>5</sup>

गाँधी का मानना है कि समाज का समर्थवान व्यक्ति जब परार्थसुख एवं सेवा की भावना से सामाजिक शक्ति के प्रतीक गरीब, असहाय एवं निरीह लोगों की सेवा करता है तो समाज के भीतर सामाजिक समरसता एवं प्रेम का संचार होता है। गाँधी वास्तविक प्रेम की परिभाषा इस प्रकार करते हैं कि जो आपसे घृणा करते हैं, उनसे भी प्रेम करना। अपने पड़ोसी से प्रेम करना चाहे वह आप पर भले ही विश्वास न करता हो वह प्रेम किस काम का यदि वह तभी तक बना रहे जब तक कि मित्र का आप पर विश्वास हो।<sup>6</sup>

गाँधी जी की दृढ़ मान्यता है कि सत्य पर आधारित समाज में सामाजिक न्याय की समस्या नहीं रह जाती। गाँधी जी का

<sup>1</sup>(शोधप्रज्ञ इतिहास)

<sup>2</sup>(शोधप्रज्ञ राजनीतिशास्त्र), जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा।

सत्य के प्रति प्रेम, उनका वेदों व उपनिषदों के प्रति अगाह श्रद्धा का परिणाम रहा है। ऋग्वेद में सत्य शब्द का प्रयोग ऋत् के समानार्थक हुआ है।<sup>7</sup> ऋग्वेद में कहा गया है कि- वाणी के द्वारा सत्य व्यवहार की क्षमता मुझे प्राप्त है।<sup>8</sup> ऋग्वेद में भी यह माना गया है कि- वही सत्यवाणी मेरी रक्षा करे।<sup>9</sup> वैदिक काल में सत्य को पृथ्वी, जल, तेल, वायु, आकाश आदि का आधार माना गया है।<sup>10</sup> वैदिक युग में सत्यवादी को नहीं अपितु सत्य कर्म करने वाले को अधिक महत्व दिया गया है।<sup>11</sup> ब्राह्मण एवं अरण्यक दर्शन में तो सत्य को ब्रह्म की संज्ञा दी गयी है।<sup>12</sup>

और कहा गया है कि आत्मा सत्य है।<sup>13</sup> उपनिषद् के मंत्रों में सत्य को ज्ञान और अनन्त आनन्द के साथ ब्रह्म का स्वरूप माना गया है।<sup>14</sup> प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है कि- जो व्यक्ति असत्य भाषण करता है वह निश्चय पूर्वक मूलसहित सूख जाता है।<sup>15</sup> अर्थात् उसका समूल नष्ट हो जाता है। श्रीमद्भागवत गीता में सत्य का प्रयोग प्रिय और हित के साथ हुआ है।<sup>16</sup> गीता में कहा गया है कि “असत् का अस्तित्व नहीं है और सत् का नाश या अभाव नहीं होता है।”<sup>17</sup>

जैन एवं बौद्ध दर्शन में सत्य को एक महाव्रत के रूप में मान्यता मिली है। जैन दर्शन में कहा गया है कि सत्य में धृति स्थिति है।<sup>18</sup> सत्य का साधक सुख-दुःख में एक समान रहता है वह किसी भी परिस्थिति में न तो धबड़ाता है और न ही विचलित होता है।<sup>19</sup> बौद्ध दर्शन का आधारस्तम्भ ही चार आर्यसत्य है। जिसमें भिक्षुओं से प्रिय तथा सत्य वचन बोलना चाहिये।<sup>20</sup> कामनाओं के निमित्त मनुष्य का असत्य कभी नहीं बोलना चाहिये।<sup>21</sup> इस प्रकार बौद्ध दर्शन में भी सत्य एवं प्रिय वाणी का समर्थन

किया गया है। पतंजलि योगसूत्र में भी अहिंसा, अस्तेय और अपरिग्रह के साथ-साथ सत्य को भी एक यम के रूप में स्वीकार किया गया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य ये पाँच यम हैं।<sup>22</sup>

गाँधी जी ने अस्तेय को अहिंसा तथा सत्य को सहायक व्रत के रूप में स्वीकार किया है।

उनके अनुसार- किसी एक चीज की हमें जरूरत नहीं है, फिर भी वह जिसके कब्जे में हो उससे, चाहे उसकी इजाजत लेकर ही, लेना चोरी है। जिसकी जरूरत न हो ऐसी एक भी चीज हमें नहीं लेनी चाहिये। अस्तेय व्रत पालने वाला एक के बाद एक अपनी हाजते कम करता जायेगा। इस जगत में बहुत सी कंगाली अस्तेय के भंग से पैदा हुई है।<sup>23</sup>

गाँधी जी ने अपने चौथे व्रत अपरिग्रह का संबंध अस्तेय से बताया है। गाँधी जी कहते हैं कि- “जो माल असल में चुराया नहीं है उसे जरूरत न होने पर भी जमा करने से वह चोरी का माल सा बन जाता है। परिग्रह के माने हैं संचय यानि इकट्ठा करना। सत्य की खोज करने वाला अहिंसा बरतने वाला परिग्रह नहीं करता। परमात्मा परिग्रह नहीं करता। अपने लिये जरूरी चीज वह रोज की रोज पैदा करता है इसीलिये अगर हम उस पर भरोसा रखते हैं तो हमें समझना चाहिये कि हमारी जरूरत की चीजें वह रोजना देता है, देगा।<sup>24</sup> इस तरह से यदि गाँधी जी के अपरिग्रह व्रत का पालन करते हुये सब लोग अगर अपनी जरूरत की चीजों का ही संग्रह करें तो जगत में सामाजिक असमानता और उसमें से पैदा होने वाले सभी प्रकार के दुःख स्वतः ही नष्ट हो जायेंगे। और विभिन्न नियोग्यताओं से पीड़ित समाज के असहाय

लोगों की आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु एक न्यायसंगत वितरण सुनिश्चित किया जा सकेगा जो सामाजिक न्याय की दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त है। गाँधी जी स्पष्ट करते हैं कि- अपरिग्रही मनुष्य निरंतर श्रम करते हुये भी समाज से उतना ही ग्रहण करे जितना उसके जीवन के लिये अनिवार्य होय शेष सब कुछ उसे समाज के कल्याण के लिये समर्पित कर देना चाहिये।<sup>25</sup> गाँधी जी का पाचवाँ महाव्रत ब्रह्मचर्य है। वे ब्रह्मचर्य को केवल कामेच्छा निरोध तक ही सीमित नहीं मानते। उनका कथन है कि- “मन, वचन एवं कर्म से सभी समयों में, तथा सभी स्थानों पर अपनी समस्त इन्द्रियों का पूर्ण संयम अथवा नियंत्रण ही ब्रह्मचर्य है।”<sup>26</sup> ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला निःस्वार्थ भाव से समाज के लिये जीता है और उसका प्रेम सर्वव्यापी होता है। जैसे ही वह इन्द्रियों के वश में होकर तामसिक भोजन, कामोत्तेजक वस्तुओं, दृश्यों स्पर्श तथा गंध आदि के प्रति संकुचित होने लगता है और वह अपने और परायें में भेद करने लगता है ऐसे में सामाजिक अन्याय, शोषण, अत्याचार व दमन जैसी अनेक सामाजिक बुराइयों जन्म लेने लगती हैं और हम सामाजिक न्याय के मूल लक्ष्यों से दूर हो जाते हैं।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है ब्रह्म की-सत्य की खोज में चर्चा।<sup>27</sup> अर्थात् उसके अनुरूप आचरण एवं व्यवहार करना। ब्रह्मचर्य व्रत का भली-भाँति पालन करने वाला वासनात्मक विचारों का परित्याग करके पवित्र विचारों का विकास करता है और सामाजिक हितों के कार्य में अपना सारा जीवन अर्पित कर देता है। ऐसे समाजों में कोई किसी का शोषण नहीं करता है और सामाजिक सरोकारों के प्रति सभी संवदनशील होते हैं। परिणामस्वरूप सामाजिक न्याय की प्रतिस्थापना स्वतः ही हो जायेगी।

## सन्दर्भ

1. श्रिये श्रेयांसस्त वसोरथेशु- ऋग्वेद 5-6 -:4
2. प्रेयः (काम के प्रति अतिशय लगाव)- कठोपनिषद् 2.1.2
3. हरिजन, 20 अप्रैल, 1940.
4. वारडोली, 13.12.1941.
5. सिंह, राम जी, गाँधी विचार और सामाजिक पुनर्रचना, मिश्रा ट्रेडिंग कारपोरेश, वाराणसी 1997, पृ.नं. 151.
6. हरिजन, 3 मार्च 1946 पृ. 28.
7. “ऋतं च सत्यं चामीद्धात्तयसोडध्यजाक्त्” - ऋग्वेद, 1/190/1.
8. “वाचः सत्यमशीप---।” - यजुर्वेद, 34/4.
9. “सा मां सत्योक्तिः परिपातु।” ऋग्वेद, 10/37/2.
10. “सत्येनीत्तमिता भूमिः।”- ऋग्वेद, 10/85/1.
11. “सत्यं नदन्तसत्य कर्मना।” - ऋग्वेद, 1/113/4.
12. “सत्यमेश ब्रह्म।”-सत्पथ ब्राह्मण, 2/1/4/10.
13. “सत्यं च आत्मा।” - तैत्तिरीय ब्राह्मण, 3/7/7.
14. “सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म।” - तैत्तिरीय उपनिषद्, 2/1.
15. “समूलो वा एष परिशुष्यति योश्चतमभिवदति।”- प्रश्नोपनिषद् 6/1.
16. “अनुद्धेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं चयत्।” - गीता, 17/15.
17. “नासतो विद्यतेभावो ना भावो विद्यते सतः।- गीता 2/16.
18. “सच्चामि धिईं कुण्ण्वह।” - आचारांग सूत्र, 1/3/2.
19. “साहियो दुक्खमत्राये पुो नो झंझायें।” आचारांग सूत्र, 1/3/3.
20. “प्रिय एव भासाति नो अप्पियं। सच्चयेंव भासति नो अलिकं,” - सूत्तनिकाय, 29/1.
21. “न कामकामा अलिकं भणन्ति।” सूत्त निकाय, 14/1.
22. “अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्या परिग्रहायमा।।” योगसूत्र 2/30.
23. गाँधी, मोहन दास, मंगल प्रभात (अनु. अमृतलाल ठाकोर दास) नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 1958, पृ. 27.
24. वहीय पृ. 29.
25. वर्मा, वेद प्रकाश, नीतिशास्त्र के मूलसिद्धांत, एलाइड पब्लिशर्स लिमिटेड, तृ. संस्करण, नई दिल्ली, 1992, पृ. 369.
26. वही, पृ. 369.
27. गाँधी, मोहनदास, मंगल प्रभात (अनु. अमृतलाल ठाकोरदास) नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 1958, पृ. 20.

## राजनीति विज्ञान पर कुछ बेहतरीन पुस्तकें

- भारत का संविधान
- भारतीय राजनीतिक व्यवस्था: दशा एवं दिशा
- राजनीति के प्रमुख वाद
- नौकरशाही एवं विकास
- भूमंडलीकरण : विविध आयाम
- प्रजातंत्र
- धर्म निरपेक्षता की आवश्यकता
- सामाजिक संरचना
- भारतीय राजनीति : उभरते मुद्दे
- दलीय व्यवस्था तथा राजनीतिक प्रक्रिया
- राजनीतिक वादों का अध्ययन
- भारतीय शासन एवं राजनीति
- भारत में सामाजिक आन्दोलन
- भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

## पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर, दिल्ली-110053  
फोन : 9811710900

# तुलसीदास की भक्ति में लोक

मोहन चौबे

भक्ति आंदोलन एक ऐसी साझी लोक संस्कृति को उत्पन्न करने में समर्थ हुआ जिसमें एक ओर हिन्दू-मुसलमान भावनाएं लोक-सांस्कृतिक धरातल पर पारस्परिक संवाद करते हुए समन्वित हो रही थीं, तो दूसरी ओर राजनैतिक शक्तियों की दमनकारी नीतियों के विरुद्ध संघर्ष कर रही थी। साथ ही यह धर्म के नाम जो आडंबर फैला रखे गए थे उन सबके विरुद्ध संघर्ष कर रही थी। इसने छुआछूत, जाति-व्यवस्था के क्रूर बंधनों, विभिन्न धर्मों के संघर्ष को समाप्त भले ही नहीं कर दिया हो परंतु उन पर आघात करके उसके बंधनों को ढीला अवश्य कर दिया था। संक्षेप में भक्ति एक ओर सांस्कृतिक समन्वय का सूत्रपात और दूसरी ओर रूढ़ियों के विरुद्ध संघर्ष का आंदोलन था।

इस भक्ति आंदोलन का लक्ष्य लोक है। चाहे वह दक्षिण भारत का भक्ति आंदोलन हो या उत्तर भारत का दोनों की मूल पहचान लोकोन्मुखता है। तुलसीदास की भक्ति-चेतना के केंद्र में भी लोक ही है। तुलसीदास ने लिखा है कि सबसे बड़ा धर्म दीनों की सेवा है और सबसे बड़ा पाप है। उनका उत्पीड़न—  
“पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।”

डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है कि “आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण करने वाले कर्मों की ओर जनता को भक्त कवि ले गए। इसलिए भक्तिकाल को लोकजागरण काल कहना उचित होगा।”<sup>2</sup> इस कथन को तुलसीदास के उपरोक्त कथन से मिलाकर देखने से स्थिति स्पष्ट हो जाती है। दूसरों को पीड़ा देना दुनिया का सबसे बड़ा पाप है। अब अगर कोई किसी को पीड़ा न दे तो दुनिया का क्या कहना! तुलसीदास ने यह व्यवस्था अथवा आदर्श सिर्फ व्यक्ति के लिए नहीं रखी है। वे इसे राजनीति और शासन पर भी लागू करते हैं। अयोध्याकांड में संभवतः इसी कारण उन्होंने राम से लक्ष्मण को कहलवाया है—

“जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी।”<sup>3</sup>

पीड़ा से मुक्ति इनकी मूल चेतना है। तुलसीदास इस तथ्य को समझते थे कि पीड़ा के कई रूप होते हैं। उन्होंने बार-बार त्रितापों का उल्लेख किया है। ये त्रिताप हैं—दैहिक, दैविक, भौतिक। दैहिक और भौतिक त्रिताप स्पष्टतः इस समाज के मनुष्यों के खुद के कार्यों और सामाजिक नियम कानून से उत्पन्न हुए हैं। दैविक तापों की बहुत हद तक जिम्मेदारी मनुष्य की ही है। तुलसीदास ने उत्तरकांड में लिखा है—

“बड़े भाग मनुष्य तनु पावा। सुर दुलर्भ सब ग्रंथन्हि गावा ॥ साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाई न जेहिं परलोक संवारा ॥”

मनुष्य रूप में जन्म बड़े सौभाग्य से मिलता है। सभी ग्रंथों में कहा गया है कि यह मानव शरीर देवताओं को भी दुलर्भ है। यह शरीर ही साधन का धाम और मोक्ष का द्वार है। साधन का धाम अर्थात् मनुष्य के श्रम की शक्ति। चाहे वह श्रम के किसी भी श्रेणी द्वारा अपने लिए मार्ग प्रशस्त करे। आधुनिक विज्ञान भी इस तथ्य को रेखांकित करता है कि जिन्हें हम दैवी आपदाएं कहते हैं वे मानव की अपनी गलतियों का परिणाम हैं। बाढ़, सूखा आदि का सीधा संबंध पर्यावरण के विनाश से है।

दूसरी ओर पूरे ‘रामचरितमानस’ को ही एक रूपक मानें तो इसके चरित्र नायक राम ने अपनी संघर्ष क्षमता द्वारा ही अपना उदात्त स्वरूप पाया है। राम और लक्ष्मण के समान ही सुख-सुविधाओं का त्याग भरत ने भी किया परंतु उन्हें इतनी उदात्तता नहीं मिल पाई। दोनों में स्पष्ट विभाजक रेखा श्रम और संघर्ष से प्राप्त किए गए उदात्त चरित्र का ही है।

तुलसीदास के राम जिस लोक में प्रतिष्ठित किए गए हैं, वह सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी का भारत है और यह युग नाना प्रकार की विषमताओं से ग्रस्त था। तुलसीदास इस व्यवस्था से समझौता नहीं करते वरन् बार-बार उसका प्रतिकार करते हैं। ऐसा उनके साहित्य में बार-बार हुआ है। कहीं यह प्रतिकार प्रत्यक्ष है और कहीं परोक्ष। तुलसीदास की भक्ति, उनकी लोक चेतना और उनका विद्रोह सभी सामंती व्यवस्था की विषम परिस्थितियों में उत्पन्न हुआ था। कहा जाता है कि एक बार अकबर ने तुलसीदास को मनसबदार बनाने की कोशिश की थी, इसे कवि ने यह कहते हुए अस्वीकार कर दिया था—

“हैं चाकर रघुबीर को पटौ लिख्यो दरबार  
तुलसी अब का होहिंगे नर के मनसबदार ॥”

यही नहीं कि तुलसीदास सिर्फ मनसब लेने से इंकार करते हैं। तुलसीदास के अनुसार कवियों ने संसारी मनुष्य की प्रशंसा में छंद लिखे हैं, इसलिए सरस्वती सिर धुनकर पछताने लगी—

“कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगत पछिताना ।।<sup>5</sup>

वे रामभक्त हैं। उन्हें किसी के सामने न हाथ फैलाना चाहिए, न सिर झुकाना चाहिए। तुलसी के राम दीनबंधु हैं। इन दीनों में समाज के हर वर्ग के लोग सम्मिलित हैं। वे राजाओं, सामंतों, धनी लोगों के सामने हाथ पसारने वालों में आत्म सम्मान का भाव जगाना चाहते हैं। वे कहते हैं कि मांगना है तो राम से मांगो, वह सब कुछ देगा—

“जाचै को नरेस, देसदेस को कलेस करै,

दैहे तो प्रसन्न हवै बड़ी बड़ाई बौडिये ।

कृपानाथ लोकनाथ नाथ सीतानाथ,

तजि रघुनाथ हाथ और कहि ओडिये ।”<sup>6</sup>

राम का भरोसा होने से उन्हें मनुष्य की दासता से मुक्ति मिलती है—

“जग में गति जाहि जगत्पति की, परवाह है ताहि कहा नर की”

मध्ययुगीन सामंती व्यवस्था को देखते हुए यह कम बड़ा विद्रोही तेवर नहीं है। उन्होंने सिर्फ शासन व्यवस्था का विरोध नहीं किया है, अपितु तदयुगीन समाज में फैली अनेक बुराईयों पर अपने स्पष्ट विचार व्यक्त किए हैं। तुलसीदास को प्रगति का प्रतिगामी मानने वाले तमाम विद्वान दो मुख्य मुद्दे उठाते हैं। उन पर पहला आरोप यह लगता है कि वे वर्णाश्रम धर्म और ब्राह्मणवाद के समर्थक थे तथा दूसरा आरोप स्त्रियों और शूद्रों के विरोध का लगता है। पहले पक्ष के समर्थन में तुलसी विरोधी विद्वान इस पद को उद्धृत करते हैं।—

“बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्ह ते कछु घाटि ।

जाइन ब्रह्म सो बिप्रवर आखि देखावहिं डाटि ।।<sup>7</sup>

अथवा

पूजिए त्रिप सील गुन हीना । सूद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना ।।<sup>8</sup>

इसी प्रकार दूसरे मत के समर्थन में बारम्बार उद्धृत पद है—

“ढोल गंवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी ।”<sup>10</sup>

परंतु तुलसीदास के साहित्य में इसके भी पर्याप्त उदाहरण मिल जाते हैं जहां वे जाति व्यवस्था का विरोध करते हैं और नारी परतंत्रता को दुखपूर्ण बताते हैं। अपनी विनम्रता के साथ पहले तो तुलसीदास यही कहते हैं कि अपनी रुचि के अनुसार जो चाहे मुझे धूर्त कहे, अवधूत कहे, राजपूत कहे, जुलाहा कहे, तो कहा करे। मुझे किसी की जाति नहीं बिगाड़नी है, किसी की बेटी से अपने का ब्याह नहीं करना है। राम का गुलाम हूं, मांग कर खा लूंगा, मुझे न किसी से कुछ बोलना है और न किसी को कुछ देना है—

“धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोउ ।

काहू की बेटीसों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगार न सोऊ ॥

तुलसी सरनाम गुलामु है राम को, जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ ।

मांगि के खैबो, मसीत को साइबो, लैबो को एकु न दैव को दोऊ ॥”<sup>11</sup>

डॉ. रामविलास शर्मा ने उचित ही कहा है कि “यह समझने का कोई कारण नहीं दिखाई देता कि केवल अपनी दीनता से इष्टदेव को प्रभावित करने के लिए उन्होंने यह लिख दिया है। इसी तरह ‘लालची ललात बिललात द्वार दीन, बदन, मलीन मिटे न बिसूरना’ आदि में अत्युक्ति हो सकती है, लेकिन तुलसी ने, निर्धन और अकुलीन बालक को जो

अपमान सहना पड़ता है, उसे स्वयं सहा था, इसमें कोई संदेह नहीं। और यह अपमान बालपन तक सीमित न था। जैसे-जैसे उनकी लोकप्रियता बढ़ती गई, वैसे-वैसे उनका विरोध भी बढ़ा। जब लोक उनकी जाति-पाति की चर्चा करके उनका उपहास करते थे, तब तुलसीदास यही कहकर जवाब देते थे कि जो गोत्र राम का है, वही गोत्र उनके सेवक का है। जो लोक समझते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास शूद्रों पर ब्राह्मणों के प्रभुत्व का समर्थन करते थे, वे भूल जाते हैं कि उन्होंने स्वयं इस प्रभुत्व का कटु अनुभव किया था।”<sup>12</sup>

इस प्रकार तुलसीदास की भक्ति में लोकपरकता विद्यमान है। वह अपनी व्यापकता में लोक की चिंताओं को समेट लेता है। तुलसी की रामराज्य की परिकल्पना इसी लोकचिन्ता का परिणाम है जहां सभी लोग सभी प्रकार के दुखों एवं कष्टों से मुक्त है। इसलिए तुलसी की भक्ति लोक धर्म एवं लोकमंगल से युक्त भक्ति है।

1. 10/1, उत्तरकांड—रामचरितमानस
2. पृ. 10, (भूमिका)—लोकजागरण और तुलसीदास—रामविलास शर्मा
3. 10/3, अयोध्याकांड—रामचरितमानस
4. 42/4, उत्तरकांड—रामचरितमानस
5. 10/4, बालकांड—रामचरितमानस
6. 25, उत्तरकांड—कवितावली
7. 27, उत्तरकांड—कवितावली
8. 99, (ख)—उत्तरकांड—रामचरितमानस
9. 33/1, अरण्यकांड—रामचरितमानस
10. 58/3, सुंदरकांड—रामचरितमानस
11. 106, उत्तरकांड—कवितावली
12. पृ. 452, भारतीय सौंदर्य बोध और तुलसीदास—रामविलास शर्मा।

## प्राचीन हिन्दी काव्य में गंगा नदी

डॉ. दिलीप कुमार श्रीवास्तव

भारत की राष्ट्र नदी गंगा जीवन ही नहीं, अपितु मानवीय चेतना को भी प्रवाहित करती है। हिन्दी काव्य साहित्य के आदि महाकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' में 'गंगा' नदी की चर्चा अनेक प्रसंगों में की गई है—

इंदो किं अंदोलिया अमी ए चक्कीवं गंगा सिरे।

एतने चरित्र ते गंग तीरे।

आदिकाल के दूसरे प्रसिद्ध ग्रंथ 'वीसलदेव रासो' (नरपति नाल्ह) में गंगा का संपूर्ण ग्रंथ में केवल दो बार उल्लेख हुआ है—

कई रे हिमालइ माहिं गिलउं

कइ तउ झंफघडं गंग-दुवारि ।

बहिन दिवाऊं राइ की ।

थारा व्याह कराबुं गंग नई पारि ।

आदिकाल का सर्वाधिक लोक विश्रुत ग्रंथ जगनिक रचित 'आल्हखण्ड' में गंगा, यमुना और सरस्वती का उल्लेख है। कवि प्रयागराज की इस त्रिवेणी को पापनाशक बतलाया है—

प्रागराज सो तीरथ ध्यावौं । जहँ पर गंग मातु लहराय ॥

एक ओर से जमुना आई । दोनों मिलीं भुजा फैलाय ॥

सरस्वती नीचे से निकली । तिरबेनी सो तीर्थ कहाय ॥

.....  
सुमिर त्रिबेनी प्रागराज की । मज्जन करे पाप हो छार ॥

शृंगारी कवि विद्यापति ने अपने पदों में गंगा, यमुना का उल्लेख किया है। कवि ने शृंगार वर्णन में गंगा की चर्चा अनेक स्थलों पर की है—

मनिमय हार धार बहु सुरसरि तओ नहिं सुखाई ॥

.....  
काम कम्बु भरि कनक सम्भु परि ढारत सुरसरि धारा ॥

.....  
भसम भरल जनि संकट रे, सिर सुरसरि जलधार ॥

अनेक विद्वान विद्यापति को गंगा जी का भक्त बतलाते हैं। कवि ने गंगा स्तुति भी की है—

कर जोरि बिनमओं बिमल तरंगे ।

पुन दरसन हो पुनमति गंगे ॥

विद्यापति ने परम पवित्र गंगा का बड़ा ही मनोहारी चित्रण किया है। वे काली, वाणी, कमला और गंगा को एक ही देवी मानते हैं—

कज्जल रूप तुअ काली कहिएए, उज्जल रूप तुअ बानी ।

रविमंडल परचण्डा कहिएए, गंगा कहिएए पानी ॥

विद्यापति सागर नागर की गृहबाला शरणागत वत्सला गंगा का वर्णन करते हुए कहते हैं—

ब्रह्म कमण्डलु वास सुवासिनि सागर नागर गृह बाले ।

पातक महिस बिदारन कारन घृत करवाल बीचि माले ।

जय गंगे जय गंगे शरणागत भय भंगे ॥

'कबीर वाणी' और जायसी के 'पद्मावत' में भी गंगा का उल्लेख मिलता है, किन्तु सूरदास और तुलसीदास ने भक्ति भावना से गंगा-महात्म्य का वर्णन विस्तार से किया है। 'सूरसागर' के नवम स्कन्धा में श्री गंगा आगमन वर्णन है—

सुकदेव कह्यो सुनौ नरनाह । गंगा ज्यों आई जगमांह ॥

कहाँ सो कथा सुनौ चितलाइ । सुनै सो भवतरि हरि पुर जाइ ॥

सूरदास के अनुसार राजा अंशुमाल और दिलीप के तप करने पर भी गंगा ने वर नहीं दिया, किन्तु भगीरथ के तप से गंगा जी ने दर्शन दिया—

अंसुमान सुनि राज बिहाइ। गंगा हेतु कियो तप जाइ ॥

याही विधि दिलीप तप कीन्हों। पै गंगा जू वर नहिं दीन्हों ॥

बहुरि भगीरथ तप बहु कियो। तब गंगा जू दरसन दियो ॥

.....  
गंगा प्रवाह माहि जो न्हाइ। सो पवित्र है हरिपुर जाई ॥

महाकवि तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' कवितावली और विनय पत्रिका आदि में गंगा के महात्म्य का उल्लेख अनेक प्रसंगों में किया है—

राम भक्ति जहं सुरसरि धारा। सरसइ ब्रह्म बिचारि प्रचारा ॥

.....  
सिय सुरसरहिं कहेउ कर जोरी। मातु मनोरथ पुरउबि मोरी ॥

कीरति भनिति भूति भल सोई। सुरसरि सम सब कहं हित होई ॥

.....

चंवर जमुन अरु गंग तरंगा। देखि होंहिं दुख दारिद भंगा ॥

रामचरित मानस में गंगा को पतित-पावनी, दारिद्र्य-नसावनी, मुक्ति-प्रदायिनी और सबका कल्याण करने वाली बतलाया गया है।

‘कवितावली’ में गंगा को विष्णुपदी, त्रिपथगामिनी और पापनाशिनी आदि कहा गया है—

जिनको पुनीत वारि धारे सिर पे मुरारि ।

त्रिपथगामिनी जसु वेद कहैं गाई कै ॥

गोस्वामी तुलसीदास ने कवितावली के उत्तरकाण्ड में ‘श्री गंगा माहात्म्य’ का वर्णन तीन छन्दों में किया है—इन छन्दों में कवि ने गंगा दर्शन, गंगा स्नान, गंगा जल सेवन, गंगा तट पर बसने वालों के महत्त्व को वर्णित किया है—

कवि का विचार है कि जिस मनुष्य ने गंगा स्नान के लिए मन में निश्चय मात्र कर लिया, उसकी करोड़ों पीढ़ियों का उद्धार हो गया। उनके लिए देवांगनाएं झगड़ती हैं, देवराज इन्द्र विमान सजाते हैं, ब्रह्मा पूजन की सामग्री जुटाते हैं और उसका विष्णु लोक में जाना निश्चित हो जाता है—

देवनदी कहं जो जन जान किए मनसा कहुं कोटि उधारे ।

देखि चले झगरैं सुरनारि, सुरेस बनाइ विमान सवारे ।

पूजा को साजु विरंचि रचैं तुलसी जे महातम जानि तिहारे ।

ओक की लोक परी हरि लोक विलोकत गंगा। तरंग तिहारे ॥

(कवितावली-उत्तरकाण्ड 145)

वास्तव में सर्वव्यापी परमब्रह्म परमात्मा जो ब्रह्मा, शिव और मुनिजनों का स्वामी है, जो संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण है, वही गंगा रूप में जल रूप हो गया है—

ब्रह्म जो व्यापक वेद कहैं, गुमनाहिं गिरा गुन-ग्यान-गुनी को ।

जो करता, भरता, हरता, सुर साहेबु, साहेबु दीन दुखी को ।

सोइ भयो द्रव रूप सही, जो है नाथ विरंचि महेश मुनी को ।

मानि प्रतीति सदा तुलसी, जगु काहे न सेवत देव धुनी को ॥

(कवितावली-उत्तरकाण्ड 146)

कवि गंगा तट पर बसने का अभिलाषी अवश्य है; किन्तु वह गंगा दर्शन के प्रभाव से बचना चाहता है—

बारि तिहारो निहारि मुरारि भएं परसें पद पापु लहौंगो।

ईस ह्वै सीस धरौं पै डरौं, प्रभु की समतां बड़े दोष दहौंगो ।

बरु बारहिं बार सररी धरौं, रघुबीर को ह्वै तव तीर रहौंगो ।

भागीरथी! बिनवौं कर जोरि, बहोरि न खोरि लगै सो कहौंगो ॥

(कवितावली-उत्तरकाण्ड 147)

तुलसीदास ने ‘विनयपत्रिका’ के चार पदों में गंगा स्तुति की है। तीन पदों में उन्होंने गंगा के विविध नामों का वर्णन करके नाम-स्मरण का प्रभाव दिखलाया है।

चौथे पद में गंगा के गुणकथन करते हुए तुलसी कहते हैं—

ईस-सीस बससि, त्रिपथ लससि, नभ-पाताल धरनि ।

सुर-नर-मुनि-नाग-सिद्ध-सुजन मंगल करनि ॥

देखत दुख-दोष-दुरित-दाह-दारिह-दरनि ।

सगर-सुवन-सांसति-समनि, जलनिधि जल भरनि ॥

महिमा की अवाधि करसि बहु बिधि-हरि-हरनि ।

तुलसी करु बानि बिमल, बिमल बारि बरनि ॥

भगीरथनंदिनी, विष्णुपदसरोजजा और जाह्नवी के रूप में गंगा नर-नागों, देवताओं और ऋषिओं मुनियों के लिए वंदनीय है। गंगा के उदभव (विष्णुपद) वास (ब्रह्म कमण्डल), विकास (भगीरथ नंदिनी), प्रवाह (जाह्नवी) एवं प्रभाव (कल्पथालिका) का वर्णन दृष्टव्य है—

जय जय भगीरथ नन्दिनि, मुनि-चय-चकोर चन्दिनि,

नर नाग विविध-वन्दिनि जय जन्हु बालिका ।

त्रिपथगासि, पुन्यरासि पाप-दालिका ।

बिमल बिपुल बहसि बारि, सीतल त्रय ताप हारि,

भंवर बर त्रिभंगतर तरंग मालिका ।

पुरजन पूज्योपहार सोभित ससि धवल धार,

भंजन भव-भार भक्ति कल्प थालिका ।

निजतट बासी बिहंग जल-थल चर पसु पतंग,

कीट जटिल तापस सब सरिस पालिका ॥

## सन्दर्भ

1. प्राचीन एवं मध्यकालीन हिन्दी काव्य विविध संदर्भ : एस.पी. शर्मा
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ला निबंध-संरचना और काव्य चिंतन: योगेन्द्र प्रताप सिंह
3. प्राचीन ब्रज भाषा काव्य : रमाशंकर सिंह
4. प्राचीन हिन्दी काव्य और कवि: रमेश प्रसाद।

## समकालीन गीतकारों की रचना दृष्टि

रणविजय पासवान

प्रत्येक विधा के रचनाकार की अपनी रचना-दृष्टि होती है। यह रचना-दृष्टि स्वयं रचनाकार द्वारा रचित रचनाओं के द्वारा संकेतित होती है जिसमें एक से अधिक विधाओं का समावेश हो सकता है और इस प्रकार, उसकी रचना-दृष्टि परोक्षतः या प्रत्यक्ष रूप से व्यक्त हो सकती है। इस संदर्भ में, मैं यहां पर समकालीन गीतकारों को लूंगा और उनके गीतों के द्वारा प्राप्त रचना-दृष्टि को आरेखित करने का प्रयत्न करूंगा। उनके गीत-सृजन के उन अंशों का संकेत होगा जो उनके दृष्टिकोण को संकेतित कर सके। गीत की अवधारणा के बारे में वह क्या स्वीकार कर रहा है, यह गीत के अंशों के द्वारा व्यक्त होगा और इस प्रकार, गीत के ऐतिहासिक महत्त्व का भी दिग्दर्शन होगा। यही नहीं वरन गीतकार अपने अस्तित्व को भी अर्थ देगा तथा रचना के स्तर पर अपने सोच-संवेदन को भी संकेतित करेगा।

समकालीन गीतकारों ने गीत के ऐतिहासिक महत्त्व तथा उसके परिदृश्य पर यदा-कदा संकेत किए हैं, वे गीत की संरचना के माध्यम से व्यक्त हुए हैं। यह एक ज्वलंत सत्य है कि साहित्य के क्षेत्र में गीत का अस्तित्व किसी न किसी रूप में रहा है। इस तथ्य को कवि प्रत्यक्ष न कहकर कबीर, सूर तथा मीरा बाई के माध्यम से कहता है, और यह सत्य प्रकट करता है कि कविता (साहित्य) के परिदृश्य से उन्हें नकारा नहीं जा सकता है—

साथ कबीर, सूर मीरा बाई होगी

तब तक कविता से गीत की नहीं विदाई होगी। (नचिकेता)

यह भी एक सत्य है कि समय के अनुसार गीत की संरचना में परिवर्तन आए हैं जो एक ऐतिहासिक सत्य है। आज स्थिति यह है कि गीत की संवेदना और संरचना में अंतर आया है, वह भी वैश्विक स्तर पर। यही कारण है कि गीत की संरचना पूर्व के कालों से भिन्न हो गई है। अतः आज का गीत अपनी संवेदना और सृजन में कुछ अनिश्चित और अनमना हो गया है जिसके कारण गीत की संरचना में एक भूचाल-सा आ गया है। यह भूचाल कवि द्वारा निर्मित नए छंदों

ग्राम पचीस कुरवा, पो. हाजीपुर, वैशाली

के प्रयोग से आया है और साथ ही, कथ्य की दृष्टि से। यह सारी स्थिति है तो एक अगम-गति पर इस गति के आगे गीत या किसी भी विधा को अपने तरीके से सामना करना पड़ेगा जो समय की आवश्यकता भी है और नियति भी—

वैश्विक फलक पर

गीत की संवेदना है अनमनी

तुम लौट जाओ

प्यार के संसार में मायाजनी

इस अगम गति की चाल में

भूचाल की है रागिनी! (दिनेश सिंह)

गीत की संरचना में अंतर का महत्त्व रहा है और यह अंतर बाह्य घटनाओं के द्वंद्व के प्रकाश में घटित होता है और ये घटनाएं मूलतः अंतर के द्वंद्व को गति देती है। यही कारण है कि बाह्य घटनाओं का द्वंद्व जितना तीव्र होगा, उसी की सापेक्षता में अंतर का द्वंद्व भी तीव्र होगा। अतः गीत की संरचना में बाह्य और अंतर का सापेक्ष एवं द्वंद्वत्मक संबंध है। एक गीतकार गीत (या रचना को) को मात्र अंतर से संबंधित करता है, पर सत्य तो यह है कि यह आंतरिक बिंब उस समय तक अधूरा रहेगा जब तक वह बाह्य से संबंधित नहीं होगा। गीत को निम्न संरचना में गीतकार ने मात्र अंतर के महत्त्व को स्वीकार किया है जो मेरे विचार से सत्य का केवल...पक्ष है। फिर भी गीतकार ने अंतर के बिंब को झाड़ी में छिपे चिड़िया के द्वारा व्यक्त किया है जो अत्यंत सटीक एवं व्यंजनात्मक है—

गीत

सात रंगों का झरना

झरता मन के भीतर

अथवा कोई, चिड़िया चहक रही

झाड़ी में छिपकर। (नचिकेता)

गीत के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में शब्द का अपना महत्त्व रहा है और यह महत्त्व सामान्य रूप से सभी जन-क्षेत्रों में अपनी भूमिका अदा करता रहा है। गीत और साहित्य के सभी क्षेत्रों में शब्द मात्र नहीं रहा जाता है, वरन वह किसी न किसी अर्थ या अवधारणा का वाहक होता है। सृजन के क्षेत्र में शब्द-प्रयोग एक जिम्मेदारी है और यह जिम्मेदारी अन्य ज्ञान-क्षेत्रों के लिए भी जरूरी है। शब्द प्रयोग शब्द केलि नहीं है जैसा कि देरिदा का मत है। यह एक सत्य है कि शब्द का अस्तित्व निरपेक्ष नहीं है और न अर्थ का। शब्द और अर्थ का संबंध सापेक्ष है और यह भी सत्य है कि एक शब्द भिन्न संदर्भों में भिन्न अर्थ का व्यंजक होता है। शब्द और अर्थ का यह संबंध अर्थ विज्ञान (सिमैटिक्स) का क्षेत्र है। गीत का

संरचना में और रचना प्रक्रिया में शब्द के महत्व तथा उसके व्यापक परिप्रेक्ष्य को (जिसे अंधेरा कहा गया है) रचनाकार इस प्रकार व्यक्त करता है—

एक कोई शब्द/कोई गीत कोई राग बन  
चटखता है धमनियों में अर्थ की लपटें पहन  
चीरती हैं, अंधेरे की छातियों को। (माहेश्वरी तिवारी)  
रचनाकार यही नहीं रुकता है, पर वह शब्द को कवि के  
अंदर बैठा हुआ उसे सार्थकता प्रदान करता है—

मुझे यों शब्द से भरता हुआ  
कौन है मुझमें/मुझको सार्थक करता हुआ। (सत्यनारायण)

मेरे विचार से शब्द की सार्थकता दो प्रकार की होती है, रचनाक्रम और उसकी अभिव्यक्ति दोनों के लिए। एक शब्द की वह सार्थकता है जो परंपरा से प्राप्त रूपाकारों-आशयों (शब्द) का समय के अनुसार अर्थ-रूपांतरण करती है और दूसरी वह सार्थकता है जो ज्ञान-विज्ञान के नए रूपाकारों से प्राप्त होती है। काव्य शास्त्र...अमिधा से व्यंजना तक जो व्यापार होता है, वह एक प्रकार से शब्द और उसके अर्थ का ही व्यापार है—

अमिधा से व्यंजना तक/सब है भाषा की प्रतिमाएं  
पता नहीं, किस-किस में बिंबित/हो मेरी अभिलाषाएं।  
(मधु प्रसाद)

यह तो हुआ शब्द का सार्थक एवं अर्थपूर्ण प्रयोग, दूसरी ओर, रचना में शब्द का प्रयोग इस प्रकार से भी होता है कि सृजन अपना अस्तित्व को तलाशता है। कहने का तात्पर्य यह है कि शब्द और अर्थ का सापेक्ष संबंध, जो रचना को सार्थकता देता है। वह एक तरह से अर्थ को पूरी तरह से संकेतित नहीं कर पाता है—

शब्दों के पुल टूट रहे हैं/शब्दातीत मनःस्थितियां हैं  
अर्थ सभी के टूट रहे हैं। (सूर्यभानु गुप्त)

जब शब्द और अर्थ का संबंध टूट जाता है, तब भाषा का स्वरूप यांत्रिक सा हो जाता है, तब लोग ऐसी भाषा से मोहित होकर उसे स्वीकार करते हैं। ऐसा मशीनी भाषा से होता यह है कि वह मानव के मध्य संपर्क की भाषा नहीं बन सकती है। कवि के द्वारा ऐसा समय अपाहिज होता है जिसकी चिंताओं को लिया नहीं जा सकता है अथवा उस भाषा प्रयोग पर रोया नहीं जा सकता है—

एक ही भाषा मशीनी है/ निकलती हर गली से  
लोग उसको लिए फिरते/ शहर भर में बावले से  
आदमी का आदमी से/ जोड़ने के शब्द खोए  
इस अपाहिज समय की/ चिंताओं को कौन रोए।  
(कुमार रविंद्र)

शब्द या भाषा का बाजारीकरण इस कदर हो रहा है कि वे अपने अर्थ-संबंधों को खोकर कविता या गीत मात्र समाचार बन कर रह गए हैं। ऐसी दशा में हम विश्वग्राम तक तो पहुंच गए, पर शब्द समय से अपने संवाद को खो चुका है, और ऐसी स्थिति में शब्द पथरा गए हैं। यह एक तरह से शब्द का अवमूल्यन है—

हमने शब्द लिखा या रिश्ते/ अर्थ हुआ बाजार/ कविता के  
माने खबरें हैं संवेदन: व्यापार/ भटकन की, उंगली थामे हम/  
बहुत कठिन संवाद समय से शब्द सभी पथराए।

(राजेन्द्र गौतम)

यह तो हुआ शब्द का अवमूल्यन या उनका दुर्प्रयोग। दूसरी ओर सृजन के क्षेत्र में शब्द मात्र शब्द न होकर किसी विचार, धारणा या संवेदना के व्यंजक होते हैं। ये शब्द अनेक दिशाओं से आते हैं और अपने साथ भिन्न विचारों के वाहक होते हैं। अतः भाषा की संरचना में ये शब्द इस प्रकार घुल-मिल जाते हैं कि वे भाषा के अंग बन जाते हैं। यह शब्द का अर्थ विस्तार इस प्रकार घुल-मिल जाते हैं कि वे भाषा के अंग बन जाते हैं। यह शब्द का अर्थ-विस्तार ही है और साथ ही उसका अंतःअनुशासनीय रूप भी—

कौन बहलाता है अब परी-कथाओं से

सौ विचार आते हैं, सभी दिशाओं से। (यश मालवीय)

फिर भी, हर रचनाकार अथवा गीतकार अपने विचार-संवेदन को अपने तरीके से रचनात्मक संदर्भ देता है। हर गीतकार का ट्रीटमेंट अलग-अलग होता है जो उस गीत-सृजन को नवीनता प्रदान करता है। अतः प्रत्येक गीतकार या रचनाकार का स्वर एक सा नहीं होता है, इसलिए ऐसा एक सा नियम सृजनात्मकता को बाधित करेगा—

हर गायक का अपना स्वर है/ हर स्वर की अपनी मादकता  
ऐसा नियम न बांधो/ सारे गायक एक तरह से गाएं।

(जयकुमार 'जलज')

उपर्युक्त विवेचन के द्वारा स्वयं गीतकारों का गीत के प्रति उसके ऐतिहासिक और धारणागत महत्त्व तथा गीत में प्रयुक्त शब्दों के परिदृश्य पर विचार करने के बाद गीत की संरचना में प्रयुक्त घटकों यथा छंद, लय, ध्वनि और सौंदर्य की निहित क्या है, इसे गीतकारों के गीत-अंशों के द्वारा रेखांकित करने का प्रयत्न है।

## सन्दर्भ

1. आज का वैचारिक संघर्ष और मार्क्सवाद: खगेन्द्र ठाकुर
2. आज की कविता: विनय विश्वास
3. आज की कविता और कवि : राकेश गौतम
4. आधुनिक कथा साहित्य: संजय जैन
5. अभ्युदय संवेदना का विकास: कविता सुरभि

## आजादी में पत्रकारिता का योगदान

डॉ. श्याम सुन्दर प्रसाद

भारत के पत्रकार मूलतः जनता का प्रतिनिधि मानकर पत्रकारिता के क्षेत्र में आए थे। यदि सही ढंग से आंका जाए तो स्वतंत्रता की पृष्ठभूमि पत्रों एवं पत्रकों ने ही तैयार की, जो आगे पत्रकार बनने के लिए प्रेरित किया। पं. बालगंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, महात्मा गांधी, जवाहर लाल नेहरू एवं डॉ. राजेन्द्र प्रसाद आदि सभी पत्रकारिता से संबद्ध रहे। कांग्रेस भी जब दो विचारों में विभाजित हुई, उस समय भी गरम दल का दिशा-निर्देश 'भारतमित्र', 'अभ्युदय', 'प्रताप', 'नृसिंह', केशरी एवं रणभेरी आदि पत्रों ने किया तथा नरम दल का 'बिहार बंधु', 'नागरीनिरंद', 'मतवाला', 'हिमालय' एवं 'जागरण' ने किया।

### पत्रकारों के संघर्ष का युग

भारतेन्दु युग मात्र साहित्यिक युग ही नहीं, अपितु स्वतंत्रता एवं राष्ट्रीय जागरण का युगबोध कराने वाला युगदृष्टा का युग था। महात्मा गांधी के लिए यही प्रेरक युग कहा जाना पत्रकारिता का शाश्वत सत्य होगा। स्वतंत्रता आंदोलन के लिए राजनेताओं को जितना संघर्ष करना पड़ा, उससे तनिक भी कम संघर्ष पत्रों एवं पत्रकारों को नहीं करना पड़ा। बुद्धिजीवी, ऋषियों की मौन साधना, तपस्या और त्याग इतिहास की धरोहर है, जिसे मात्र साहित्य तक सीमित नहीं रखा जाना चाहिए, बल्कि स्वतंत्रता की बलिवेदी पर आहुति करने वालों को शृंखलाबद्ध समूह के रूप में भी माना जाना चाहिए।

तकनीकी रूप में प्रारंभिक पत्रकार स्वयं रिपोर्टर, लेखक, लिपिक, प्रूफरीडर, पैकर, प्रिंटर, संपादक एवं वितरक भी थे। क्रूरता, अन्याय, क्षोभ, विरोध, क्लेश, संज्ञास एवं गतिरोध उनकी दिनचर्या थी, फिर भी वे अटल थे, अडिग थे, क्योंकि उनके समक्ष एक लक्ष्य था। वे देशभक्त थे। देशभक्त के समक्ष सभी अवरोधों, प्रतिरोधों एवं बाधक विचारों का खंडन उनका उद्देश्य था। ऐसी स्थिति में ब्रिटिश सरकार की दमनात्मक नीतियों के समक्ष सरकारी सहायता कौन कहे, साधारण सहिष्णुता भी उपलब्ध नहीं, जो आज सर्वत्र दृष्टव्य है। भले ही इनकी दिशाविहीनता के कारण उन आदर्शों के निकट नहीं

व्याख्याता, हिन्दी विभाग, पीसी विज्ञान महाविद्यालय, छपरा

है। उस समय न नियमित पाठक थे, न नियमित प्रेस अथवा प्रकाशन। मुद्रण के लिए दूसरे प्रेसों के समक्ष हाथ-पांव जोड़कर चिरोरी करनी पड़ती थी, ताकि कुछ अंक निकल पाएं। ग्राहकों और पाठकों की स्थिति यह थी कि महीनों-महीनों पत्र मंगाते थे और पैसा मांगने पर वे वापस कर देते थे। ऐसी स्थिति में प्रायः सभी पत्र-पत्रिकाओं में प्रार्थना, तगादा, चेतावनी और धमकियों के लिए कतिपय शीर्षकों में प्रकाशन होता था—जैसे 'इसे भी पढ़ लें' विज्ञापन एवं सूचना के रूप में आदि-आदि।

### उदंड मार्टर्ड से शुरूआत

निःसंदेह हिंदी का सर्वप्रथम समाचार पत्र 'उदंड मार्टर्ड' 30.05.1826 को कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था, जिसके संचालक पं. युगल किशोर थे एवं सन् 1891 को गोरखपुर से मुद्रित 'विद्याधर्म दीपिका' भारत वर्ष की सर्वप्रथम निःशुल्क पत्रिका थी, किन्तु आंग्ल महाप्रभुओं के प्रभाव में चल रहे पाठकों के अभाव में यह पत्रिका भी अनियमित होते-होते काल-कवलित हो गई। भारत वर्ष की पत्रकारिता इसी पृष्ठभूमि में 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में अंकुरित हुई। ईस्ट इंडिया कंपनी के स्थापनोपरांत कई स्वतंत्र व्यापारी भी यहां प्रवेश पा चुके थे। ये व्यापारी भारतीय जन जीवन के साथ अपनत्व स्थापित कर स्वतंत्र पत्र-पत्रिका निकालने को तत्पर हुए। विलियम बोल्टस प्रथम व्यापारी था जिसने 1764 में प्रथम विज्ञापन प्रसारित किया कि 'कंपनी शासकों की गतिविधियों से जन सामान्य को अवगत कराने के लिए वह पत्र निकालना चाहता है। कंपनी इस विज्ञापन को पढ़ते ही उसे देश निर्वासित कर इंग्लैंड वापस भेज दिया। अंग्रेजों का पत्र, पत्रिकाओं एवं पत्रकारिता के खिलाफ दमन का श्रीगणेश यहीं से प्रारंभ हुआ, किन्तु बोल्टस द्वारा लगाया हुआ बीज अंकुरित होकर अगस्टस हिकी के हाथों में आकर एक पत्र के रूप में प्रस्फुटित हो गया जिसका नाम पड़ा 'बंगाल गजट एंड कलकत्ता जरनल एडवर टाइजर' जिसने 'हिकीगजट' के नाम से 1780 में प्रथम पत्र के रूप में जन्म लिया। वारेन हेस्टिंग्स उस समय भारत वर्ष का गवर्नर जनरल था, जो अपने अथवा अपने मंत्रिमंडल के प्रतिकूल एक साधारण आलोचना भी बर्दाश्त नहीं कर सकता था। हिकीगजट इसका कटु आलोचक बन गया और फलस्वरूप 14.11.1780 को प्रथम दमनात्मक प्रहार के रूप में इस पत्रिका को जो डाक से भेजने की सुविधा प्राप्त थी, उसे छीन ली गई। आलोचना तीव्रतर बढ़ती गई, जिसके चलते जेम्स अगस्टस को कारागार में डाल दिया गया और अंततः उसे देश से निर्वासित कर दिया गया। इसी शृंखला में एक दूसरे पत्रकार विलियम हुआनी को भी निर्वासित किया गया। अन्य प्रदेशों से भी जो पत्र निकालते थे उनके लिए सरकार

से लाइसेंस प्राप्त करना अनिवार्य किया गया। मद्रास से 'इंफ्रेस' ने बिना लाइसेंस प्राप्त किए 'इंडिया हेराल्ड' निकालना प्रारंभ कर दिया। इसके लिए इनको कानूनी कार्रवाई के तहत गिरफ्तार किया गया और अंत में इन्हें भी निर्वासित कर इंग्लैंड भेज दिया गया।

### प्रेस संबंधी प्रथम कानून

18वीं शताब्दी के अंत तक लगभग 20-25 अंग्रेजी पत्रों का प्रकाशन हो चुका था जिसमें प्रमुख थे बॉम्बे हेराल्ड, बॉम्बे कैरियर, बंगाल हरकारू, कलकत्ता कैरियर, मॉर्निंग पोस्ट, ओरियंट स्टार, इंडिया गजट तथा एशियाटिक मिरर आदि। पत्र-पत्रिकाओं की उत्तरोत्तर वृद्धि अंग्रेजों की दमनात्मक कार्रवाइयों को भी उसी अनुपात में बढ़ाने के लिए बाध्य करती गई। सन् 1799 में लार्ड वेलसली ने प्रेस संबंधी प्रथम कानून बनाया कि पत्र प्रकाशन के पूर्व समाचारों को सेंसर करना अनिवार्य है तथा अन्य शर्तें इस तरह लागू कर दी गईं।

- (क) पत्र के अंत में मुद्रक का नाम एवं पता स्पष्ट से छापा जाए।
- (ख) पत्र के मालिक एवं संपादक का नाम पता एवं आवास का पूर्ण विवरण सरकारी सेक्रेटरी को दिया जाए।
- (ग) सेक्रेटरी के देखे बिना पाठ्य सामग्री छपी नहीं जाए एवं
- (घ) प्रकाशन रविवार को बंद रखा जाए।

अब तक के सभी पत्र अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित हो रहे थे तथा सभी पत्रों के संपादक भी अंग्रेज थे, फिर भी विरोधात्मक स्थिति में केवल इन्हें निर्वासित कर देना ही पर्याप्त दंड माना जाता था। बाद में सरकार के किसी कार्य पर टीका-टिप्पणी करने पर प्रतिबंध लगा दिया गया जो बेलेसली से लार्ड मिंटो तक चला। भारतीय पत्रकारिता इसे बेहद दुष्प्रभावित हुई। लार्ड हेस्टिंग्स के गवर्नर जनरल बनते ही उपर्युक्त शर्तों में ढील बरती गई, जिसके अंतर्गत

प्रकाशन के पूर्व सेंसर की प्रथा समाप्त करते हुए रविवार को प्रकाशन समाप्त कर निम्न आदेश जारी किए गए—

- सरकारी आचरण पर आक्षेप लगाने वाला समाचार नहीं छपा जाए।
- भारतवासियों के मन में शंका उत्पन्न करने वाला समाचार नहीं छपा जाए।
- धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया जाए।
- ब्रिटिश सरकार की प्रतिष्ठा पर आंच आने वाला समाचार नहीं छपा जाए।
- व्यक्तिगत दुराचार विषयक कोई चर्चा पत्रों में नहीं की जाए।

### भारतीय भाषाओं के समाचार पत्र

इन शर्तों के बावजूद हेस्टिंग्स का रवैया उदारवादी था, इसलिए इनका पालन सख्ती से नहीं हो पाया फलतः भारतीय भाषाओं में भी पत्र प्रकाशित होने लगे। इनमें प्रमुख पत्र थे—कलकत्ता जर्नल 1818, बंगाल गजट 1818, दिग्दर्शन 1818, फ्रेंड ऑफ इंडिया 1819, ब्रह्मगनिकल मैगजिन 1822, संवाद कुमुदिनी 1822, मिरातुल अखबार 1822 आदि। इनमें कलकत्ता जर्नल एवं संवाद कुमुदिनी सबसे उग्र थे, क्योंकि उस समय भारतीय जीवन के अग्रदूत के रूप में राजा राममोहन राय नेतृत्व कर रहे थे। हेस्टिंग्स के अवकाशग्रहण के बाद तथा जॉन आडम के नए गवर्नर जनरल के रूप में आते ही, पत्रों की स्वतंत्रता पुनः समाप्त हो गई और 04.04.1823 को प्रेस संबंधी नए कानूनों द्वारा ये प्रतिबंध फिर लगा दिए गए:

- कोई व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह सरकारी स्वीकृति के बिना फोर्ट विलियम के आबादी वाले क्षेत्रों में कोई समाचार पत्र, पत्रिका, विज्ञप्ति अथवा पुस्तक किसी भाषा में प्रकाशित नहीं करेगा, जिस पर सरकारी नीति एवं कार्य पद्धति पर टीका-टिप्पणी हो।

- लाइसेंस प्राप्ति के लिए जो आवेदन पत्र दिए जाएं उसके साथ शपथ पत्र भी दिया जाए जिसमें पत्र, पत्रिका, पुस्तक, मुद्रक, प्रकाशक एवं प्रेस मालिक का पूर्ण विवरण सहित भवन विवरण भी दिया जाए, जहां से प्रकाशन होगा।
- बिना लाइसेंस प्राप्त किए पत्र प्रकाशित पाए जाने पर प्रकाशक को चार सौ रुपया जुर्माना अथवा चार महीने कैद की सजा दी जाएगी।
- छापाखाने के लिए भी लाइसेंस अनिवार्य बनाया गया। बिना लाइसेंस के छापाखाने को जब्त कर, मालिक को छह माह का कारावास एवं एक सौ रुपया जुर्माना होगा।
- जिस पत्र का प्रकाशन रोका गया है। उसके वितरक को भी एक हजार रुपया जुर्माना तथा दो माह का कारावास का दंड होगा।

इन प्रतिबंधों का पूरे देश में घोर विरोध किया गया, जिसके फलस्वरूप बंगाल का 'मिरातुल अखबार एवं कलकत्ता जर्नल' की आहूति हो गई। सन् 1828 में विलियम बेंटिक के गवर्नर जनरल का प्रभार लेते ही उपर्युक्त कानून हटाए तो नहीं गए, किन्तु कार्यान्वयन में उदारता बरती गई। सन् 1835 में 'सर चार्ल्स मेटकफ' के कार्यभार लेने के बाद भी, वही उदारनीति बरकरार रही और अंततः 03.08.1835 में इन्हें समाप्त कर दिया गया, किन्तु नियंत्रण रखने के लिए कुछ नियम बनाए गए। इस उदार नीति के कारण 1839 में पत्र-पत्रिकाओं की संख्या इस तरह हो गई—कलकत्ता में 26 यूरोपियन पत्र थे। इसके अतिरिक्त दिल्ली, लुधियाना एवं आगरा से भी पत्र प्रकाशित होने लगे। सर सैय्यद अहमद खां द्वारा 1839 में ही 'सैयदुल अखवाराय' दिल्ली का पत्र लोकप्रिय हो गया।

इस प्रकार प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के लिए पूरे भारत वर्ष में पत्र, पत्रकारों एवं पत्रकारिता का चैतन्यपूर्ण परिवेश सृजित हो गया। लॉर्ड कैनिंग ने इस सुलगाती आग की गहराई को महसूस कर भारतीय पत्रों पर नियंत्रण के लिए 13.03.1857 को प्रेस संबंधी नए कानून बनाकर सरकारी नियंत्रण बरकरार रखा।

- इंडियन पैनल कोड में संशोधन: लॉर्ड मैकाले द्वारा 1836 में जो धारा 110 लगाई गई थी उसे 1860 में समाप्त कर दिया गया।
- रेगुलेशन ऑफ प्रिंटिंग प्रेस एंड न्यूजपेपर्स एक्ट 1876: इस अधिनियम के अनुसार समाचार पत्रों एवं पुस्तकों के प्रकाशन की स्वतंत्रता समाप्त कर दी गई। इंडियन पैनल कोड में एक नई धारा जोड़कर आपत्तिजनक लेखकों को दंडित करने का प्रावधान कर दिया गया। इन प्रावधानों का विरोध करने वाले प्रमुख पत्रों में 'स्टेट्समैन', 'पायोनियर', 'अमृत बाजार पत्रिका' तथा 'टाइम्स ऑफ इंडिया' प्रमुख थे।
- गैरिंग प्रेस एक्ट ऑफ 1878: स्वतंत्रता के प्रथम संग्राम 1857 के बाद पत्रकारों के बीच नवजागरण उत्पन्न हुआ जो मूलतः भारतेन्दु युग का प्रथम चरण बना। इनके नेतृत्व में पत्रकार 'स्व' से निकलकर 'देशहित' में अग्रसर हुए। इस युग के प्रमुख पत्रों में 'बिहार बंधु', 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र मैगजिन', 'ब्राह्मण', 'भारतमित्र', 'सारसुधानिधि', 'हिन्दी वंशावली', 'हिन्दी प्रदीप' एवं उचित वक्ता आदि अग्रणी रहे।
- वर्नाकुलर प्रेस एक्ट 1878: भारतेन्दु युग से प्रस्फुटित उत्साह देखकर अंग्रेज घबरा उठे एवं इस कानून द्वारा देशी भाषा के

पत्रों के संपादकों, प्रकाशकों एवं मुद्रकों के लिए एक शर्त अनिवार्य कर दी गई कि वे कोई ऐसा प्रकाशन नहीं करें जिससे घृणा एवं द्रोह उत्पन्न हो। अंग्रेजी पत्रों को मुक्त रखा गया, किन्तु 1880 में लॉर्ड रिपन के आने पर वर्नाकुलर एक्ट 07.09.1881 में रद्द कर दिया गया। उसकी उदार एवं सुधार नीतियों के कारण सर्वत्र उल्लासपूर्ण वातावरण फैल गया। सन् 1885 में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई।

- ऑफिशियल सिक्रेट्स एक्ट ऑफ 1889: लॉर्ड रिपन की उदारता अंग्रेजों के लिए असह्य हो उठी। अंग्रेजी पत्रों ने सरकार को 'कार्यालय गोपनीय प्रविष्टीकरण' को 17.10.1889 से लागू करने के लिए बाध्य कर दिया। उसके द्वारा किसी योजना का प्रकाशन कानूनी अपराध घोषित कर दिया गया। वस्तुतः योजना का अर्थ राष्ट्रीय जागरण से संबंधित था।
- राजद्रोह अधिनियम 1898: लार्ड कर्जन के 1898 में कार्यभार ग्रहण करते ही भारतीय समाचार पत्रों पर नियंत्रण करना पुनः प्रारंभ कर दिया गया, क्योंकि अब तक लखनऊ से 'हिन्दुस्तानी अवध बिहार', 'विद्या विनोद', 'एडवोकेट' से मेरठ 'शाहिना-ए-हिन्द', 'अनीस-ए-हिन्द' इटावा से 'आलवसीर', बरेली से 'यूनियन' तथा इलाहाबाद से 'अभ्युदय' आदि राष्ट्रीय स्तर पर शंखनाद कर रहे थे।
- प्रेस एक्ट 1910: बीसवीं सदी के प्रारंभ होते ही विभिन्न घटनाओं ने राष्ट्रीय स्तर पर झंझावत उत्पन्न कर दिया जिसमें 1904 का बंगाल विभाजन भी प्रमुख था। सुधार के बहाने सरकार ने विभिन्न

समितियों का गठन किया, किन्तु 1910 में यह अधिनियम पारित हो ही गया। इसके बाद अंततः 1922 में यह कानून रद्द कर दिया गया।

- प्रेस एंड अनऑथराइज्ड न्यूजपेपर्स 1930: वाइसराय इरविन ने देशव्यापी आंदोलन को देखकर इस अध्यादेश को मई-जून से लागू कर 1910 की संपूर्ण पाबंदियों को पुनः लागू कर जमानत की राशि 500 से बढ़ाकर, हैडबिल एवं पर्चों पर भी प्रतिबंध लगा दिया।
- प्रेस बिल 1931: पूरा देश एवं राजनेता 'राउंड टेबुल कान्फ्रेंस' में व्यस्त थे और सरकार ने इसी बीच अध्यादेश को कानून के रूप में इसे पेश कर पारित करा लिया। इसके अंतर्गत समाचार एवं पत्रों के शीर्षक, संपादकीय टिप्पणियों को बदलने का भी अधिकार सुरक्षित रख लिया गया।

इसके बाद 1935 में भारतीय प्रशासन कांग्रेस के हाथ में आ गया और फलतः समाचार पत्रों को स्वतंत्रता प्राप्त हुई। सन् 1939 में द्वितीय विश्व युग प्रारंभ होते ही कांग्रेस सरकार को पदत्याग करना पड़ा और पत्रों की स्वतंत्रता पुनः नष्ट हो गई जो 1947 तक चली। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद 1950 में नया कानून बना जिसके द्वारा लगभग सभी प्रतिरोध समाप्त कर दिए गए।

## सन्दर्भ

1. आधुनिक पत्रकारिता: अर्जुन तिवारी
2. भारतीय पत्रकारिता: राकेश कुमार
3. भारतीय पत्रकारिता का इतिहास: जे. नटराज
4. भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन और उत्तर प्रदेश की पत्रकारिता: ब्रह्मानन्द
5. भारतीय पत्रकारिता तब और अब: संजय कुमार
6. बिहार में पत्रकारिता का इतिहास: विजय भास्कर।

## बांग्ला कहानी का वैभव

विश्वजीत कुमार चौधरी

यह आकस्मिक नहीं कि गुरुवर रवींद्र नाथ ठाकुर ने अपने पहले दौर की कहानी संग्रह का नाम 'लघु गल्पों' रखा था। दरअसल बांग्ला में कहानी को गल्प ही कहते हैं। गल्प या कहानी सच और झूठ के सहमेल का अनूठा खेल है। एक ऐसा मोहक और जादुई खेल जिसमें जानते हुए कि यह झूठ या कपोल कल्पित है, हम उसे न केवल सच समझते हैं बल्कि हकीकत से भी अधिक उसमें आनंद और रुचि लेते हैं। इसकी सृष्टि में एक जिन्न अपने आका के हुक्म पर जहां दुनिया की तमाम नियामतों की बारिश कर सकता है, वहीं पंख लगा घोड़ा राजकुमार को पलक झपकते ही राजकुमारी के पास पहुंचा देता है। हालांकि वास्तविक संसार में न तो ऐसा कोई जिन्न होता है और न ही ऐसा कोई घोड़ा किन्तु कहानी पढ़ते या सुनते समय हमें यह कल्पना किंचित भी असंगत और अस्वाभाविक नहीं लगती। दिलचस्प यह है कि सच और झूठ की यह रोचक लीला केवल हमारे बाल्यकाल की कहानियों तक सीमित नहीं है, बल्कि आज हम जिस विधा को आधुनिक कहानी कहते हैं, उसमें यथार्थवादी कहानी की महान और समृद्ध परंपरा के बावजूद उसके अनेक पुरोधा कथाकार भी इसी बीज तत्व को अपनी कहानियों का आधार बनाते रहे हैं।

जहां तक बांग्ला कहानी के इतिहास का सवाल है, तकनीकी रूप से स्वर्ण कुमारी देवी की 1892 में प्रकाशित कहानी 'संकलन' के चलते भले ही उन्हें बांग्ला का पहली कहानीकार मान लिया जाए लेकिन एक विधा के रूप में कहानी के विकास की दृष्टि से गुरुदेव रवीन्द्र नाथ ठाकुर बांग्ला कहानियों के जनक हैं। यह वह समय था जब कलकत्ता विभिन्न राजनैतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक गतिविधियों का एक स्पंदनशील केंद्र था। उन्नीसवीं शताब्दी में घटित भारतीय नव जागरण की लहर से बांग्ला समाज में एक नई चेतना विकसित हो रही थी, वहीं पश्चिम की ओर खुली खिड़की से उसका बौद्धिक और सांस्कृतिक परिवेश भी समृद्ध हो रहा था।

व्याख्याता, चौरसिया महाविद्यालय, हाजीपुर

ऐसे परिदृश्य में बांग्ला कहानी को अपना आकार मिला। पश्चिम की ओर खुली दृष्टि रखने के बावजूद रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने बांग्ला कहानी को अपनी जातीयता और परंपरा से गहरे रूप से जोड़ा। उनकी लगभग 84 कहानियां बंगाल की विविध अनुभव संपदा को अपने में समेटे हुए हैं। उनकी शुरूआती कहानियों में बंगाल की शस्य श्यामला भूमि की गंध पूरी तरह से रची बसी हुई है। उनकी कहानियां सिर्फ चमकीले अभिजात्य जीवन की ऊब, हताशा और भ्रातियों में ही नहीं उलझी रही हैं, साधारण जन-मन की कोमल भावनाओं को भी उन्होंने गहरी संवेदनशीलता से स्पर्श किया है। उनकी पोस्टमास्टर कहानी की छोटी अनपढ़ लड़की रत्ना और काबुली वाला का मार्मिक चित्रांकन इसका पुष्ट प्रमाण है। शिल्प के मोर्चे पर भी रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने विविध कथा प्रयोग किए और बांग्ला कहानी की भावाभिव्यक्ति को समृद्ध करने के दृष्टि से कथारूपों के लिए अनेक दरवाजे खोले। उन्हीं दिनों नवजीवन, बालक, सुबोधिनी और जन्मभूमि इत्यादि पत्रिकाओं में रवींद्रनाथ ठाकुर के समकालीन कथाकार श्रीशचंद्र मजूमदार, स्वर्ण कुमारी देवी, नगेन्द्रनाथ गुप्त जैसे अनगिनत कथाकारों की कहानियां प्रमुखता से छप रही थीं किन्तु सही मायनों में रवीन्द्र नाथ ठाकुर की कहानियों ने भोर के चमकते सूर्य की तरह बांग्ला कहानियों के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के परवर्ती कथाकारों में त्रैलोक्यनाथ मुखोपाध्याय, प्रभात कुमार मुखोपाध्याय, सुरेन्द्रनाथ मजूमदार, परशुराम, प्रमुख चौधरी और शरतचंद्र चट्टोपाध्याय की कहानियां विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। त्रैलोक्यनाथ मुखोपाध्याय की कहानियों में बातचीत की शैली में कथा के भीतर एक और कथा गूथने वाले शिल्प के माध्यम से जहां तत्कालीन समाज में व्याप्त कुरीतियों पर व्यंग्य किया गया है, वही फलेर मुल्य काशीवासिनी जैसी लोकप्रिय कहानियों के लेखक प्रभात कुमार मुखोपाध्याय की कहानियां अपनी करुणा और उदात्त भावनाओं के लिए जानी जाती हैं। परशुराम की कहानियों का स्वभाव कुछ अलग था। उनकी व्यंग्य विनोद की तेजाबी शैली पाठकों को बेहद के बाद शरतचंद्र ही आते हैं। वे स्त्री की पीड़ा, प्रेम, आक्रोश और द्वंद्व को उन्होंने अपनी कहानियों में अत्यंत मार्मिकता से उकेरा है। उनकी अनुपमा का प्रेम, बोझा, हरिलक्ष्मी, मेजदीदी और महेश कहानियों में स्त्री मन की अंतर्विरोधों भावनाएं अत्यंत पारदर्शिता से व्यक्त हुई हैं। उनके

कथा-साहित्य में व्यक्त गलदाश्रु भावुकता कहानियों का एक ट्रेडमार्क बन गई थी।

इस बिन्दु पर कल्लोल युग का जिक्र किए बिना बांग्ला कहानी का परिदृश्य अधूरा रहेगा। कल्लोल का शाब्दिक अर्थ है गरजती उताल लहरें। कल्लोल एक साहित्यिक पत्रिका थी जिसे 1923 में गोकुल चंद्र नाग और दिनेश रंजन दास ने शुरू किया था। परंपरावादी लेखकों के प्रति इसका रुख आक्रामक था। यह वह दौर था जब पूरे विश्व में आर्थिक मंदी चल रही थी वहीं भारत में अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध तीखा संघर्ष चल रहा था। कल्लोल गोष्ठी के कथाकारों ने समाज, धर्म और परिवार के ताने बाने को नई आंखों से देखना शुरू किया। यथार्थवादी जीवन के प्रति गहरे आग्रह के साथ ही इन कहानियों में किंचित रोमांटिकता की छौंक भी थी। ताराशंकर बंद्योपाध्याय, अचिंत्य कुमार सेनगुप्त, प्रेमेंद्र मित्र, बुद्धदेव बसु, प्रबोध कुमार सान्याल, भवानी मुखोपाध्याय सरीखे कथाकार इस समय कथा सृजना के क्षेत्र में सक्रिय थे। इन्होंने आम आदमियों को अपना कथ्य बनाया। इस परिप्रेक्ष्य में इस दौर की कहानियों को सामान्य मनुष्य की कहानियों से अभिहित किया जा सकता है। इन कहानिकारों में पश्चिम के प्रति कोई मोह नहीं था। सही अर्थों में कहें तो सचेत रूप से पश्चिम का बहिष्कार दिखता है।

यह सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के उदय का युग था। प्रेमेंद्र मित्र की सहानुभूति मुख्य रूप से समाज के निचले तबके के साथ थी। उनकी कहानियों में इस वर्ग के पास उच्च वर्गों के मनुष्यों की तुलना में अधिक उदार, मानवीय, साहसी, और सरल दिखते हैं। उनकी कहानियां

हर छोटे से छोटे प्राणी का दुख सुख जीते जागते जीवित आदमियों की गाथाएं हैं। शुधू केरानी, गोपनचारिणी, मोटबारी सरीखी कहानियां इसका अच्छा साक्ष्य है। ग्राम्य जीवन के वैविध्यपूर्ण, सर्वांगीण और परिवर्तनशील मानवीय संबंधों की संवेदनशील अभिव्यक्ति भी इस युग के कुछ कथाकारों में मिलती है। ताराशंकर बंद्योपाध्याय की कहानियां इसका अच्छा उदाहरण है। रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने ताराशंकर बंद्योपाध्याय की कहानियों के बारे में कहा था कि वे मिट्टी और मनुष्य को जानते हैं। इनके साथ इनका घनिष्ठ संबंध है। ताराशंकर बंद्योपाध्याय की ख्याति उपन्यासकार के रूप में अधिक थी लेकिन उनकी तारणीमाझी, डाइन, नारी ओ नागिनी जैसी कहानियों ने पाठकों के मन को झकझोरा था। विभूतिभूषण की कहानियों में जीवन और प्रकृति के साथ गहरा तादात्म्य मिलता है। उनके यहां कई बार प्रकृति ही एक चरित्र की भूमिका निभाने लगती है।

कुछ समय बाद माणिक बंद्योपाध्याय एक सशक्त कथाकार के रूप में बांग्ला कथा के दृश्यपटल पर सक्रिय हुए। उन्होंने अपनी कहानियों में युद्ध, अकाल, देश विभाजन की त्रासदी और आजादी के बाद राजनैतिक तथा सामाजिक जीवन में आई गिरावट को विशेष रूप से रेखांकित किया। सामाजिक जीवनदृष्टि और अपनी अनोखी कथा शैली के चलते वह बहुत जल्दी ही पाठकों के चहेते कथाकार बन गए थे। इसी दौर में बनफूल, गजेन्द्र कुमार मित्र, आशापूर्ण देवी, मनोज बसु, परिमल गोस्वामी, अन्नदाशंकर राय, विमल मित्र की कहानियों ने पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया।

कल्लोल युग के बाद दूसरे विश्व

युद्ध की आहट से लेकर देश के विभाजन का समय अत्यंत उथल-पुथल भरा समय था। भारत छोड़ो आंदोलन, दूसरा विश्व युद्ध, अकाल, कालाबाजारी, सांप्रदायिक हिंसा और दो राष्ट्रों की अवधारणा के चलते देश के विभाजन ने तत्कालीन मनुष्य की संवेदनाओं को गहरे रूप से झिंझोड़ दिया था। नए कथाकारों ने तत्कालीन समाज के विक्षुब्ध मन को अभिव्यक्ति प्रदान की। कल्लोल युग के मिजाज से ये कहानियां भिन्न थीं। रोमांटिकता के स्थान पर इनमें तिवक्तता और बेधकता अधिक थी। बांग्ला कहानी के मानचित्र पर इस समय सुबोध घोष, सतीनाथ भादुड़ी, नारायण गंगोपाध्याय, नरेन्द्रनाथ मित्र, नवेंदु घोष, ननी भौमिक, सुशील जाना और ज्योतिरिंद्र नंदी प्रमुख रूप से छाए हुए थे।

देश की आजादी की खुशी के साथ उजड़े हुए घर-परिवारों की सिसकियां भी सुनाई दे रही थीं। एक ओर नए भारत के निर्माण का विराट स्वप्न था और दूसरी ओर आशावाद से ग्रस्त राजनीति से मोहभंग की प्रक्रिया भी जारी थी। समरेस बसु, विमल कर, रमापद चौधरी, सैय्यद मुस्तफा अली, हरिनारायण चट्टोपाध्याय, प्रभात देव सरकार, सुधीरंजन मुखोपाध्याय, शर्चींद्रनाथ बंद्योपाध्याय, आशीश बर्मन, सुलेखा सान्याल सरीखे आधुनिक कथाकारों ने बांग्ला कहानी की वैविध्यपूर्ण परिदृश्य को और अधिक विस्तृत किया।

तदनंतर सुनील गंगोपाध्याय, श्यामल गंगोपाध्याय, सैय्यद मुस्तफा शीराज, शीर्षेदु मुखोपाध्याय, प्रफुल्ल राय, मतिनंदी, कविता सिंह, देवेश राय, आनंद बागची, संजीव चट्टोपाध्याय, दिव्येंदु पालित, नवनीता देवसेन सरीखे अनेक कथाकारों ने बांग्ला कहानी संसार को अपनी रचनात्मकता से समृद्ध किया है। इस

तरह हम देखते हैं कि बांग्ला कहानी ने एक लंबी यात्रा तय की है। इस यात्रा के अनेक मोड़ और उतार चढ़ाव रहे हैं। हर सामाजिक और मानवीय स्थिति ने बांग्ला कहानीकारों में एक विशिष्ट प्रतिक्रिया को जन्म दिया है। और जिसके फलस्वरूप उनके कथा-साहित्य में एक नया मूल्य और चरित्र विकसित हुआ है। सच तो यह है कि बांग्ला कहानी परिदृश्य से थोड़ा भी परिचित व्यक्ति इसकी आत्मीयता लचीलेपन और व्यापकता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

यह सर्वविदित तथ्य है कि बांग्ला कहानियों की पठनीयता, रोचकता और गहरे जीवनानुराग के चलते उसे अभूतपूर्व लोकप्रियता मिली है। लेकिन इधर उसे कई व्याधियों ने घरे लिया है। समकालीन बांग्ला कहानी परिदृश्य में बाजारू प्रवृत्तियां प्रवेश करके इसके रचनात्मक वैभव को धीरे-धीरे घुन की तरह कुतर रही है। यह अकारण नहीं है कि सृजनात्मकता के लिए जिस तरह से अवकाश और धीरज चाहिए, बांग्ला कहानी उससे शनैः शनैः विमुख होती जा रही है। पूजा के अवसरों पर निकलने वाले विशेषांकों की मांग पर थोक में कहानी लिखने की लालच ने बांग्ला में सृजनात्मक धैर्य के साथ कहानी लिखने की परिपाटी को क्षीण कर दिया है। शायद एक यह भी कारण है कि जहां इधर की बांग्ला कहानी में सांचे में ढले गढ़े पात्र और अस्वाभाविक घटनाएं और स्थितियां प्रचुरता से दिखाई दे रही हैं, वहीं उनमें जीवन की धड़कन कम से कमतर होती जा रही है। कहना न होगा कि इस चुनौती से बांग्ला कहानी को साहस के साथ सामना करना होगा।

हिन्दी और बांग्ला एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी एक समान सांस्कृतिक

स्मृति और परंपरा के कारण अपने अंतर्निहित स्वभाव में समानरूपा हैं। दरअसल हिन्दी और बांग्ला में एक ही चेतना स्पंदित होती है। उनके कथा साहित्य का परिवेश या भाला भले ही क्यों न कुछ भिन्न हो, उनके पात्र एक ऐतिहासिक समय, सांस्कृतिक अस्मिता और स्मृत से जुड़े रहते हैं। यही कारण है कि बांग्ला कहानियां एक मायने में कई बार हिन्दी की कहानियां लगती हैं और हिन्दी समुदाय इन्हें हाथों-हाथ लेता है। यह एक प्रीतिकर तथ्य है कि बांग्ला कथा साहित्य का अनुवाद जिस तत्परता और शीघ्रता से हिन्दी में होता है, शायद

दुनिया की किन्हीं अन्य भाषाओं में होता हो।

## सन्दर्भ

1. बांग्ला, असमिया, उड़िया तथा हिन्दी: सुधाकर पाण्डेय
2. बांग्ला की चर्चित कहानियां: महेन्द्र नाथ दूबे
3. बांग्ला की गौरवशाली कहानियां: महेन्द्र नाथ दूबे
4. बांग्ला की प्रतिनिधि कहानियां: बासु भट्टाचार्य
5. बांग्ला की श्रेष्ठ बाल कहानियां: गीता मित्रा
6. बांग्ला पर हिन्दी का प्रभाव: ब्रह्मानन्द।

## उपन्यास

राधारानी

आनन्दमठ

शिकारी

यामा, भाग-1

फर्ज

महानायिका

गरीबी जुर्म नहीं

दर्द भरा दिल

चन्द्रकांता संतति

स्वामी

काशीनाथ

बर्फीली आंधी

यामा, भाग-2

आहुति

द गेट वे ऑफ इंडिया

कमाई की जगह

चन्द्रकांता ( भाग 1 से 6 )

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

**पुष्पांजलि प्रकाशन**

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर, दिल्ली-110053

फोन : 9811710900

# शुक्रनीति में युद्धनीति का वर्णन

प्रो. शेलडिया किशोर

युद्ध वह राज्य विस्तरण के स्वप्न को साकार करने के लिए विजिगीषु के महत्वपूर्ण साधनों पैकी का एक साधन है। और आक्रमण के भोम बने हुए राजाओं के लिए युद्ध एक आई हुई विकट आपत्ति है जिसका किसी भी प्रकार से प्रतिकार करना पड़ता है। इसलिए युद्ध न हो वह एक आदर्श है किन्तु युद्ध हो वह एक वास्तविक है। तथापि युद्ध की एक विशेषता यह दृष्टिगोचर होती है शांति के प्रयत्नों के बावजूद भी उनके पश्चात भूमिका में ही उस युद्ध की जानकारी की चर्चा होती है। अतः कोई राजनीति शास्त्रीय विचारक के युद्ध की चर्चा को टालता नहीं, उनकी उपेक्षा नहीं करता, उसको स्पर्श किये बिना ही छोड़ दे वह स्वाभाविक है। शुक्रनीति में निर्दिष्ट युद्धनीति का विचार भी प्रस्तुत बन जाता है। शुक्र ने सैन्य प्रकार, सेनापति कार्य, युद्ध योग्य भूमि संबंधित विचार भी प्रकट किये हैं। आचार्य शुक्र 'शुक्रनीति' के चतुर्थ अध्याय के सातवें प्रकरण में युद्ध का लक्षण युद्ध के प्रकार, युद्ध के लिए समय का विचार, युद्ध के लिए उत्तम माध्यम और अधर्म देश का लक्षण सर्वोत्तम युद्ध के लक्षणादि की चर्चा की है।

शुक्र युद्ध की व्याख्या देते हुए कहते हैं कि—

आबिभतो शत्रुभावमुभयोः संयतात्मनो ।

आस्त्राधेः स्वार्थसिद्धयर्थं व्यापारो युद्धमुच्यते ॥<sup>1</sup>

## 1. प्रकार

दैवी, आसुरी और मानवी इस प्रकार से युद्ध के तीन प्रकार शुक्र ने बतलाये हैं। तदनुसार “जिस युद्ध में मंत्र द्वारा आयुद्ध चलाते हैं उसे दैवी युद्ध कहते हैं। जिसमें आग्नेय शास्त्र प्रयुक्त होता है उसे आसुरी युद्ध कहते हैं और जिस युद्ध में तलवार, भाला आदि शस्त्रों को हाथों से चलाते हैं उसे मानवी युद्ध कहते हैं।<sup>2</sup> जबकि शुक्र के मतानुसार मंत्रसिद्ध आयुद्धों से जो युद्ध होता है वह श्रेष्ठ है। आग्नेय शास्त्र से किया गया युद्ध मध्यम है और सामान्य अस्त्रों से किया जाता युद्ध कनिष्ठ है तथा बाहुबल से किया जाता युद्ध अधम है।<sup>3</sup> श्रेष्ठ युद्ध का

लक्षण देते हुए शुक्र कहते हैं कि—‘मंत्रों द्वारा अभिषिक्त महाशक्तिशाली बाणों के माध्यम से अस्त्र-शस्त्रों के उपयोग करके जिस युद्ध में शत्रुओं का नाश किया जाता है उस युद्ध को सभी युद्धों में श्रेष्ठ माना जाता है।<sup>4</sup> नलिकास्त्र और आयुध युद्ध के लक्षण भी ग्रंथकार देते हैं कि—तोप और बंदूकों द्वारा लक्ष्य पर गोला फेंककर जिसमें युद्ध किया जाता है उसे नलिकास्त्र युद्ध कहते हैं। वह अत्यंत भयंकर है।’<sup>5</sup> और जो आग्नेयास्त्र के बिना केवल हथियारों के द्वारा लड़ा जाता है उसे आयुधयुद्ध कहते हैं।<sup>6</sup> उसे शस्त्रयुद्ध भी कहते हैं।

ग्रंथकार बाहुयुद्ध की व्याख्या देते हैं कि—शरीर के साथ जुड़ी हुई और मर्मस्थानों में दुःख पहुंचाने के लिए उलटे-सीधे हाथों को बांधकर जिसमें युद्ध किया जाता है उसे बाहुयुद्ध कहते हैं।

कर्षणेः सन्धिर्मर्माणां प्रतिलोमानुलोमतः ।

बन्धनैधातनं शत्रोर्युक्त्या तत् बाहुयुद्धकम् ॥<sup>7</sup>

आचार्य शुक्र ने बाहु युद्ध के आठ प्रकार दर्शाये हैं।<sup>8</sup> यथा—

1. वाम हस्त से केश पकड़ना
2. बलपूर्वक पकड़कर भूमि पर रगड़ना
3. पैर से मस्तक पर प्रहार करना
4. घुटने से ऊपर को दबाना
5. वृषभ के जैसे गाल पर प्रहार करना
6. वारंवार शत्रु को बलपूर्वक भूमि पर रगड़ना
7. लात मारना
8. कपट पूर्वक शत्रु को क्षति देखने के लिए मैदान पर घुमाना।

इस आठ बाहुयुद्ध के प्रकारों में से चार क्षत्रियों को पांच से नीचे क्षत्रियों को, छ से वैश्यों को, सात से शूद्रों को और आठ से संकीर्ण जाति वालों को मारना। इसका प्रयोग शत्रु के लिए करना, मित्रों के लिए कदापि न करना ऐसा शुक्र का मत है।<sup>9</sup>

युद्ध में नलिकास्त्र आदि की योजना एवं प्रहार करने अयोग्य सैनिक के संदर्भ में भी शुक्र ने स्व विचार प्रस्तुत किए हैं। यदापि सैनिक तोप, बंदूक तथा तलवार से, घोड़े सवार भाला से, रथी और गजारोही सैनिकों को बाण से शत्रुओं पर आक्रमण करना चाहिए तथा गजारोही-गजारोही के साथ, अश्वारोही-अश्वारोही के साथ, रथी-रथी के साथ, पदाति-पदाति के साथ ही युद्ध करे और एक व्यक्ति एक

व्यक्ति के साथ, शस्त्र वाला शस्त्रधारी के साथ तथा अशस्त्रधारी-अशस्त्रधारी के साथ युद्ध करे।<sup>10</sup> धर्मयुद्ध को ध्यान में रखकर कोई भागने वाले, नपुसंक हाथ जोड़ने वाले, बिखरे हुए केश वाले, बैठे हुए मैं तुम्हारे शरण में आया हूँ ऐसा कहने वाले, निंदाधीन, युद्ध के योग्य वस्त्र न धारण करने वाले, नग्न युद्ध न करने वाले, देखने वाले, पानी पीने और भोजन खाने में प्रवृत्त, काम में रत, डरपोक तथा युद्ध के मैदान से भागने वाले सैनिक के ऊपर कभी भी प्रहार नहीं करना चाहिए।<sup>11</sup> शुक्र यह भी कहते हैं कि-वृद्ध, बालक, स्त्री तथा असहाय राजा को मारना नहीं चाहिए। योग्यतानुसार व्यवहार करके उनको अपने अधीन करना वह धर्मयुक्त कहलाता है। उपर्युक्त बतलाये हुए नियम धर्मयुद्ध के लिए है। कूट युद्ध के लिए नहीं धर्म युद्ध तू कूटे वै न सन्ति नियमाअमी।<sup>12</sup>

## 2. कूट युद्ध

कूट अर्थात् कपट, जिस युद्ध में इसका आश्रय लेते हैं वह युद्ध कूट कहलाता है। सामान्यतः जिस कपट का प्रयोग युद्ध में नहीं करना चाहिए उसका आचरण करके लड़ा जाने वाला युद्ध कूट युद्ध है। शत्रु के साथ ठग करना, उसकी कमजोरी का लाभ लेने के लिए कपट का प्रयोग होता है। इसलिए तो ग्रंथकार कूट युद्ध का महत्त्व बतलाते हैं कि बलवान शत्रु को पराजित करने के लिए कूट युद्ध के सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है।<sup>13</sup> जबकि कामन्दक कहते हैं कि-युद्ध के लिए भूमि और युद्ध के काल आदि विषय में शत्रु बलवान हो शत्रु के पक्ष में बिखराव पड़ने में सफलता प्राप्त न हुई हो और शत्रु की अपेक्षा में स्वयं बलवान न हो तब कूट युद्ध का आश्रय लेना चाहिए।<sup>14</sup> कामन्दक का यह कथन समुचित लगता है। क्योंकि

विजय के विषय में शंका लगे तब मानव कोई भी तरकीब आजमाने में प्रवृत्त होता है।

कूट युद्ध में कपट का आश्रय लेने हेतु सलाह देने में ग्रंथकार को कोई भी दिक्कत का अनुभव नहीं होता ऐसा लगता है कपट प्रयोग के प्रति उसका कोई भी अफसोस नहीं है। वे स्पष्ट कहते हैं कि शत्रु को निश्चयन कूट युद्ध से हटना चाहिए प्रत्येक व्यक्ति ऐसा मानता है कि अपना ही पक्ष योग्य है और शत्रु ही अन्यायों और पापी है। ऐसे पापी को मारने से धर्म का नाश नहीं होता। शुक्र कूट युद्ध यह अधर्म है ऐसी शंका को दूर करते हैं। इसके लिए ग्रंथ में उनके उदाहरण देते हैं। कि-प्राचीनकाल में राम, कृष्ण और इन्द्रादि देवताओं ने भी बलवान असुरों के साथ युद्ध में कूट युद्ध का आश्रय लेकर क्रमशः वालि, कालयवन और नमुचि नामक असुरों का नाश किया था।<sup>15</sup> तदोपरान्त ग्रंथकार पांचवे अध्याय में कृष्ण की कूटनीति का संदर्भ देते हुए कहते हैं कि-श्रीकृष्ण के जैसा दूसरा कोई कूटनीति राजा नहीं हुआ जिसने छलकपट से अपनी ही बहन सुभद्रा का विवाह अर्जुन के साथ करवा दिया।<sup>16</sup> विजिगीषु राजा का शत्रुओं द्वारा या फिर अपने द्वारा किये गये सामादि उपाय की तथा सन्धिविग्रहादि छह गुणों और मंत्रणा को ध्यान में रखकर धर्मयुद्ध द्वारा या कूट युद्ध द्वारा शत्रु का नाश करना चाहिए वैसे शुक्र सलाह देते हैं।<sup>17</sup>

## 3. चढ़ाई-प्रयाण

समुद्रक्षालिता धरित्री की लब्धि इस उद्देश्य को पार पाड़ने के लिए विजिगीषु को यात्रा-चढ़ाई-प्रयाण करना चाहिए। विजय के लिए ही चढ़ाई करने के लिए किन्चित मुख्य बाते और चढ़ाई कौन कर सकता है उस विचार को शुक्रनीति

में प्रदर्शित किया गया है। तदानुसार प्रवेश के अनुरूप सैन्य के विनियोग का विचार भी आवश्यक है। ग्रंथकार के मतानुसार पानी की सुविधा वाले क्षेत्र में वृषभों तथा अश्वों को, वन्य प्रदेशों में उटों और हाथियों को तथा सामान्य प्रवेश में पदाति सैनिकों को रखने से उसका रक्षण होता है।<sup>18</sup> तथा राज्य में प्रत्येक चार कोश पर सौ-सौ सैनिकों की टुकड़ियां रखनी चाहिए।<sup>19</sup> इस पर से लगता है कि समतल प्रदेश में अश्वबल, विसमभूमि में और पर्वतीय प्रदेश में गजबल विशेष सफल बनते हैं।

रास्ते में सैन्य को चलने की व्यवस्था, नदी, पर्वतीय में भय की संभावना वाले विस्तार में व्यूह बांधकर चलने का निर्देश ग्रंथकार करते हैं।<sup>20</sup> रास्ते में नदी, पर्वत, जंगल या दुर्गम प्रदेश के कारण जहां-जहां भय की संभावना हो वहां-वहां सेना नायक का व्यूह बांधकर हमला करने का निर्देश किया है। हमला करने वालों के ध्यान में रखने वाली बातों की भी चर्चा ग्रंथकार ने की है। तदनुसार छोटे-छोटे तोप, बंदूक को सैन्य के आगे रखकर तथा पदाति सैन्य के पीछे एवं गजबल और अश्वबल को दोनों ओर रखकर शत्रु पर आक्रमण करना चाहिए और युद्ध के लिए अनुकूल भूमि जहां मिले वहां तदनुसार कभी सामने से और कभी भिन्न तरीके से हमला करने या कभी पीछे हटकर सबसे पहले सेनापति अपनी आधी सैन्य को साथ रखकर युद्ध की शुरुआत करे ऐसा कहा गया है।<sup>21</sup> जब प्राण संकट की स्थिति में आये तब राजा को स्वयं रण मैदान में उतरना चाहिए।

नृपसङ्गापितेः पश्चात् स्वतः प्राणात्येय च तत्।<sup>22</sup>

शत्रुसेना दुर्घटनाग्रस्त हो तो भी उनका नाश और अपनी सेना का रक्षण करने

का निर्देश ग्रंथकार करते हैं।<sup>23</sup> दूर से चलकर आने के कारण थकी हुई, भूख-तृषा से व्याकुल, रोगी, दुष्काल, लूटी हुई, कीचड़ धूल और पानी से भीगी हुई, हाफती, सोई हुई, खाने में प्रवृत्त दुर्गतिग्रस्त, भयंकर अग्नि के लपेट से डरी हुई, वर्षा तथा आंधी से भयभीत ऐसी दुर्घटनाओं से अत्यंत व्याकुल बनी हुई अपनी सेना की रक्षा करनी चाहिए। लेकिन शत्रु सेना की ऐसी स्थिति हो तो उनका नाश करना चाहिए।

शत्रु पर हमला करते समय सेना की आय बढ़ाने का भी निर्देश ग्रंथकार करते हैं।<sup>24</sup> शत्रु पर हमला करते समय सैनिकों की तनख्वा में एक चौथाई हिस्से अभिवृद्धि करके युद्ध के मैदान में ढाल और कवच से अपनी शरीर की रक्षा करे तथा अपने सीमावर्ती राज्यों को रक्षा रीति का भी संकेत मिलता है। तदनुसार अपने पड़ोसी राज्यों का दूसरे के द्वारा किसी भी स्थिति में हासिल न करने दे अपितु उन्हें मदद कर अपनी ओर कर लेना चाहिए।<sup>25</sup>

प्रयोग योग्य समय का भी दिशासूचन हुआ है।<sup>26</sup> वह ठीक है क्योंकि अनुकूल समय पर की गई लड़ाई सरल और सफल होती है। अतः शुक्र के मतानुसार युद्ध के लिए समय, शरद, हेमंत और शिशिर कहा गया है। वसंत ऋतु का समय मध्यम और ग्रीष्म ऋतु का अधर्म समय कहा गया है। तथा वर्षा ऋतु में युद्ध करना सदा अप्रशंसनीय है। उस समय तो किसी भी तरीके से शत्रु के साथ संधि करने की सलाह दी है। हमला करते समय साथ में सामान भी हो सकता है। उनके वहन के बारे में शुक्र का मत है कि—सर्वप्रथम हाथी, वृषभ, अश्व सामान उठाने में श्रेष्ठ है। वर्षाकाल के बाद अन्य सभी ऋतुओं में सामान परिवहन हेतु बैलागाड़ी ही योग्य है।<sup>27</sup> इसलिए काल देखकर ही यात्रा

करनी चाहिए। इस प्रकार ग्रंथकार ने हमला संबंधित ऐसे व्यावहारिक सूचन किए हैं।

#### 4. व्यूह विधान

युद्ध में शत्रु के ऊपर मिली हुई सफलता में व्यूह रचना अधिक महत्त्व का परिबल है। सैन्य किसी भी प्रकार या बिना आयोजन लड़े तो उनका विजय निश्चित ही हो जाता। बल्कि जान-हानि का आतंक बढ़ता है बड़ा नुकसान सहना पड़ता है। जबकि मर्यादित ऐसा सैन्य भी जब पद्धतिसर भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में, भिन्न-भिन्न किन्तु निश्चित दायरे में लड़े तो थोड़ी कम जान-हानि हो और अल्प मौतों से विजय शक्य बनता है। युद्ध के समय सैन्य के अंगों की सुव्यवस्थित विविध आकार रचना को व्यूह कहते हैं। इस प्रकार व्यूह पर युद्ध का व्यावहारिक पक्ष है। जो प्राचीन भारतीय राजनीति शास्त्रीय या अन्य ग्रंथों सैन्य संचालन पर ज्यादा प्रकाश डालते हैं वे ग्रंथ व्यूह विधान का महत्त्व समझ कर उनकी चर्चा करते हैं। आचार्य शुक्र ने भी इस परंपरा का अनुसरण किया है।

युद्ध में विविध संकेतों के विषय में ग्रंथकार ने कतिपय स्पष्टता से की है।<sup>28</sup> वाजिंत्र बजाने की रीत से किये गये व्यूह रचना के संकेत ऐसे होने चाहिए कि अपनी सेना के सिवा अन्य कोई भी सैनिक उनको जानता न हो। इस तरह से बुद्धिमान राजा सदा विविध प्रकार की व्यूह रचना में सैनिकों को रखे। तथा अश्वरोही, गजारोही और पदाति सैनिकों को अलग-अलग बुलाकर राजा व्यूहरचना के संकेतों को व्यवस्थित समझाए। आस-पास, मध्ये और आगे के भाग में स्थित सैनिक उन संकेतों को सुनकर जैसे संकेत किया गया हो वैसे ही काम करना चाहिए। संकेतानुसार

कब सबको इकट्ठा हो जाना, विस्तरण करना, चारों ओर घुमना, धीरे-धीरे चलना, तीव्र चलना, पीछे हटना, एक साथ आना, खड़े हो जाना, वापस जाना, अष्टकुल कमल के जैसे व्यूह रचकर खड़े होना या चकोर होकर खड़े रहना, कम से कम न्यून सेना की टुकड़ी बनाकर भिन्न-भिन्न हो जाना या फिर हार बनाकर बैठ जाना, आयुद्ध धारण करके लक्ष्य का संधान एवं उनका भेदन करना, हथियारों से पद्धतियां बदलकर प्रहार करना शीघ्रता से धनुष पर बाण का अनुसंधान करना, छोड़ना, तीर खींचना, छोड़ना, बार-बार ऐसा करके स्वयं को प्रतिघात से बचाना, अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग बदलकर प्रयोग करना, कभी दो, तीन या चार की हार बनाकर चलना, आवश्यकतानुसार आगे बढ़ना, पीछे हटना या नजदीक जाकर आक्रमण करना चाहिए। सैनिकों को इन सभी बातों को संकेतानुसार कहनी चाहिए।

शुक्र युद्ध में विविध सेनांग की रचना कैसे करनी चाहिए उस विषय की कतिपय जानकारी भी दी है। व्यूहस्थ सैनिक को हथियार चलाने की अनुकूलता के लिए पीछे हटकर, समीप जाकर हथियार चलाना चाहिए। हथियार चलाने के बाद बैठ जाना चाहिए या फिर आगे चले जाना चाहिए। आगे बैठे हुए शत्रु को देखकर उनके पास जाकर अपने आयुधों का प्रयोग करना चाहिए। एक-एक, दो-दो या फिर समूह में पूर्व संकेतित रीत से सैनिकों को चलना चाहिए।<sup>30</sup>

शुक्र के व्यूह के अंग बतलाये नहीं हैं। किन्तु कामन्दक ने उरस्थ, कक्ष, पक्ष, पृष्ठ, कोटि और प्रतिग्रह यह सभी अंग व्यूह में होने चाहिए ऐसा बृहस्पति का मत है। जबकि शुक्र का मत ऐसा है कि व्यूह में से कक्ष को निकाल देना चाहिए।<sup>31</sup> वह बतलाकर कामन्दक शुक्र

के मतानुसार चार अंगों के व्यूह ही उचित है ऐसा बतलाते हैं फल्गुसैन्य अर्थात् बिना तालीम का असार सैन्य और युद्धप्रयोगी सामग्री अनुक्रम से व्यूहमध्ये और पृष्ठभाग में रखना और मुंडानिक सैन्य को भी व्यूह में जोड़ने को कहा है।<sup>32</sup> कौटिल्य के अनुसार संबंधियों के राज्य पताका के बिना लड़ते सैन्य को मुंडानिक कहते हैं।<sup>33</sup>

## प्रकार

शुक्र ने नदी पर्वतादि में भय के स्थलों पर व्यूह रचना करके चलने का तथा उसकी योजना का निर्देश करके व्यूह के आठ प्रकारों की लक्षणादि की चर्चा की है।

### 1. कौच्चव्यूह

आकार में जैसे बको की तरह हारबद्ध होकर चले वैसे कौच्चव्यूह की रचना करके सैनिक स्थानीय बल अनुसार आगे बढ़े उसे कौच्च व्यूह कहते हैं।<sup>34</sup>

### 2. श्येनव्यूह

जिसके दोनों ओर के भाग विशाल हो, गले का भाग पतला हो, पीछे भाग मध्यम हो एवं मुख्य भाग पतला हो ऐसी सैनिकों की हार को श्येनव्यूह कहते हैं।<sup>35</sup> जबकि कामन्दक के मतानुसार दूरस्थ भाग निकला हो, पक्ष अंदर हो और कक्ष मध्य भाग में हो उसे श्येन (बाण) व्यूह कहते हैं।<sup>36</sup>

### 3. मकरव्यूह

जिसमें चार भाग में चार चरण हो लंबे और बड़े मुख वाले भाग हो, उसमें ऊपर नीचे दो ओष्ठ भाग हो ऐसी हार में रहने वाले सैन्य को मकरव्यूह कहते हैं।<sup>37</sup>

### 4. सूची मुखव्यूह

जिसका आगे का भाग सूची के

जैसा तीक्ष्ण हो तथा मध्य भाग समान रूप से दंड के जैसा लंबा हो और मूल भाग में दण्ड हो ऐसी सेना की हार को सूची मुखव्यूह कहते हैं।<sup>38</sup>

### 5. चक्रव्यूह

जो व्यूह चक्र के जैसा गोल हो और मध्यम में आठ खंडोल में विभक्त हो तथा उसकी आकृति वर्तुलाका हो एवं उसमें प्रवेश का एक ही मार्ग हो उसे चक्रव्यूह कहते हैं।<sup>35</sup>

### 6. सर्वतोभद्रव्यूह

जिस व्यूह के चारों ओर आठ विभाग में सेना विभक्त हो उसे सर्वतोभद्र व्यूह कहते हैं। अथवा सभी ओर जिसका मूल हो तथा आठ गोलाकार हार से बने हुए हो और उसमें प्रवेश का कोई मार्ग न हो उसे भी सर्वतोभद्रमुख कहते हैं।<sup>40</sup>

### 7. शकटव्यूह

गाड़ी के जैसे सैन्य संरचना को शकटव्यूह कहते हैं।<sup>41</sup> कामन्दक के मत उरस्य दो गुना होता है और उसके आस-पास पक्षों का दण्डकार ने उत्तरोत्तर लंबे सुगठित किए हो उसे शकटव्यूह कहते हैं।<sup>42</sup>

### 8. व्यालव्यूह

सर्पाकार सैन्य संरचना को व्यालव्यूह कहते हैं।<sup>43</sup> व्यूह के उपयोग हेतु ग्रंथकार ने कुछ बातें की हैं।<sup>44</sup> तदनुसार रास्ते में नदी, पर्वत, जंगल या फिर दुर्लभ स्थान के कारण जहां-जहां भय की शक्यता हो वहां-वहां सेनानायक सेना को व्यूह बनाकर आगे बढ़ें। जो आगे से ही भय की संभावना लगे तो बड़े मकर के आकार की व्यूहरचना करके चलना अथवा पंखवाले बाजपक्षी के जैसे अथवा सूची के आकार की व्यूह रचना करके चलना और जो पीछे से भय की आशंका हो तो शकटाकार भी व्यूह रचना करनी

चाहिए। दोनों ओर से भय की संभावना में वज्रव्यूह और सभी ओर से भय की आशंका में चक्रव्यूह अथवा सर्पाकार व्यूह की रचना करनी चाहिए। अथवा देशानुसार शत्रु सेना का नाश करने वाला व्यवहार करना चाहिए।

शुक्र नीतिशास्त्र में की गई व्यूह रचना के चर्चा के बाद अंत में कहा जा सकता है की प्रायः आकार पर से व्यूह क नाम दिये गये हैं। युद्ध के पहले सैन्य का जो आकार रचे वह युद्ध दरमियान भी टिके रहे और उस प्रकार उसकी गति हो वह जरूरी है। क्योंकि अन्यथा व्यूह रचना का महत्त्व लाभ मिल सकता नहीं। अंत में तो व्यूह का एक प्रयोजन मर्यादित सैन्य की लाभकर रचना ही है। अलबत्त शुक्रनीति में व्यूह के प्रकार दिये गये हैं और उसको विस्तृत से समझाया गया है।

### 9. दानकल्पना

भारतीय राजनीतिशास्त्र यह बात समझाते हैं कि युद्ध में स्वामी के लिए प्राण का बलिदान देने को तत्पर सैनिकों की धमकी मनोन्नति की अपेक्षा होती ही है अन्य शब्दों में कहे तो युद्धरत सैनिकों को किसी भी प्रकार के प्रोत्साहन की या फिर कोई लाभ की जरूरत रहती है। ऐसे लाभ की प्राप्ति होने के कारण सैनिक युद्ध के प्रति टिका रहता है। उसका वर्धन होता है। शुक्र मानव के वास्तविक स्वभाव से परिचित है। इसलिए सैनिकों को प्रोत्साहित करने का सम्मान देने का पगार बढ़ाने का आदी संकेत करते हैं। शुक्र के मतानुसार सैनिक के द्वारा यदि कोई भी नया उत्कृष्ट पराक्रम हुआ हो तो राजा को उसका पारितोषिक के रूप में, धन तथा अधिकार देना चाहिए। जब कोई सैनिक चांदी, सोना या अन्य द्रव्य जीतकर लाता है तो उसे खुश कर प्रसन्नचित से उनके

कार्य के अनुसार उसे धन देकर प्रोत्साहित करना चाहिए।<sup>46</sup> सैनिकों का उनकी योग्यतानुसार पगार तथा राजधानी में से बाहर निकले तब मूल पगार के तीसरा भाग भत्ता के रूप में देना चाहिए तथा सैनिकों के धन का भी अपने कोश की तरह राजा को रक्षण करना चाहिए।<sup>47</sup> इसलिए योद्धाओं को उत्साहित करते रहना चाहिए। उपरांत शुक्र सैनिकों में उत्साह वर्धन हेतु मदिरा पाने का भी निर्देश करते हैं।<sup>48</sup>

एक शोधनीय बात यह है कि शुक्र स्वपक्ष में युद्ध करते हुए मरने वाले को उत्तम लोक की प्राप्ति का प्रलोभन देते हैं।<sup>49</sup> क्षत्रिय युद्ध के मैदान में आयोग्य पर प्रहार करके अंतिम क्षण तक युद्ध करता है और युद्ध में पीछे हट किये बिना ही मृत्यु प्राप्त करता है उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। तथा जो वीर पुरुष भय के बिना पराक्रम से सेना के आगे होकर स्वामी के लिए लड़ते-लड़ते मृत्यु को प्राप्त करता है वह अनंतकाल तक स्वर्ग पाता है। उपरांत ग्रंथकार ऐसा भी निर्देश करते हैं कि-युद्ध में मृत्यु हुए वीरों के लिए कभी भी शोक नहीं करना चाहिए क्योंकि वे सभी पापों से मुक्त होकर पवित्र होने के कारण सुंदरलोक को प्राप्त करते हैं। तथा युद्ध में वीरता से लड़कर मृत्यु हुए योद्धाओं के आगे सैकड़ों अप्सराएं दौड़ी चली आती हैं और अपने स्वामी-पति को ऐसी सराहा करती हैं।

शुक्र के मतानुसार संन्यासी लंबी तपस्या के बाद जो उत्तम लोक प्राप्त करता वह पद लड़ाई के मैदान में लड़ते-लड़ते मृत्यु हुए शूरवीर प्राप्त कर लेते हैं।<sup>49</sup> इस प्रकार युद्ध भूमि में लड़ते हुए मृत्यु पाने वाले को उत्तम लोक की प्राप्ति का प्रलोभन देने के बावजूद भी स्पष्टता से धन के दान से उनकी कदर करने को कहते हैं। क्योंकि बहुत कम

लोग धर्म प्राप्ति के लिए लड़ते हैं। धन के लाभ हेतु लड़ने वाले बहुत हैं। मानव स्वभाव की यह वास्तविकता शुक्र आदि आचार्य पहचानते थे।

## संदर्भ ग्रंथ सूची

- शुक्रनीति-चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी-1998
- शुक्रनीतिसार-चौखम्बा-वाराणसी-1998
- कामन्दकीय नीतिसार-गुजराती प्रिंटिंग प्रेस-मुंबई
- अनु. इ.स. देसाई, प्रा.ह. शास्त्री
- कौटिलीय अर्थशास्त्रम-इन्दीव्याख्योपेतम् व्याख्याकार वाचस्पति गैरोला प्रथम संस्करण-इ.स. 1932
- धर्मशास्त्र का इतिहास-पी.वी. काणे अनु. कश्यप (प्रथम भाग)
- शक को राजनीति-पाण्डेय श्यामलाल प्रकाशन लखनऊ-वि.सं. 2005
- भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास भीखजलाल आत्रेय-लखनऊ-1934
- भारतीय नीति का विकास-पाण्डेय श्यामलाल प्रकाशन-बिहार राष्ट्र सभा परिषद, पटना-1965

## पादटीप

1. शुक्रनीति-04/07/200-पृ.931
2. शुक्रनीति-04/07/221-पृ. 831
3. उत्तमं मान्त्रिकास्त्रेण नालिकास्त्रेण मध्यम । (शुक्रनीति 4/7/334-पृ. 871) शास्त्रः कनिष्ठं युद्धन्तु बाहुयुद्धं तताडधम् ॥
4. मंत्रे रितमहशा शक्ति बापायैः धैः शत्रुनाशनम् । मांत्रिकास्त्रेण तद्यद्धं सर्वयुद्धोत्तमं स्मृतम् ॥ (शु.नी. 4/7/335-पृ. 871)
5. शुनी-04/07/336-पृ. 871
6. शुक्रनीति-04/07/337-पृ. 872
7. शुक्रनीति-04/07/338-पृ. 872
8. शुक्रनीति-04/07/339-पृ. 873
9. शुक्रनीति-04/07/341-पृ. 873
10. शुक्रनीति-04/07/343-344-पृ. 878
11. शुक्रनीति-04/07/355-357-पृ. 879
12. शुक्रनीति-04/07/358-359-पृ. 880
13. न युद्धं कूटसदश नाशनं बलवद्रियाः ।

(शुक्रनीति-04/07/352-पृ.-880)

14. कामन्दकीयनीतिसार-19/54-पृ. 434
15. रामकृष्णोन्दादि देवैः कूटमेवादत पुरो । कूटेन निहतो बालिर्यवनो नमुचिस्तथा ॥ (शुक्रनीति-04/07/रु880)
16. न कूटनीतिरभवच्छीकृष्ण सदशो नृपः । अजन प्रापिता स्वस्य समुद्रभगिनी छलात् ॥ (शुक्रनीति-5/54, पृ. 925)
17. शुक्रनीति-04/07/350-877
18. शुक्रनीति-04/07/176-पृ.-815
19. शुक्रनीति-04/07/177-पृ.-816
20. शुक्रनीति-04/07/264-पृ.-874
21. शुक्रनीति-04/07/42-43-पृ.-875
22. शुक्रनीति-04/07/344-पृ.-875
23. शुक्रनीति-04/07/345-पृ.-875
24. शुक्रनीति-04/07/342-पृ.-877
25. शुक्रनीति-04/07/370-पृ.-884
26. शुक्रनीति-04/07/224-225-पृ.-833
27. शुक्रनीति-04/07/178-पृ.-816
28. शुक्रनीति-04/07/267-276-पृ.-848-849
29. शुक्रनीति-04/07/327-278-पृ.-551
30. कामन्दकीयनीतिसार-20/24
31. कामन्दकीयनीतिसार-20/31
32. कामन्दकीयनीतिसार-20/34-35
33. कौटिल्य अर्थशास्त्र-10/03/39
34. शुक्रनीति-04/07/279-पृ.-851
35. शुक्रनीति-04/07/280-पृ.-852
36. कामन्दकीयनीतिसार-20/46
37. शुक्रनीति-04/07/281-पृ.-852
38. शुक्रनीति-04/07/281-पृ.-852
39. शुक्रनीति-04/07/282-पृ.-853
40. शुक्रनीति-04/07/282-पृ.-853
41. शुक्रनीति-04/07/281-पृ.-853
42. कामन्दकीयनीतिसार-20-49
43. शुक्रनीति-04/07/283-पृ.-853
44. शुक्रनीति-04/07/264-266
45. शुक्रनीति-04/07/266
46. शुक्रनीति-04/07/372 पृ. 884
47. शुक्रनीति-04/83-70 पृ. 938
48. शुक्रनीति-04/07/353 पृ. 878
49. शुक्रनीति-04/07/303-10 पृ. 862
50. शुक्रनीति-04/07/311-12 पृ. 862-863
51. शुक्रनीति-04/07/313

# वर्ण व्यवस्था : एक अवलोकन

डॉ. राणा प्रताप सिंह

ऋग्वेद से लेकर समस्त परवर्ती भारतीय साहित्य में 'वर्ण' शब्द का विविध प्रयोग मिलता है। 'वर्ण' शब्द 'वृ' अथवा 'वर्ण' धातु से उत्पन्न होता है- 'वर्ण वृणुते' जिसका आर्थ है- वरण करना। वरण करने योग्य गुण और कर्मों को देखकर यथायोग्य जो उनका वरण तथा व्यवस्था है, वह वर्णव्यवस्था है। जब संज्ञा रूप में यह शब्द प्रयुक्त किया जाता है तो रंग, सौन्दर्य, अक्षर, स्वर, यष, प्रशंसा आदि अर्थों को प्रकट करता है। क्रिया रूप में प्रयुक्त होने पर इसका अर्थ रंगना अथवा वर्णन करना होता है। वर्ण शब्द से आर्य तथा दास जाति विशेष, ब्राह्मणादि चार वर्णों का भी बोध होता रहा है। वर्णव्यवस्था का अभिप्राय इन्हीं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र - चारों से सम्बन्धित व्यवस्था से है। किन्तु समय के प्रवाह में ये क्रमशः उपाधि मात्र होते जा रहे हैं।

## वर्णोत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्त -

प्रसिद्ध समाजशास्त्रियों ने वर्णोत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं, जिनमें कुछ पौराणिक तो कुछ धार्मिक और ऐतिहासिक विकास क्रम पर आधारित हैं।

1. पुरुष के विभिन्न अवयवों से उत्पत्ति का सिद्धान्त- इस सिद्धान्त के प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में है। इसके अनुसार सम्पूर्ण समाज एक विराट् पुरुष (ब्रह्मा) के रूप में परिकल्पित है। ब्राह्मण इस पुरुष का मुख है, क्षत्रिय भुजाएँ हैं, वैश्य जंघाएँ हैं और पुरुष के पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए हैं :-

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतु यच्च भव्यम्॥

ब्राह्मणोष्य मुखामासीत् बाहू राजन्यः कृतः।

उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोष्जायत॥'

यही परिकल्पना परवर्ती पुराणों तथा स्मृतियों में भी लगभग यथावत् ग्रहण कर ली गई है। महाभारत के शान्तिपर्व, मनुस्मृति, वायुपुराण तथा विष्णुपुराण में भी पुरुष के विभिन्न अंगों से वर्णोत्पत्ति का सिद्धान्त प्रस्तुत हुआ है।

2. गुण एवं कर्म से वर्णोत्पत्ति का सिद्धान्त: इस

सिद्धान्त का प्रतिपादन मुख्यतः भगवद्गीता में दृष्टिगोचर होता है। श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा है कि :- चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागषः<sup>2</sup>। शान्तिपर्व में उल्लेख है कि - आदौ सर्वे जना ब्राह्मणा आसन्। कालान्तरे कर्मभेदेन विविधवर्णवृत्तयोष्भवन्-  
न विशेषोस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्मणमिदं जगत्।

ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिवर्णतां गताम्॥

सत्त्व, रजस् और तमस्- ये त्रिगुण भिन्न-भिन्न<sup>1</sup> स्वरूप के होते हैं। इन गुणों के अनुपात के आधार पर व्यक्ति के कर्मों में भी स्वतः विभेद उत्पन्न हो जाता है। विष्णुपुराण में ब्राह्मणों में सत्त्वगुण की, क्षत्रियों में रजोगुण की, वैश्यों में रजोगुण-तमोगुण की एवं शूद्रों में तमोगुण की प्रधानता का उल्लेख है-

सत्याभिध्यायिनः पूर्वं सिसृक्षोब्रह्मणो जगत्।

अजायन्त द्विजश्रेष्ठ सत्त्वोद्रिक्ता मुखात्प्रजाः॥

वक्षसो रजसोद्रिक्तास्तथा वै ब्रह्मणोऽभवन्।

रजसा तमसा चैव समुद्रिक्तास्थोरूतः॥

पद्भ्यामन्याः प्रजाः ब्रह्मा ससर्ज द्विजसतम्।

तमः प्रधानस्ताः सर्वाष्चातुवर्ण्यमिदं ततः॥<sup>1</sup>

वायुपुराण में भी वर्णों के विभाजन का आधार सत्त्वादि तीन गुणों को कहा गया है।

3. रंगों से वर्णोत्पत्ति का सिद्धान्त : महाभारत के शान्तिपर्व में चारों वर्णों के भिन्न-भिन्न रंगों का वर्णन हुआ है-

ब्राह्मणां तु सितो वर्णः क्षत्रियाणां तु लोहितः।

वैश्यानां पीतको वर्ण शूद्राणामसितस्तथा॥<sup>2</sup>

किन्तु महाभारत के विभिन्न वर्णों के इन विभिन्न रंगों को वस्तुतः उनके सत्त्वादिगुण विषिष्ट स्वभाव के कारण कहा गया है।

4. व्यावसायिक उत्पत्ति का सिद्धान्त: इस सिद्धान्त के अनुसार बुद्धि के आधार पर व्यवसाय चलाने वाले विद्वान्, ऋषि आदि ब्राह्मण हुए। बाहुबल के आधार पर आजीविकारत रहने वाले क्षत्रिय, व्यापार में लगे रहने वाले वैश्य तथा इन तीनों की सेवा- परिचर्या में रत रहने वाले शूद्र हुए। कर्म (व्यवसाय) के आधार पर वर्ण- परिवर्तन के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं जैसे-विष्वामित्र, नाभाग, राजा शर्याति आदि।

5. समाज की आवश्यकतानुकूल वर्णोत्पत्ति का सिद्धान्त: उपनिषद् में वर्णित इस सिद्धान्त के अनुसार प्रारम्भ में अकेला

संस्कृत- विभाग, मधुपुर महाविद्यालय, मधुपुर एवं सिदो-कान्हू मुर्मू वि.वि., दुमका, झारखण्ड

ब्रह्म था, जो ब्राह्मण रूप था। उसने अकेले प्रगति न कर सकने के कारण कल्याण-कामना से एक और रूप बनाया जो क्षत्र रूप था। जिसमें इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र पर्जन्य, यम मृत्यु तथा इषान देवता समाविष्ट थे। तब भी सन्तुष्ट न होने पर उन्होंने वैष्णवत्व का निर्माण किया, जिसमें वसु, आदित्य, विष्णुदेव तथा मरुत् देवता समाविष्ट थे। इतना होने पर भी न्यूनता अनुभव होने से उन्होंने शूद्र के रूप में पूषण देवता का निर्माण किया।<sup>6</sup>

प्रारंभ में व्यक्ति की प्रकृति, रूचि और सामर्थ्य के अनुकूल विभिन्न कर्म निश्चित किए गये जो सभी समान स्तर पर स्वीकृत थे। परन्तु कालान्तर में विभिन्न कर्मों को ऊँच-नीच की दृष्टि से देखा जाने लगा। इस स्थिति में वर्ण भी उच्च और निम्न माने जाने लगे। फलतः वर्ण कर्मानुसार न होकर जन्मानुसार हो गये।

## वर्णव्यवस्था का ऐतिहासिक क्रम

भिन्न-भिन्न युगों में कर्म, जन्म अथवा व्यवसाय वर्णव्यवस्था के आधार रहे हैं।

**1. ऋग्वैदिक काल :-** ऋग्वेद के दशम मण्डल का पुरुष सूक्त चारों वर्णों का स्पष्ट उल्लेख तो अवश्य करता है किन्तु वह भी समय की दृष्टि से अर्वाचीन माना जाता है। इन्हीं कारणों से इस युग में वर्णव्यवस्था की स्थिति आनुमानिक ही रह जाती है।

**ऋग्वेद में ब्राह्मण शब्द अनेकषः** प्रयुक्त तो हुआ है पर जाति के अर्थ में नहीं। उसका अर्थ जन्म से ब्राह्मण वर्ण का व्यक्ति न होकर एक वर्ग विशेष है। स्तुतियों एवं प्रार्थनाओं (ब्रह्म) के प्रणेता ब्राह्मण कहलाते थे। क्षत्रिय शब्द भी जाति अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। देवताओं की उपाधि अथवा राजा के अर्थ में क्षत्रिय शब्द उपलब्ध है। पुरुष सूक्त में क्षत्रिय अर्थ में राजन्य शब्द का उल्लेख है। वैश्य शब्द भी ऋग्वेद में

पुरुष सूक्त के अतिरिक्त और कहीं नहीं हैं किन्तु 'विष' का प्रयोग अनेक बार हुआ है और उसका अर्थ है-समूह अथवा जनदल। इन्द्र को मानवीय समूहों (मानुषीणां विषाम्) का नेता कहा गया है। ऋग्वेद में शूद्र शब्द भी केवल पुरुष सूक्त में आया है। ऋग्वेद में जिन दास जातियों का उल्लेख है वे आर्यों द्वारा हरा दिये गये और कालान्तर में आर्यों की सेवा करने लगे।

**2. उत्तर वैदिक काल :** इस काल में वर्ण शब्द का अर्थ रंग की अपेक्षा जाति अर्थ में सुनिश्चित रूप से प्राप्त होता है। ब्राह्मण एवं क्षत्रिय वर्ण को वैश्य अथवा शूद्र-दोनों की अपेक्षा अधिक सम्मानीय माना गया। यद्यपि वर्णों में परस्पर ऊँच-नीच का भाव आ गया था किन्तु छुआछूत अथवा अस्पृश्यता प्रारंभ नहीं हुआ था। अशुद्ध अथवा निम्न वंश के पुरुषों के ब्राह्मण हो जाने के उदाहरण प्राप्त होते हैं, जैसे- कवश, वत्स, सत्यकाम जाबाल आदि। वर्तमान युग में वर्णव्यवस्था को निर्धारित करने वाले तीन तत्त्व-पारस्परिक खान-पान, विवाह और जन्मगत वर्ण- उत्तर वैदिक युग तक दृढ़तया स्थापित नहीं हो पाये थे।

**3. उपनिषद् तथा सूत्रकाल:** उपनिषद् और स्रोत, गृह, तथा धर्मसूत्रों का समय प्रायः 600 ई.पू. से 400 ई.पू. तक ग्रहण किया जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में चारों वर्णों की उत्पत्ति प्रगति के आधार पर वर्णित है। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार पूर्व जन्म के कर्म ही व्यक्ति के जन्म का आधार बनते हैं। इस प्रकार उपनिषदों में वर्णव्यवस्था अत्यन्त लचीले रूप में प्राप्त होती है। वर्णव्यवस्था का रूप सूत्रकाल में क्रमशः ही कठोर और जटिल होती गई। समाज में वैश्य एवं शूद्र का अपकर्ष हुआ। ब्राह्मणों का प्रभुत्व बढ़ा। वे सभी प्रकार के करों से मुक्त थे और अनिवार्यता होने पर राजा भी बन सकते थे। किन्तु क्षत्रिय पुरोहित नहीं बन सकते थे। शूद्रों को संस्कार और संन्यास ग्रहण का

अधिकार नहीं था।<sup>7</sup> गृह सूत्रों में अस्पृश्यता का प्रारंभिक रूप प्राप्त होता है। धर्मसूत्रों में एक ही अपराध के लिए चारों वर्णों को भिन्न-भिन्न प्रकार से दण्डित करने का विधान किया गया। सम्पत्ति पर शुल्क और धन पर ब्याज भी वर्णविभेद से भिन्न-भिन्न थे। हीन जातियों के स्पर्श से उत्पन्न कथित अपवित्रता के लिए विभिन्न प्रायश्चित्तों का विधान किया गया।

## 4. महाकाव्य एवं स्मृतिकाल :

ईसा पूर्व चौथी शती से दूसरी शती ईस्वी के प्रारंभ तक के 600 वर्षों में रामायण, महाभारत, कौटिल्य का अर्थशास्त्र तथा प्रारंभिक स्मृतियों का समय समाहित हो जाता है। इन छः सौ वर्षों के समय में वर्णव्यवस्था का सम्पूर्ण रूप स्थापित हो गया। साथ-साथ जाति-व्यवस्था का जटिल रूप भी समाज में स्वीकृत हुआ। स्मृतिकाल तक आते-आते मिश्रित वर्णों की संख्या बहुत बढ़ गई। अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह, त्रात्य पुरुष से विवाह आदि से उत्पन्न संतान की जाति भिन्न हो गई। इन सब का मनु ने विषद् वर्णन किया है। मनु की इस व्याख्या को आधुनिक समाजशास्त्रियों ने स्वीकार नहीं किया है।

## वर्ण के धर्म तथा विशेषाधिकार

धर्मसूत्रों और विशेषतया स्मृतियों में चारों वर्णों के कर्तव्यों और विशेषाधिकारों का निरूपण है।

**1. ब्राह्मण -** इस वर्ण को ब्रह्मज्ञान की ओर उन्मुख रहने और सत्य की खोज में ही लीन रहने के कारण ब्राह्मण कहा गया। वेदों का स्वाध्याय, यज्ञ और दान- ये तो ब्राह्मण के शाश्वत धर्म हैं। वेदों को पढ़ाना, यज्ञमान का यज्ञ कराना और दान लेना उसकी जीविका के लिए कर्म हैं। सत्य, मनोनिग्रह, तप और सोचाचार का पालन ये उसके सनातन धर्म हैं-

यजनं याजनं चैव तथा दानं प्रतिग्रहौ।

अध्यापनं चाध्ययनं शटकर्मा धर्मभाग द्विजः॥

नित्यं स्वाध्यायिता धर्मो धर्मो यज्ञः सनातनः।

दानं प्रषस्यते चास्य यथाशक्ति यथाविधिः।<sup>8</sup>

इन वृत्तियों के अतिरिक्त ब्राह्मण क्षत्रियवृत्ति एवं वैश्यवृत्ति तथा आपातकाल में शूद्रवृत्ति भी कर सकता है।

**2. क्षत्रिय** - महाभारत में लिखा है कि क्षत्रिय का प्रथम धर्म प्रजारक्षण एवं पालन है। कालिदास ने लिखा है - “क्षात्रात् किल त्रायत् इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः” अर्थात् जो क्षत्र-आक्रमण, आपत्ति से रक्षा करता है वही क्षत्रिय है जो कि वैदिक राजन्य की प्रतिध्वनि है। महाभारत के क्षत्रिय कर्मों में प्रजा की आय के सष्ठ भाग का उपभोक्ता राजा धर्म का फल प्राप्त करता है।

क्षत्रिय के अन्य धर्म हैं -

क्षत्रियस्य स्मृतो धर्मः प्रजापालनमादितः।

निर्दिष्ट फल भोक्ता हि राजा धर्मेण पूज्यते॥

भृत्यानां भरणं धर्मः कृते कर्मण्यमोघता।

समयगदण्डे स्थितिधर्मो वेद ऋतुक्रिया।

व्यवहार स्थितिधर्मः सत्यवाख्यरतिस्तथा।<sup>9</sup>

**3. वैश्य** - महाभारत के अनुसार वैश्यों के धर्म हैं -

वैश्यस्य सततं धर्मः पशुपाल्यं कृषिस्तथा।

अग्निहोत्रं परिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च॥

वाणिज्यं सत्पथस्थानमातिथ्यं प्रषमोदमः।

विप्राणां स्वागतं त्यागो वैश्यः धर्मः सनातनः॥<sup>10</sup>

समष्टि रूप से द्विजों का (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य)

धर्म है -

द्विजातीनामृतं धर्मोहोक्श्चैवैक लक्षणः।

यज्ञाध्ययनदानानि त्रयः साधारणः स्मृताः॥

**4. शूद्र** - शूद्रों के धर्मों का उल्लेख करते हुए महाभारत में कहा गया है कि -

शूद्रः धर्मः परोनित्यं शुश्रूषा च द्विजातीषु।

स शूद्रः संषिततया सत्यवादी जितेन्द्रियः।

सुश्रुषुरतिथिं प्राप्तं तपः संचिनुते महत्॥<sup>11</sup>

मनुस्मृति लिखिता है -

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिषत्।

एतेषामेव वर्णानां सुश्रुषामनसूयया!!

## वर्णव्यवस्था में परिवर्तन

परम्परागत समाज से आधुनिक समाज की दिशा में विकासोन्मुख भारत जिस संक्रमणकाल से होकर गुजर रहा है,

उसके कारण वर्ण - व्यवस्था की मुख्य विशेषताओं जैसे - व्यवसाय, खान-पान की शुद्धता, विवाह के नियम आदि में काफी लचीलापन तथा विविधता परिलक्षित हो रहा है। अब व्यवसाय का चयन जन्म पर आधारित नहीं रहा। ब्राह्मणों से संबंधित पौरोहित्य और कथित अछूतों से संबद्ध मरे जानवरों की खाल उतारने वाले व्यवसाय को छोड़कर अन्य व्यवसायों को अपनाने में काफी गतिशीलता आई है। खेती और व्यापार सबके लिए मुक्त हो गया है। बहुत कम स्थानों पर ब्राह्मणों का मुख्य कर्म पठन-पाठन और यज्ञ रह गया है।

खान-पान की कसौटी के आधार पर यह मान लिया जाता है कि ब्राह्मण का शाकाहारी होना अनिवार्य है। लेकिन वास्तविक सामाजिक व्यवहार के अन्तर्गत बंगाल, असम, उड़ीसा, मिथिला तथा हिमालय के पर्वतीय अंचलों में रहने वाले ब्राह्मण प्रायः मांसाहारी हैं। प्राचीन, मध्ययुगीन तथा आधुनिक राजघरानों की सामाजिक स्थिति पर विचार करें तो स्पष्ट होता है कि इनमें से अनेक क्षत्रिय नहीं थे। अपनी क्षमता और शक्ति के आधार पर इन वर्णों ने क्षत्रिय वर्ण की सामाजिक स्थिति प्राप्त की। उन्होंने न केवल राजसत्ता पर कब्जा किया बल्कि वास्तविक क्षत्रिय घरानों के साथ शास्त्र-सम्मत रूप से विवाह करने में भी इन्हें सफलता प्राप्त हुई। नए व्यवसाय, नए कानून, औद्योगीकरण, नगरीकरण, वाणिज्य की वृद्धि, शिक्षा का प्रसार, मौद्रिक अर्थव्यवस्था आदि के कारण वर्णव्यवस्था में काफी परिवर्तन हुआ है।

परिस्थितियों में समान वितरण की भावना के मध्य भारतीय वर्णव्यवस्था का उद्भव हुआ था। जब तक पारस्परिक सहयोग की भावना रही-राष्ट्र और समाज सुखी रहा। किन्तु जब से जन्मानुसार वर्ण-निर्धारण और समाज ऊँच-नीच की धारणा विकसित हुई-राष्ट्र और समाज विघटन की ओर अग्रसर हुआ। समाज का निरन्तर उत्कर्ष प्रायः रूक सा गया है। आज भारतवर्ष का प्रत्येक विचारक इस वैषम्योत्पादक प्रथा की आलोचना करता है। क्योंकि यह वर्णव्यवस्था भारतीय समाज के पुनरुत्थान में एक महान् बाधा है।

## सन्दर्भ

1. ऋग्वेद 10/90/1-2,12
2. श्रीमद्भगवद्गीता 4/13
3. महाभारत, शान्तिपर्व 188/20
4. विष्णुपुराण 1/6/3-5
5. महाभारत, शान्तिपर्व 12/188/5
6. बृहदारण्यकोपनिषद्
7. पी.वी. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास - I
8. महाभारत, अनुशासनपर्व
9. महाभारत
10. महाभारत
11. महाभारत

## ज्योतिष विज्ञान है?

डॉ. अभिषेक कुमार द्विवेदी

मैं इस अधोलिखित बातों से यह नहीं बतलाना चाहूंगा कि ज्योतिष एक विज्ञान है, बल्कि आप सभी इस संबंध में स्वयं सोचेंगे कि ज्योतिष एक विज्ञान है या नहीं। बहुत पहले यह सिद्ध हो चुका है कि पहले संस्कृत भाषा के माध्यम से ही सभी विषयों की शिक्षा दी जाती थी। मैं इस संबंध में काल निर्णय नहीं करना चाहूंगा क्योंकि इससे उपर्युक्त विषय को उपस्थित करने में दीर्घता आयेगी। किन्तु इतना सत्य है कि जब Science (विज्ञान) शब्द भारत में नहीं आए थे उस समय ज्योतिष शास्त्र के अंतर्गत ही आज के सभी आधुनिक Science Subject (विज्ञान-विषय) आते थे जिसमें मुख्य रूप से गणित, वास्तु-कला, विमानशास्त्र, चिकित्सा-विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान और नक्षत्र राशि से संबंधित शौर्य विज्ञानादि। जिसमें नक्षत्र विज्ञानादि को आज का आधुनिक विज्ञान नहीं माना जाता है। आज का चिकित्सा शास्त्र तो पहले का आयुर्वेद है। भले ही उसकी पद्धति बदल गयी हो कुछ नए-नए अन्वेषण हुए हैं। हम जिसे पहले आयुर्वेद में तत्त्व के नाम से जानते हैं आज उसी को आधुनिक विज्ञान में हम विटामिन आदि शब्दों से सूचित करते हैं।

इस विज्ञान शास्त्र का हास होने के बहुत से कारण हैं जिसमें राजनैतिक कारण प्रमुख स्थान रखता है। प्राचीन काल में इस शास्त्र को राजवर्ग से सहायता प्राप्त था। फलतः इसको जानने वाले बहुत से लोग हुए। जिनमें आर्यभट्ट, वराहमिहिर, भास्कराचार्य, सायनाचार्य आदि प्रमुख हैं। हमारा ज्योतिष विज्ञान कितना प्राचीन है कुछ विदेशी विद्वानों के मत में—

(क) 'प्रोफेसर मैक्समूलर' ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'भारतवासी आकाशमंडल और नक्षत्रमंडल के बारे में अन्य देशों के ऋणी नहीं हैं। मूल आविष्कर्ता इन वस्तुओं के वे ही हैं

India con what can it techers—Page.360.

(ख) अलबरूनी ने लिखा है कि ज्योतिष शास्त्र में हिन्दु लोग संसार की सभी जातियों से बढ़कर हैं मैंने अनेक भाषाओं के अंकों के नाम सीखे हैं पर किसी जाति में भी हजार से आगे संख्या के लिए मुझे कोई नाम नहीं मिला; हिन्दुओं में 18 अंकों तक की संख्या के लिए

नाम हैं, जिनमें अंतिम संख्या का नाम परार्ध बताया गया है।

Alvanuni's India, G-1, P.No.—174 -177

अब मैं विषयान्तर होना नहीं चाहता हूँ किन्तु इतना तो जरूर कहना चाहूंगा कि आज जो ज्योतिष विज्ञान की दुर्दर्शा है वह हम ही लोगों की देन है। Biology, Medical Science, Physics, Chemistry, Information Technology आदि विषयों में लगातार शोध किए जा रहे हैं तथा उन्हें स्वीकार पक्ष से उनको सहायता मिलती रही है। किन्तु इस शास्त्र की जहां तक उपेक्षा ही हुई है। तथा ज्योतिष विज्ञान नहीं है यह कहने के लिए हम सभी दोषी हैं। यदि कोई मरीज किसी डॉक्टर के पास जाता है और जाने के बाद उसकी मृत्यु हो जाती है तो वैसी स्थिति में हम क्या कहेंगे? डॉक्टर गलत या डॉक्टरी गलत! वस्तुतः ज्योतिष के विषय में भी यही बात सामने आती है। केवल हस्तरेखा, जन्मकुण्डली जानना ही ज्योतिष का आधार नहीं रहा है। यदि हम ऐसा मानते हैं तो उसमें कौन दोषी है—ज्योतिषशास्त्र या ज्योतिषज्ञ। यदि कम जानकारी प्राप्त कर चिकित्सालय खोले जायेंगे तो मरीज मरेंगे ही। यदि इससे हम चिकित्सा विज्ञान को दोष देते हैं तो गलती किसकी है—हमारा या चिकित्सा विज्ञान की। अब मैं इन बातों को लम्बा खींचना नहीं चाहता हूँ नीचे कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं निर्णय हम सभी करेंगे कि ज्योतिष एक विज्ञान है या नहीं:—

**गणित**—शून्य, दशांश-पद्धति, संख्या, पाई ( $\pi$ ) का मूल्य, पाइथागोरियन सिद्धांत (कर्ण वर्ण = पादवर्ग + लम्ब वर्ग) आदि हमारे मनीषियों ने पहले ही इस संबंध में लिख डाला है। ये सभी भारत की ही देन है। डॉ. वी.पी. दलाल (हीडन वर्ग विश्वविद्यालय जर्मनी) शब्दों में—प्राचीन भारतीय गणितज्ञ बहुत पहले ही संख्या के क्षेत्र में निपुण थे। जिस समय ग्रीक लोग 1000 संख्या लिखना जानते थे उसी समय में भारतीय लोग गणना मणिसाधन से गुणादिक क्रिया आदि करते थे। जब ग्रीक लोग गुणा करना जानते थे तो उस समय भारतीय लोग  $\pi \times 10$  का मूल्य निर्धारण करना जानते थे।

पाइथागोरियन सिद्धांत के संबंध में भास्कराचार्य ने पाइथागोरस से 300 वर्ष पहले शून्य सूत्र में निरूपित किया था—

तत्कृत्योर्योगपदं कर्णः, दोष्कर्णवर्गयोर्विवरात् ।

मूलं कोटिः कोटि श्रुतिकृत्योः अंतरात् पदंबाहुः ॥

लीलावती, भास्कराचार्य

$\pi \times 10$  का मूल्य निम्नलिखित श्लोक से उद्धृत होता है। जो कटपयादि संख्या के मूल्य पर आधारित है। ऐसे तो

निम्नांकित श्लोक का अर्थ विषय परक और शिवपरक है किन्तु बौद्धिक व्यायाम के बाद स्वतः स्पष्ट होती है।

गोपी भाग्यमधुव्रात-शृङ्गिःशोदधिसन्धिग ।  
खलजीक्तिखाताव गलहारसन्धर ॥

**भौतिकशास्त्र**—सायणाचार्य ने प्रकाश के वेग को इस तरह से प्रतिपादित किया है—

योजनानां सहस्रं द्वे, द्वे शते द्वे च योजने ।  
एकेन निमिषार्धेन, क्रममाण मनोऽस्तु ते ॥

इस व्याख्यान में प्रकाश का वेग 7400 कोश कहा गया है। अर्थात् 18500 मील और आधुनिक विज्ञान प्रकाश का वेग 156202.3960 मील कहते हैं। ऊर्जा पिण्ड का आनुपातिक है ( $E=mc^2$ ) ऐसा आइस्टीन महोदय के दर्शनवाद से सुना जाता है। किन्तु इसके लिए (त्वष्टयंत्रभ्रमि भ्रान्तमार्तण्डज्योतिरुज्ज्वलः) ऐसा भवभूति ने प्रयोग किया है। विश्वकर्मा की पुत्री संज्ञा सूर्यवधू हो गयी, किन्तु सूर्य के अधिक तेज से पीड़ित संज्ञा ने पिता का अपना कष्ट बतलायी। वे अपने त्वष्टयंत्र द्वारा ऊर्जा को न्यून कर दिए ऐसी पुराणों में कथा आती है यह कथा उर्जा-पिण्ड बंधन को निरूपित करती है।

एक बार 'सैन्स टुडे' नामक पत्रिका में प्रकाशित आइस्टीन महाशय का यह वाक्य देखने लायक है जो इस प्रकार है—You hail from India in the name of Hindu Philosophy. Yet you have not crew to learn sanskrit come along. See my library whice treasures classics from sanskrit, the with and other treatises on Hindu Philoshopy. They are the main source of my inspirations and guidelines fro the purpose of scientific investigations and formulation of theories.

**भूगर्भशास्त्र**—भूमि की आकृति गोल है ऐदम्यप्राथम्य मामल नामक व्यक्ति ने प्रतिपादित किया ऐसा हम सभी अपनी-अपनी पाठ्य-पुस्तकों में पढ़ते हैं, किन्तु संस्कृत भाषा में तो प्राचीन

काल से व्यवहार भूगोल ऐसा ही है। यह व्यवहार ही भूमि के गोलाकारिता को समर्थित करता है। धिक्कार है उन मेकालय पुत्र के विशेष बुद्धि को! और गोल परिभाषा में ऐसा कहा गया है—

मृदम्ब्वग्यनिलाकाशापिण्डोऽयं पांच  
भौतिकः ।

कपित्थफलवद्वृत्तः सर्वकेंद्रे खिलश्रयः ॥

स्थिरः परेशशक्त्येव सर्वगोलादधःस्थितः ।

मध्ये समन्तादण्डस्य भूगोलोण्योमि  
तिष्ठति ॥

आर्यभट्ट भूव्यास को लेकर कहते हैं “जिला भूः” अर्थात् भू-व्यास 1050 योजन होता है (1050×12=12600 किलोमीटर) आधुनिक भी यही प्रमाण देते हैं।

पृथ्वी घूमती है सूर्यमण्डल भी पराशक्ति को केंद्रित कर घूमती है ऐसा हमारे पूर्वजों का सिद्धांत है। कालिदास के समय में भूशास्त्र विज्ञान कैसा था यह बात 'मेघदूत' को पढ़ने से पता चलता है। भूमि के गुरुत्वाकर्षण शक्ति के विषय में भारतीयों ने न्यूटन और गैलेलियों से सैकड़ों वर्ष पहले ज्ञात कर लिया था। भास्कराचार्य ने सिद्धांतशिरोमणि के गोलाध्याय में कहा है—

आकृष्टशक्तिश्च महीतया यत्  
स्वस्थं गुरु स्वामिमुखं स्वशक्त्या ।

आकृष्यते तत्पततीति भाति समे  
समन्तात् क्व पतित्वियं खे ॥

अर्थात् पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है; इससे वह अपने आस-पास के पदार्थों को खींचा करती है। पृथ्वी के समीप में आकर्षण शक्ति अधिक होती है और जिस प्रकार दूरी बढ़ती जाती है, वैसे ही वह घटती जाती है। भास्कराचार्य ने इसके कारण का विवेचन करते हुए लिखा है कि किसी स्थान पर भारी और हल्की वस्तु पृथ्वी पर छोड़ी जाय तो दोनों समान काल में पृथ्वी पर गिरेंगी; यह न होगा कि भारी वस्तु पहले और

हलकी वस्तु बाद में। अतएव ग्रह और पृथ्वी आकर्षण शक्ति के प्रभाव से भ्रमण करते हैं।

**वास्तु-विद्या**—सिन्धु सभ्यता के चित्र प्रायः सभी को आश्चर्यचकित करता है। वहां की वास्तुविद्या अतिप्राचीन ओर अत्युत्कृष्ट था। कर्नाटक के बेंगलुरु में विद्यमान भूमि स्पर्श रहित स्तंभ, कोणार्क क्षेत्र के सूर्य मंदिर, शृंगेरी स्तंभ, अजन्ता एलोरा की गुफाएं, भारतीय वास्तु विद्या का प्रमाण देती है।

**स्त्री में रजोदर्शन**—वराहमिहिर रचित वृहज्जातक ग्रंथ के निषेकाध्याय में स्त्रियों के प्रतिमास में प्रकृतितः होने वाले रजोदर्शन के संबंध में विचार किया गया है। प्राप्त योवनावस्था में स्त्री की राशि से प्रत्येक मास मंगल और चन्द्रमा की आकाशीय स्थितियोंवश जो प्रभाव पड़ता है उसी से बच्चादानी फूट जाती हैं और उससे विकृत रक्तस्राव होने लगता है। इसलिए प्रतिमास के मासिक कर्म के लिए मंगल और चन्द्रमा ये दो ग्रह कारण हो जाते हैं। प्रत्येक चन्द्रमास प्रथम अमावस्या से द्वितीय अमावस्या के किसी दिन किसी क्षण में उक्त स्थिति संभव होती है।

अंत में मैं यही कहना चाहता हूं कि आज के सभी लोग ज्योतिष के केवल उस फलित पक्ष को देख रहे हैं यदि वे उसके अंदर में झांक कर देखें तो उन्हें मालूम होगा कि ज्योतिष एक विज्ञान है या नहीं। ऐसे तो उदाहरण हैं हजारों किन्तु न मानने वालों के लिए लाखों उदाहरण भी निरर्थक हैं। किन्तु मैं यह कहना चाहता हूं कि यदि ज्योतिष को विज्ञान की दृष्टि से देखा जाये तो इसका सभी को अनुभव होगा। निर्णय करना यह तो हम सभी का काम है। यह शास्त्र अनादि से है और रहेगा।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु  
निरामयाः ।

सर्वे कायीणि कुर्वन्तु मां कश्चिद्  
कर्म हा भवेत् ॥

# विश्वोत्पत्ति वेदान्त में सृष्टिक्रम

रश्मि

शङ्कराचार्य केशवं बादरायणम् ।

अस्मदाचार्य पर्यन्तं वन्दे गुरुपम्पराम् ॥

प्रपञ्च की उत्पत्ति कहां कैसे तथा कब हुआ? ये सभी आज के आधुनिक शास्त्रज्ञों ने भी पता नहीं लगा पाया। लेकिन भारतीय दर्शनों में अन्यतम दर्शन है वेदान्तदर्शन। भारतीय दर्शनों के आधारभूत ग्रंथ हैं वेद। वहां सृष्टिक्रम को लेकर कुछ वचन हैं। वहां जगतकर्ता विश्वव्यापी विराड्पुरुष के रूप में वर्णित है जैसे—

चन्द्रमा मनसो जातः चक्षोः सूर्योऽजायत ।

मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥

(पुरुषसूक्त)

मनोहर आशयों का उद्भव स्थान मन होता है। इसलिए कोमलस्वरूप चन्द्रमा की उत्पत्ति मन से हुआ।

उपनिषदों में अणुपर्यन्त सभी महान् विकार के रूप में ही वर्णित है। यथा—‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येनजातानि जीवन्ति, यतः प्रयन्त्यभिसंविशन्ति’, ‘इदं सर्वं चदयमात्मा’ इत्यादि ब्रह्म के प्रपञ्चतादात्म्यक बोधक वाक्य ही हैं।

अर्थात् घड़ा, ईंट, दीपक आदि के आकृति में भिन्नता है फिर भी ये सभी मिट्टी के ही बने हुए हैं। इसलिए भक्तदृष्टि से प्रपञ्च का कारण ब्रह्म ही है।

प्रेरकभाव में ही प्रेरणाभाव तथा कार्यभाव होता है। अतः सृष्टि के विषय में ब्रह्म की प्रारंभिक इच्छा को लेकर ही छान्दोग्योपनिषद में ऐसा कहा गया है—‘सोडयं दैवतक्षत बहुस्यां प्रजायेय’। ‘अनेनात्मा अनुप्रविश्य नामरूपैः व्याकरवाणि।’ ‘सदेव सौम्यः इदमग्र आसीत्।’ आत्मरूप से ही विश्वोत्पत्ति हुई ऐसा व्यङ्ग्य है।

शोधछात्रा, पटना विश्वविद्यालय, पटना

ब्रह्मतः प्रपञ्चं कथं जातम् ।

यथोऽर्णनाभ सृजते गृह्यते च ।

यथा पृथिव्यां ओषधयः संभवन्ति ।

यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथा अक्षरात् संभवतीह विश्वम्। इस तरह से वेदान्तियों के मत में सृष्टिक्रम कैसे हुआ सन्देह उत्पन्न होता है। आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी। इस तरह से पृथ्वी का सृष्टिक्रम उपनिषदों में देखा जा सकता है। पञ्चभूतों में सबसे सूक्ष्म है आकाश, शब्द ही मात्र एक आकाश का गुण है।

आकाश से उत्पन्न वायु में शब्द के अतिरिक्त स्पर्श गुण भी हैं। वायु से उत्पन्न अग्नि में शब्दस्पर्श इन दो गुणों के साथ रूप भी है। तेज से उत्पन्न जल में शब्द, स्पर्श, रूप के अलावा रस भी है तथा पृथ्वी में इन सभी के साथ गन्ध भी है।

पञ्चभूतों के विनियोगार्थ सङ्कलन अपेक्षित है इस प्रमाण को पञ्चीकरण कहा जाता है। यथा—

द्विधा विधाय चैकेकं चतुर्था प्रथमं पुनः ।

स्वस्वेतर द्वितीयोरौर्योजनात्पञ्चपञ्चते ॥

पृथ्वी को अष्टरूपों में विभक्त कर उनमें चार भाग में आकाश-वायु-अग्नि तथा जल को संयोजित करना चाहिए। तथा जलादियों को भी आठ रूपों में विभक्त कर चार भागों को अन्य चार में संयोजित करना चाहिए। इस तरह से दृश्यमाण पञ्चीकृत भूतों में अर्थ ही स्वांश, अन्यदर्श हेतु अवशिष्ट चारभूत गुणों का समाहार होता है। अर्थात् पृथ्वी में जल-अग्नि-वायु और आकाश आंशिक रूप से हैं।

प्रलयानन्तर जगत् पहले जैसा कैसे होता है यह संदेह होने पर सूर्य और चन्द्रमा की जैसे कल्पना की गयी धाता के द्वारा उसी में समाहित हो जाता है। अर्थात् धाता जैसा चाहता है वैसा विश्व होता है। इस सृष्टि के नियोजक कोई ज्ञानास्वरूप है ऐसा अङ्गीकार करना ही चाहिए। उसी को वेदान्ती लोग ब्रह्म के नाम से जानते हैं या व्यक्त करते हैं। अर्थात्: ब्रह्म से ही इस प्रपञ्च की उत्पत्ति हुई है।

## संस्कृत वास्तुशास्त्रः एक अनुशीलन

डॉ. प्रसून दत्त सिंह

भारतवर्ष का समस्त ज्ञान भण्डार संस्कृत में ही है। भारतीयों के सभी धर्मग्रंथ, पुराण, रामायण, महाभारत, स्मृति ग्रंथ, दर्शन, धर्मशास्त्र, महाकाव्य, काव्य, नाटक, गद्य काव्य, गीतिकाव्य, आख्यान-साहित्य आदि संस्कृत में ही है। साधारणतया लोगों की यह धारणा बनी हुई है कि संस्कृत साहित्य में केवल धर्मग्रंथों का ही बाहुल्य है परंतु वास्तविकता यह नहीं है। प्राचीन ग्रंथकारों ने भौतिक जगत् के साधनभूत अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, वास्तुशास्त्र और न जाने कितनी विधाओं पर अपनी लेखनी चलायी है। विज्ञान, ज्योतिष, वैद्यक, पशु-पक्षी संबंधी लक्षण ग्रंथ भी संस्कृत साहित्य में प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं।

वास्तुतः हमारे यहां प्रेयःशास्त्र तथा श्रेयःशास्त्र उभय शास्त्रों के अध्ययन की ओर प्राचीन काल से विद्वानों की प्रवृत्ति रही है। यहां प्रेयःशास्त्र के अंतर्गत परिगणित संस्कृत वास्तुशास्त्र की उपादेयता भौतिक उन्नति में स्वतःसिद्ध है।

इस सृष्टि के समस्त जीवों की उत्पत्ति एवं अस्तित्व में दिशा एवं काल की शक्तियों की भूमिका प्रमुख होती है। मानव-जीवन का लक्ष्य दोनों लोकों में श्रेय तथा प्रेय की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि है। दिक् और काल की शक्तियों के अनुकूल चलते हुए तदनुरूप अपने रहन-सहन को व्यवस्थित करने में ही निःसंदेह जीवन की सुख-शांति निहित है। प्राकृतिक शक्तियों से सामंजस्य बनाकर जीवन-यापन करने की कला का नाम ही वास्तु विद्या है। वास्तुशास्त्र ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त एवं सृष्टि की नियामक सूक्ष्मशक्तियों में सन्निहित ऊर्जा को मानव जीवन के विविध प्रसंगों में सार्थक प्रयोग का सुझाव देने वाला शास्त्र है।

गृहस्थ आश्रम को अन्य सभी आश्रमों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। वटवृक्ष की भांति गृहस्थ की छत्रछाया में ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी एवं संन्यासी जनों का पालन होता है। गृहस्थ के धर्मसम्मत कर्म धर्म के साथ-साथ अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति में भी सहायक सिद्ध होते हैं। यह अनुभवगम्य तथ्य है कि गृहस्थ के कर्मों का संपादन गृह के बिना संभव नहीं होता। शास्त्रों की मान्यता है कि दूसरे व्यक्ति की भूमि अथवा

गृह में किये गये सभी कर्म निष्फल हो जाते हैं एवं उन कर्मों का पुण्य फल भूमि अथवा गृह के वास्तविक स्वामी को प्राप्त होता है। इसीलिए गृहस्थ के लिए अपने स्वयं के भवन का होना अत्यंत आवश्यक है। भविष्यपुराण का कथन है:-

परगहे कृताः सर्वाः श्रौतस्मार्तिक्रियाः शुभाः ।

विफलाः स्युर्यतस्तासां भूमिशः फलमश्नुते ॥

पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि के लिए गृहस्थ को एक शुभ वास्तु (घर) की सर्वाधिक आवश्यकता होती है क्योंकि गृहस्थ के सभी क्रियाकलाप स्वकीय गृह के बिना सिद्ध नहीं होते:-

गृहस्थस्य क्रिया सर्वा न सिद्ध्यन्ति गृहं विना ।

यतस्तस्माद् गृहारम्कर्म चात्राभिधीयते ॥

-वास्तुरत्नाकर

उत्तम भवन के संदर्भ में राजवल्लभमण्डनम् में वर्णन मिलता है कि उत्तम भवन, स्त्री एवं पुत्रादि भोगों तथा सुखों का हेतु धर्म, अर्थ एवं काम को प्रदान करने वाला, सभी प्राणियों का निवास स्थल, शीत, वृष्टि, आतप एवं शत्रुओं से रक्षा करने वाला मांगलिक एवं धार्मिक कृत्यों का स्थान एवं सुख का आगार होता है। वापी एवं कुएं का सुख तथा मंदिर का पुण्य भी आवास से ही प्राप्त होता है इसलिए पण्डित और देवता सर्वप्रथम गृह की आकांक्षा करते हैं:-

स्त्रीपुत्रादिभोगसौख्यजनकं धर्मार्थकामप्रदम्, जनतूनामयनं सुखास्पदमिदं शीताम्बुघर्मापहम् ।

वापी देवगृहादिपुण्यमखिलं गेहात् समुत्पद्यते, गेहं पूर्वमुशन्ति तेन विवुधाः श्रीविश्वकर्मादयः ॥

धाराधिप भोज ने समराङ्गणसूत्रधार में गृहनिर्माण की आवश्यकता के पीछे तीनों दुखों-आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक, मैथुनादि की अभिगुप्ति, शीतल नीहार, जाड़े, पानी, वर्षा और आंधी से बचाव तथा भोगादि के लिए आवास की अपरिहार्यता बताई है।

वेदों की भी यही मान्यता है कि गृह से ही जनसमूह के साथ तरुण, कुमार और गो अश्वादि के वत्स, परिस्तुत मधु आदि के कुम्भ, दधिपूर्ण कलश की प्राप्ति और पालना होती है।

भवनविन्यास एवं वापी, कूप, तालाब तथा प्रासाद इत्यादि के निर्माणकर्म के द्वारा अनन्त पुण्यों की प्राप्ति होती है। भवन

निर्माण की प्रक्रिया वास्तुशास्त्र के अनुसार मानव इसलिए भी करना चाहता है जिससे वह सुखी, नीरोगी एवं सुरक्षित जीवन जीने के साथ-साथ अपने संपूर्ण उद्देश्यों में सफल भी हो सके।

यदि आज के परिप्रेक्ष्य को देखा जाए तो आज मानव भवनविन्यास के द्वारा अपनी समृद्धि, ऐश्वर्य एवं वैभव के प्रदर्शन के साथ-साथ अपनी मनःतुष्टि के लिए भवनविन्यास में प्रवृत्त दिखता है जबकि वैदिक काल में वास्तुशास्त्रानुसार भवनविन्यास का उद्देश्य केवल उत्तम स्वास्थ्य की प्राप्ति एवं मनशान्ति की प्राप्ति ही थी। आज जहां समृद्धशाली लोगों के घर ऊंचे रत्नजटित, अलंकृत और सचित्रित रहते हैं, वहीं निर्धन और श्रमिक वर्ग के घर उनकी परिस्थितियों का परिचय स्वयं ही करा देते हैं। अतएव भवनविन्यास को मानव सभ्यता एवं संस्कृति के निर्धारण का प्रमुख आधार माना जा सकता है। स्थापत्यकला का उत्कर्ष, मानव समाज की सांस्कृतिक अभिरुचि एवं वैभव को प्रदर्शित करता है। भारतवर्ष में भवन निर्माण की कला प्राचीन काल से ही लोगों को ज्ञात थी, क्योंकि इस कला में मनुष्यों के दक्ष होने के प्रमाण हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ों की सभ्यता के अध्ययन में प्रचुर रूप में मिलते हैं, साथ ही सभी वैदिक संहिताओं में वास्तुकला के वर्णन के संदर्भ प्राप्त होते हैं। वास्तुशास्त्र की प्राचीनता इसी से प्रकट होती है कि इसका वर्णन ऋग्वेद में भी देखने को मिलता है यथा—

ता वां वास्तून्नुश्मसि गमध्ये यत्र गावो भूरिश्रृंगाअयासः

अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूमि ॥

(ऋग्वेद 1/154/6)

ऋग्वेद में अन्य स्थान पर भी अपने गृह के कल्याण के लिए वास्तोष्पति से प्रार्थना की गई है—

वास्तोष्पति प्रति जानीह्यास्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः ।

यत् त्वमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥

(ऋग्वेद 7/54/1)

आचार्य सायण अपने भाष्य में लिखते हैं—“वास्तूनि सुखनिवासयोग्यानि स्थानानि।” अथर्ववेद संहिता के शालासूक्त में विशेष रूप से वास्तुकला का वर्णन प्राप्त होता है एवं वहां उपलब्ध प्रभूत सामग्री से हम यहमान सकते हैं कि वास्तुविद्या का बीजग्रंथ अथर्ववेद है क्योंकि अथर्ववेद से उद्भूत स्थापत्य वास्तुशास्त्र का उपजीव्य है, ऐसा भागवत महापुराण से भी प्रमाणित होता है।

ऋग्यजुः सामाथर्वाख्यान् वेदान् पूर्वादिभिर्मुखे । शस्त्रमिज्यां स्तुतिस्तोमं प्रायश्चित्तं व्यधात्क्रमात् ॥

आयुर्वेदं धनुर्वेदं गांधर्वं वेदमात्मनः । स्थापत्यं चासृजद वेदं क्रमात्पूर्वादिभिर्मुखै ॥

इतिहासपुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः । सर्वेभ्यः एवं वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शन ॥

(श्री.म.भा. 3/12/37,38,39)

वास्तुशास्त्र का पोषण विविध ऋषियों द्वारा किया गया है क्योंकि मत्स्यपुराण में वास्तुशास्त्र के उपदेशक 18 आचार्यों का वर्णन मिलता है। ये 18 आचार्य हैं—भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वकर्मा, मय, नारद, नग्नजित्, पुरन्दर, ब्रह्म, कुमार, नन्दीश, सोनक, गर्ग, वासुदेव, अनिरुद्ध, शुक्र तथा बृहस्पति। इन आचार्यों में मय एवं विश्वकर्मा अत्यधिक प्रसिद्ध थे। विश्वकर्मा औदीच्य परंपरा के तथा मय दाक्षिणात्य परंपरा के दीपस्तंभ माने जाते हैं। समरांगणसूत्रधार के अनुसार प्रभावसु के पुत्र विश्वकर्मा देवगुरु बृहस्पति के भागिनेय एवं अपराजितपृच्छा के अनुसार भृगु, (शुक्राचार्य) के भागिनेय थे। ये दोनों ऋषि शिल्पशास्त्र के महनीय उपदेशक थे। नल एवं नील के साथ

अष्टावसुओं को ख्याति भी शिल्पज्ञ रूप में प्रथित है। वास्तुशास्त्रविद् टोडरमल महोदय ने अपने ग्रंथ में कुछ वास्तुविदों के होने की संसूचना दी है।

वास्तुशास्त्र गणित एवं ज्योतिष का प्रयोगात्मक विज्ञान है क्योंकि स्थापत्य की आधारभूत पृथ्वी सौरमंडल के साथ संबद्ध है। सूर्य, चन्द्रमा तथा नक्षत्रों का प्रभाव इसके ऊपर परिलक्षित होता है। इसीलिए प्राचीन काल से ही संसार में वास्तुप्रकल्पना में आयादिविचार, नक्षत्र परीक्षा, लग्न, तिथि एवं दिनों का निर्धारण होता आया है। इस प्रकार अष्टांग स्थापत्य में ज्योतिषशास्त्र का भी प्रमुख योगदान है।

मापन वास्तुप्रकल्पना का आधार है। मापन के बिना सुष्ठु, प्रकल्पना संभव नहीं है एवं इस कार्य में गणितशास्त्र का प्रयोग होता है। वास्तुकर्म में ज्यामितिशास्त्र के अनुसार आकृति का निर्धारण होता है; इसलिए वास्तुशास्त्र का एक अन्य सहयोगी शास्त्र ज्यामितिशास्त्र भी है। साथ ही देशचयन, भूमिपरीक्षण एवं शल्यशोधन में वास्तुशास्त्र के सहायक भूगोल, भूगर्भ इत्यादि शास्त्र भी हैं। इससे स्पष्ट है कि वास्तुशास्त्र का ज्योतिषशास्त्र, गणितशास्त्र, ज्यामितिशास्त्र एवं भूगर्भशास्त्र से महत्वपूर्ण संबंध है। प्राचीन भारत में दुर्ग, राजप्रासाद, मन्दिर एवं गृह-निर्माण के दर्शन हमें प्राप्त होते हैं, जो विभिन्न राजकुलों के राजाओं के द्वारा बनवाये गये हैं। इसके उदाहरण ऐतिहासिक ग्रंथों में विद्यमान हैं। मौर्य राजाओं ने जहां दुर्ग एवं राजप्रासाद निर्माण को ही वरीयता दी, वहीं गुप्त, राष्ट्रकुल, चालुक्य, चोल वंश के राजाओं ने वास्तुशास्त्र के आधार पर दुर्ग एवं राजप्रासाद के साथ-साथ मंदिर एवं गृहनिर्माण को अपनी प्राथमिकता में समेटा। अवधेय है कि उस समय भवन निर्माण की योजना वास्तुशास्त्र के अनुसार ही की जाती थी।

# महाभारत का स्वरूप तथा महत्व

डॉ. बेचन सिंह यादव

वैदिक ज्ञान के अग्रगण्य पुरुष, वैदिक वाङ्मय के मौलिक साधक, तथा ज्ञान के आदि स्रोत वादरायण नाम से विख्यात कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास की 'महाभारत' अरमकृति है। रामायण तथा महाभारत उपजीव्य काव्य है। रामायण को आदिकाव्य तथा महाभारत को इतिहास काव्य कहा जाता है। 'आचार्य बलदेव उपाध्याय के शब्दों में—'रामायण तथा महाभारत हमारे जातीय इतिहास हैं। भारतीय सभ्यता का जो भव्यरूप इन ग्रंथों में जिस प्रकार फूट निकलता है, वैसा अन्यत्र नहीं। कौरवों तथा पाण्डवों का इतिहास वर्णन ही इस ग्रंथ का उद्देश्य नहीं है, अपितु हमारे हिन्दु धर्म का विस्तृत एवं पूर्ण चित्रण भी प्रयोजन है। बड़े सीमित अर्थों में हम महाभारत को इतिहास व काव्य कह सकते हैं। वास्तव में एक अर्थ में महाभारत एक काव्यकृति है ही नहीं, यह अपने में पूरा साहित्य है। भारतीय साहित्य के महान अध्येता<sup>2</sup> एम. विण्टरनिट्ज के अनुसार—'महाभारत का अर्थ होता है—भारत लोगों के युद्ध का महान आख्यान। ऋग्वेद में भारत लोगों को योद्धा जाति कहा गया है और ब्राह्मणों में दुष्यन्त तथा शकुन्तला के पुत्र भरत का हमें उल्लेख मिलता है जिस भरत को भारत राजवंश का पूर्व पुरुष माना गया है। इन भरत तथा भारत लोगों का निवास गंगा तथा यमुना के ऊपरी क्षेत्र में था। भरतवंश के वंशजों में कुरू नामक राजा का स्थान विशेष महत्व का है। कुरू के वंशज कौरव लोग इतने दिनों तक भारत जाति के शासक थे कि कुछ समय बाद भरत जाति का ही नाम कुरू या कौरव पड़ गया। उनकी भूमि को कुरूक्षेत्र कहा जाने लगा, जिसका परिचय हमें यजुर्वेद तथा ब्राह्मण ग्रंथों में मिलता है।

महाभारत का शान्तिपर्व हमारे जीवन के समस्याओं को सुलझाने का कार्य कई हजार वर्षों से करता आ रहा है। इसी दृष्टि से इस ग्रंथ को हम अपना धर्म ग्रंथ मानते हैं। इसका पठन-पाठन, श्रवण-मनन सब प्रकार से मंगल कारक है।

इस ग्रंथ के सांस्कृतिक मूल्य में भी किसी प्रकार की

न्यूनता नहीं है। मात्र इसी ग्रंथ के अध्ययन से हम अपनी संस्कृति के शुद्ध रूप को जान व पहचान सकते हैं। श्री मदभगवद्गीता भी इसी ग्रंथ का एक अंश है। इसके अतिरिक्त विष्णुसहस्र नाम, अनुगीता, भीष्मस्तवराज गजेन्द्रमोक्ष जैसे अप्रतिम आध्यात्मिक तथा भक्ति पूर्ण ग्रंथ भी इनके अंश हैं। इसी कारण इस ग्रंथ को पंचमवेद के नाम से जानते हैं।

<sup>3</sup>वाचस्पति गैरोला के अनुसार—महाभारत के सार्वभौमिक महत्व को देखकर उसको न तो हम वैदिक ग्रंथ ही कह सकते हैं, न पुराण ही, न इतिहास, न काव्य ही, न एक धर्म ग्रंथ ही और न केवल सामाजिक, सांस्कृतिक चेतना का प्रतिनिधि ग्रंथ ही। वस्तुतः वह एक वृहद राष्ट्र का ज्ञान सर्वस्व होने के कारण आर्षग्रंथ भी है, इतिहास पुराण भी है और महाकाव्य, धर्मग्रंथ आदि सभी कुछ है। इस पर भी हमें समझना चाहिए कि महाभारत का यह सर्वांगीभूत कलेवर विभिन्न विषयों का स्पर्शमात्र कर देने मात्र से पूरा हो गया है, वरन यह समझना चाहिए कि उसके हर पहलू में आकाश को स्पर्श करने जितना उत्कर्ष विद्यमान है।

वाल्मीकि की तरह व्यास की यह असाधारण कृति भी उपजीव्य काव्य के नाम से ख्यात है। महाभारत में वर्णित आख्यानों को मूल आधार मानकर बाद के अन्य कवियों ने काव्य नाटक, गद्य, चम्पु पद्य, कथा तथा आख्यायिका आदि नाना प्रकार के साहित्य की सर्जना की। भारतवर्ष के साथ-साथ जावावसुमात्रा देशों में भी महाभारत वर्तमान है। 'महाभारत की विपुलता को देखकर यह व्यास का कथन सत्य प्रतीत होता है कि इस ग्रंथ में जो कुछ है वहीं अन्यत्र है, परंतु जो कुछ इसमें नहीं है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है। प्राचीन इतिहास व राजनीति से अवगत होने के लिये हमें इस ग्रंथ का सम्यक अध्ययन करना आवश्यक होता है। विदुर नीति महाभारत का ही एक अंश मात्र है। इस नीति में लोक व्यवहार तथा सद्व्यवहार के बहुत ही आकर्षक ढंग से गुम्फित किया गया है। इस प्रकार धार्मिक, ऐतिहासिक तथा राजनैतिक आदि दृष्टिकोण से यह महाभारत एक असाधारण ग्रंथ है।

इस ग्रंथ के 'शतसाहस्रसंहिता' के नाम से जाना जाता है, क्योंकि वर्तमान महाभारत में एक लाख श्लोक पाये जाते हैं। इस ग्रंथ का वर्तमान स्वरूप संभवतः पन्द्रह सौ वर्ष पुरातन है,

क्योंकि गुफ्फालीन शिलालेखों में इसका उल्लेख 'शतसाहस्री' के नाम से उद्धृत है। अनेकों विद्वानों का कथन है कि इस ग्रंथ का यह रूप कई शताब्दियों में विकसित हुआ। इस देश में पुरातन समय से अनेक गाथाएं तथा आख्यान वर्णन प्रस्तुत था। राजा परीक्षित का आख्यान भी अथर्ववेद में उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त अन्य वैदिक ग्रंथों में भी महाभारत के वीर योद्धाओं का आख्यान वर्णित है। महर्षि वेदव्यास ने इन गाथाओं तथा आख्यानों को सम्यक प्रकार से एकत्रित कर जिस महाकाव्य का प्रणयन किया, उसे महाभारत के नाम से जानते हैं। इस ग्रंथ का विकास क्रमशः तीन रूपों में पाया जाता है—(1) जय, (2) भारत तथा (3) महाभारत।

### जय

इस उपजीव्य काव्य का मौलिक रूप जय नाम से विख्यात था। जय नाम से यह स्पष्ट हो जाता है कि कौरवों तथा पाण्डवों के युद्ध का वर्णन इस ग्रंथ में मूल रूप से हुआ था। पाण्डवों की जीत के कारण इस ग्रंथ को जय के नाम से जानते हैं। महाभारत के आदिपर्व के मंगल श्लोक में यह कहा गया है कि—“नारायण स्वरूप श्रीकृष्ण नरस्वरूप अर्जुन, लीला प्रकट करने वाली सरस्वती तथा महर्षि व्यास को नमस्कार इस 'जय' नामक ग्रंथ का पाठ करना चाहिए पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार वेदव्यास के जय ग्रंथ में मात्र आठ हजार आठ सौ श्लोक थे। यद्यपि यह संख्या महाभारत में आये कूट श्लोकों की है। 'कूट श्लोकों के विषय में ऐसी बात प्रचलित है कि महाभारत के वक्ता व्यास तथा लेखक गणेश थे। बिना रुकावट की शर्त के अनुसार लिखने के लिए उद्यत गणेश जी अर्थ समझकर लिखने के

लिए वाध्य थे। प्रखर बुद्धि वाले गणेश जी भी व्यास के कूट श्लोकों का अर्थ समझने के लिये क्षणभर रुक जाते थे, तब तक व्यास को श्लोक बनाने का पूर्ण अवसर प्राप्त हो जाता था। इस प्रकार पूरे महाभारत में आठ हजार आठ सौ कूट श्लोक पाये जाते हैं।

### भारत

इस पुनीत ग्रंथ का अभिधान जय के अनन्तर विकसित होने के कारण भारत पड़ा। भारत नाम से यह प्रतीत होता है कि यह भारतवासी कौरवों तथा पाण्डवों के युद्ध का वर्णन परक ग्रंथ है। व्यास ने महाभारत की कथा अपने शिष्य वैशम्पायन को सुनायी। इसी कथा को वैशम्पायन ने अर्जुन के प्रपौत्र राजा परीक्षित को सुनाया। व्याकरण सम्मत व्युत्पत्ति के अनुसार—भारत शब्द का अर्थ है—वह ग्रंथ जिसमें भरवंशीय राजाओं के पराक्रम या युद्ध का वर्णन है। इस अर्थ की सार्थकता भारत ग्रंथ में अक्षरशः देखने को मिलती है।

जय नामक इतिहास जब भारत नाम से ख्यात हुआ तब नाम के साथ ही साथ उसके श्लोकों की संख्या में भी काफी अंतर आ गया। उसी समय भारत ग्रंथ का परिमाण<sup>१</sup> चौबीस सौ श्लोकों का हो गया था। उस समय यह ग्रंथ आख्यानों से रहित था। श्लोकों में वृद्धि का कारण यह था कि बीच-बीच में जनमेजय ने कुछ जिज्ञासायें वैशम्पायन के अपने समक्ष से प्रस्तुत किया। वैशम्पायन की ये समाधानपूर्ण बातें आगे चलकर जय नामक ग्रंथ में मिल गयी। परिणामस्वरूप 'भारत संहिता' के श्लोकों में भी काफी अंतर आ गया।

### महाभारत

महाभारत नाम के विषय में यह

प्रश्न उठता है कि—जब भारत से ही भारतवंशीय राजाओं के पराक्रम का अर्थ स्पष्ट था, तो महा की क्या आवश्यकता पड़ी? यद्यपि महाभारत के अंत में कहा गया है कि महत्व तथा भारतत्व के कारण उसको महाभारत कहा गया, लेकिन इतने मात्र से जिज्ञासा की तुष्टि नहीं हो पाती है। सामान्यतः महाभारत से हमें किसी बड़े भारत के अस्तित्व का अंदेशा होता है तथा इसके साथ ही हमारी जिज्ञासा होती है कि बड़े भारत के होने से पहले क्या छोटा भारत हो चुका था?

लगभग पांच सौ ई. पूर्व आश्वलायन गृह्यसूत्र में भारत तथा महाभारत के पृथक अस्तित्व के प्रकट किया है। इससे एक ही ग्रंथ के इन दोनों की उक्त ऐतिहासिक सत्यता का प्रबल स्पष्टीकरण हो जाता है।

जनमेजय नागयज्ञ के पश्चात् नैमिषारण्य में शौनक ऋषि ने एक बृहद यज्ञ का आयोजन किया था, जो निरंतर बारह साल तक चलता रहा। उसमें सौति ऋषि भी उपस्थित थे। जनमेजय सर्पसत्र के अवसर पर सौति ऋषि वैशम्पायन प्रोक्त 'भारत संहिता' को सुन चुके थे। अतः शौनक के प्रार्थना करने पर सौति ने उसे सुनाया। इसके साथ ही अपने उदाहरणों में दूसरे उपाख्यानों का वर्णन भी करते गये। हरिवंश का अंश भी उन्होंने इसी कथा के साथ जोड़ा था। परिणामस्वरूप भारत संहिता का कलेवर अतिशय रूप से बढ़ गया। जय काव्य का यह तीसरा संस्करण अपने भारतत्व के कारण महाभारत के नाम से विख्यात हुआ।

उपयुक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आरंभ में व्यास ने जिस ग्रंथ की रचना की, उसका नाम जय था। वैशम्पायन ने इसी को बढ़ाकर भारत

का नाम दिया। अंत में सौति ने पूर्ण परिवर्धन करके इसे महाभारत बनाया। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार जय ग्रंथ में आठ हजार आठ सौ श्लोक थे। वैशम्पायन के भारत में श्लोकों की संख्या चौबीस सौ हो गयी थी। सौति ने आख्यानों तथा उपाख्यानों को जोड़कर अट्ठारह पर्वों में विभाजित कर विशालकाय रूप दे डाला। इस प्रकार श्लोकों की संख्या एक लाख हो गयी।

## महाभारत का महत्त्व

विशेषताओं तथा गुण समूहों के निमित्त महाभारत को पंचमवेद के रूप में जाना जाता है। इस ग्रंथ के गर्भ से ही गीता, विष्णु सहस्रनाम, अनुगीता, भीष्म स्तवराज तथा गजेन्द्र मोक्ष इन पंच रत्नों की सृष्टि हुई है। श्रीमद्भगवद्गीता जैसी विख्यात महाकृति का उद्गमस्थल होने के कारण इसके महत्त्व में और वृद्धि हुई है। यह ग्रंथ संस्कृत साहित्य के अनेक काव्यों महाकाव्यों तथा नाटकों आदि का जन्मदाता है। कवि बुद्धि को प्रेरणा देने वाले तत्त्व महाभारत में अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। इसी दृष्टि से पाश्चात्य विद्वानों ने इस ग्रंथ को 'एपिक विदिन एपिक' कहा है।<sup>11</sup> वाचस्पति गैरोला के अनुसार यदि संस्कृत के उन ग्रंथों को अलग किया जाय, जो महाभारत से प्रभावित है, तो हमारे पास ऐसी बची हुई कृतियों की संख्या बहुत कम रह जायेगी। महाभारत अपने मूल रूप से उत्तरवर्ती-संस्कृत साहित्य का एक ऐसा विशालग्रंथ है, जिसके छोटे-छोटे हिस्से कालिदास, माघ, भवभूति, बाण प्रभृति ग्रंथकारों की कृतियों में देखने को मिल सकते हैं।

आध्यात्मिक, राजनीतिक, साहित्यिक, सामाजिक, धार्मिक तथा ऐतिहासिक सभी

संबंधित विषयों के बीज इन ग्रंथों में फैले हुए हैं। इसी के परिणामस्वरूप वेदव्यास ने गौरव के साथ कहा था कि—जो कुछ इस ग्रंथ में हैं, वहीं अन्यत्र है। जो इसमें नहीं है, वह कहीं नहीं है।

<sup>12</sup>यथा दधि में नवनीत, मनुष्यों में ब्राह्मण, वैदिक साहित्य में आरण्यक, औषधियों में अमृत, जलाशयों में समुद्र तथा चतुष्पादों में गो श्रेष्ठ है, वैसे ही सभी इतिहासों में महाभारत का इतिहास सर्वश्रेष्ठ है। परवर्ती संस्कृत साहित्य पर महाभारत का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। मीमांसाशास्त्र के व्याख्याताओं में प्रमुख कुमारिलभट्ट ने महाभारत का उल्लेख किया है। संस्कृत गद्य के प्रमुख लेखक बाणभट्ट तथा सुबन्धु ने भी अपनी रचनाओं में उसका प्रयोग किया है। वस्तुतः संस्कृत साहित्य के अनेक कथाओं का प्रचुर प्रयोग किया है। लगभग भास से लेकर तेरहवीं में उपस्थित आस्त्यकवि की कृतियों तक सर्वत्र महाभारत का हिस्सा लिया गया है। महाभारत के उपाख्यानों को आधार बनाकर अनेक कवियों तथा लेखकों ने श्रव्यकाव्य, दृश्यकाव्य तथा चम्पूकाव्य की रचना की।

<sup>13</sup>आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार—व्यास जी की यह कृति महाभारत न होकर इतिहास कही जाती है, क्योंकि वह हमारे आदरणीय वीरों की पुण्यमयी गाथा है, यह एक धार्मिक ग्रंथ है, जिसमें हर प्रकार का मनुष्य अपने जीवन के सुधार की सामग्री प्राप्त कर सकता है। श्रीमद्भगवद्गीता की प्रशंसा करते हुए ग्रंथकार कहता है—'गीता में सभी तत्त्वों के सार का समावेश है। भगवान श्रीकृष्ण सर्वदेवमय हैं। गंगा सर्वतीर्थमयी हैं तथा मनु का शास्त्र सर्ववेदमय है। महाभारत के भीष्मपर्व में

वेदव्यास ने कहा है कि <sup>14</sup>चार गकारों से युक्त गीता, गंगा, गायत्री तथा गोविन्द को हृदय में धारण करने मात्र से पुनर्जन्म की प्राप्ति नहीं होती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि महाभारत धार्मिक, दार्शनिक सांस्कृतिक, साहित्यिक तथा लोक व्यवहार परक शिक्षण की दृष्टि से भी अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

## संदर्भ

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास—आचार्य बलदेव उपाध्याय
2. प्राचीन भारतीय इतिहास— एमविण्टर निन्ज
3. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—वाचस्पति गैरोला
4. धर्म ह्यर्थं च कामे च मोक्षे च भरतर्षमा। यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहस्ति न तत् क्वाचित् ॥
5. जयनामैतिहासोऽयम्
6. नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् । देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥
7. अष्टौ श्लोक सहस्राणि अष्टौ श्लोक शतानि च । अहं वेदिम् शुक्रोवेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा ॥
8. चतुर्विंशति साहस्रीं चक्रे भारत संहिताम् । उपाख्यानैर्बिना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः ॥
9. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—वाचस्पति गैरोला
10. संस्कृत साहित्य की रूप रेखा—चन्द्रशेखर पाण्डेय
11. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—वाचस्पति गैरोला
12. भारतस्य वपुहयंततः सत्यं चामृतमेव च । नवनीत यथा दध्नो द्विपदां ब्राह्मणो यथा ॥ हदानामुदधिः श्रेष्ठो गौर्बिरिष्ठा चतुश्पदाम् यथैतानीतिहासानां तथा भारतमुच्यते । महा. आदिपर्व प्र.अ.
13. संस्कृत साहित्य का इतिहास—आचार्य बलदेव उपाध्याय
14. गीता गंगा च गायत्री गाविन्देति हृदिस्थिते । चतुर्गकार संयुक्तेः पुनर्जन्म न विद्यते ॥ महाभारत भीष्मपर्व

# “भक्तिपरिपूर्ण संस्कृतस्तोत्रसाहित्यम्”

डॉ. कुमारी संगीता

स्तु+ष्ट्रन् इति व्युत्पत्त्या स्तोत्रशब्दः निष्पद्यते। अस्य शब्दार्थोऽस्ति—प्रशंसा, स्तुतिः, प्रशंसितः, स्तुतिगानम्। अमरकोषग्रन्थेऽपि अस्योल्लेखः कृतोऽस्ति—‘स्त्वः स्तोत्रं—स्तुतिर्नृतिः’।<sup>1</sup>

आराध्यदेवस्य स्तुतिः, महत्ता, प्रशस्तिः, दिव्यगुणामिः व्यक्तिश्चस्तुति पदेन अर्थाः स्फुटन्ति। स्तोत्र साहित्यस्योद्गमः ऋग्वेदादेव भवति। तत्र उषा-विष्णु-इन्द्र प्रवृत्ति देवानां विविधस्तुतयः सन्ति। गीतायाः एकादशे अध्याये श्रीकृष्णस्य विराटरूपस्य वर्णनम् अस्ति। भागवतमहापुराणे, विष्णुपुराणे, नारदादिषु पुराणेषु उपास्यदेवानां स्तुतिः वर्णिताः अस्ति। आध्यात्मरामायणे श्रीरामचन्द्रस्य ब्रह्मरूपे स्तुतिः अस्ति। संस्कृते स्तोत्रसाहित्ये अतीव समृद्धम् अस्ति। भक्तकविः यदा स्वामीष्ट देवम् अछिश्य, स्वकीयं हृदयं प्रकटी कृत्य स्वकीयां दीनतां, हीनतां, विनम्रता च कोमलकान्त पदावली द्वारा वर्णयति तदा तदेव वर्णन रूपं, गानं च स्तोत्रम् इति अभिधीयते। संगीतमयेन स्त्रोत्रेण तन्मयता भावविह्वलता च दृश्यते। स्तोत्रसाहित्यं पुण्यतया भक्तिप्रधाननम् अस्ति। अत्र भक्ति गारः प्रवाहित दृश्यते। भावुकता, सहृदयता, मामिकता, सरसता च पूर्णतया सन्निविष्टाः सन्ति। एतेषाम् अछिश्यम् अस्ति मनुष्यान् सांसारिक दुखेभ्यः विमुक्तान् कारयित्वा अगवाद्भक्त्यां समर्पणं करणम्। स्तोत्रसाहित्यस्य संख्या शतशः सन्ति।<sup>2</sup>

धार्मिकभावनायाः प्राधान्येन स्तोत्रकाव्यस्य प्रचार-प्रसारः जनसाधारणेषु भक्तजनेषु अतीव संजातः। अत्र अनुराग विरागयोः भावनायाः परिव्याप्ताः सन्ति। अतः आध्यात्मिक विकास दृष्ट्या अस्य लोकप्रियता सर्वव्यापिका अस्ति। स्वकीयाराध्यस्य महत्तायाः तथा निजदीनतायाः निष्कपभावेन प्रदर्शनं कुर्वन्तः संस्कृत भक्त कवचः अपूर्वतन्मयता सह हृदयस्य स्वतः स्फुटिताद् गारान् प्रकटि कृतवन्तः सन्ति। ते भगवतः दिव्यविभूतीनां दर्शनं कृत्वा आश्चर्यं चटुताः भवन्ति तथा तस्य विशाल हृदयताम्

असीमानुकम्पां दृष्ट्वा तदीयाहेतु कस्नेहस्य गायनं कुर्वन्तः आत्म विस्मृताः भवन्ति।<sup>3</sup>

स्तुतिपरकपद्येषु मोहकता, हृदयद्रवाकता गेयता, कलात्मकता च प्राप्यन्ते। भक्तिमय स्तोत्रस्य विशिष्टः प्रभाव लोकेषु दृश्यते। संगीतपूर्णं स्तोत्रं शब्द सौष्टवेन अर्थसौन्दर्येण च आकर्षकं भवति। काव्यात्मक लालित्ययोजनायाः प्राचुर्यं जनमानसं प्रभावितं करोति।<sup>4</sup>

स्तोत्रसाहित्यस्य परम्परायाः प्रारंभः वेदेभ्यः एव भवति। वैदिकसाहित्ये विविधाः एतादृशा मं॥ सन्ति यत्र मानवस्य आत्मनः ईश्वरेण सः बालकः इव प्रेमिकेव या संबंधः स्थापितोऽस्ति। रामायणे महाभारते, पुराणेष्वपि स्तोत्राणि बाहुल्येन प्राप्यन्ते। ‘रामायणे’ वर्णितम् ‘आदित्यहृदयस्तोत्रम्’, ‘महाभारते’, ‘विष्णुसहस्रनाम्’ मार्कण्डेयपुराणे च दुर्गास्तोत्रं प्रसिद्धानि सन्ति। तदनन्तरं स्तोत्रकाव्यानां स्वतंत्रसाहित्यस्य रचना संजाता।

हिन्दुभक्तेभ्यः अतिरिक्ता जैन, बौद्धकवयोऽपि स्तोत्रकाव्यानां रचनां कृतवन्तः सन्ति। ‘शिवमहिम्न’ स्तोत्रस्य प्रसिद्धि लोकप्रियता च द्रष्टव्या अस्ति। अस्य रचना शिखरिणी वृत्तेन कृता अस्ति। प्रतिपदं च शिवस्य महिम्नः वर्णनं कुर्वन् एका कथा विहिता अस्ति। भीष्मेन प्रोक्तं महाभारतीय ‘विष्णुसहस्रनाम्’ अतिशय महत्वपूर्णम् अस्ति। स्तोत्रगतं पद्यं स्तुति कर्तुः सर्वतोभावेन रक्षां त्राणं च करोति। संस्कृत महाकाव्येषु नाटकेषु च काव्यानां निर्विध्यतय समाप्त्यर्थं प्रायसः आढौ स्वेष्टदेवस्य स्तुति-परंपरा दृश्यते। मयूरकवि कृतस्य ‘सूर्यशतकस्य’ तथा बाणभट्ट रचित ‘चण्डीशतकस्य’ उल्लेखः स्तोत्रसाहित्यान्तर्गतं क्रियते। महर्षिव्यासेन कृतं रीमद्भागवतं तु भक्तिकाव्यस्य अद्वितीय ग्रंथोऽस्ति यत्र श्रीकृष्णं प्रति गोपिकानां प्रेमभक्त्याः अपूर्व वर्णनं कृतम् अस्ति।

भक्त्यां भक्तः अनन्यभावेन उपास्यस्य आराधानाम् उपासनां सेवनम् आत्मसमर्पणं च कुर्वन् दृश्यते। नवधा भक्तिः वर्णिताः सन्ति—

“श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सरण्यमात्मनिवेदनम्”।<sup>5</sup>

भक्त्यावस्थायां भक्तः भगवतः अनुपमगुणान् कर्माणि विचित्राणि चरित्राणि च प्रगाय संश्रुत्य पुलकितः भवति। तस्य मनः हृदयमपि हर्षाधिक्येन पूर्णं भवतः। यथोक्तम्—

“निशम्य कर्माणि गुणानतुल्या  
न्वीर्याणि लीलावनुभिः कृतानि ।

यदातिहर्षोत्पुलकाश्रुगदगदं  
प्रोत्कण्ठमुद्गायति रौति नृत्यति ”।<sup>6</sup>

भक्तिभावेन विहवलः भूत्वा यत्र  
भक्तः भगवदादीनां गुणगानं करोति तत्रैव  
भगवान् विराजमानः अर्जुनं प्रति च कृतवान्  
अस्ति—

“नाहं वसानि वैकुण्ठे योगिनां हृदये  
न च ।

भद्भक्ताः यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि  
नारद ।<sup>7</sup>

“गीत्वा च मम नामानि विचरेन्मम  
सन्निधौ ।

इति ब्रवीमि ते सत्यं क्रीतोऽहं तस्य  
चार्युन ।<sup>8</sup>

भक्तः भगवन्तं प्रार्थयते यत् तस्य  
वाणी, श्रवणेन्द्रियं हस्तौ मनश्च निरन्तरं  
तस्य चिन्तनादिषु लग्नानि स्युः। यथा  
निम्नश्लोके द्रष्टव्यम् अस्ति—

“वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां  
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः ।

स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे  
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्” ।<sup>9</sup>

विष्णोः भक्ताः वैष्णवाः, शिवभक्ताः  
शैवाः, शक्त्युपासकाश्च शाक्ताः कश्चन्ते।  
भगवान् स्वभक्तानां भक्त्याः अधीनः  
भवति। सः भक्तानां कृते सुलभ्यः भवति।  
भक्ताः तं वशीकुर्वन्ति। यथोक्तम्—

“सदा मुक्तोऽपि बद्धोऽस्मि भक्तेषु  
स्नेहरज्जुभिः ।

अजितोऽपि जितोऽहं तरैवशोऽपि  
वशीकृतः ।<sup>10</sup>

भक्तिः विविधाः सन्ति—पितृभक्तिः,  
मातृभक्तिः, दास्यभक्तिः, गुरुभक्तिः,  
पतिभक्तिश्च प्रजानां राजानं प्रति  
राजभक्तिः, देशभक्तानां देशं प्रति

देशभक्तिः, राष्ट्रभक्ति वा ज्ञायते, किन्तु  
शुद्ध स्तोत्र-काव्येषु देवं प्रति अभिव्यक्ता,  
निष्ठा, भावना, उपासना, आराधना आदि  
रूपेषु अनन्यभावेन कृता सेवा, श्रद्धा  
अनुरक्तिश्च भक्तिः उच्यते।

अनेन प्रकारेण उपयुक्त विवेचनेन  
सुस्पष्टं भवति यत् संस्कृते स्तोत्रसाहित्यस्य  
विशालपरंपरा अस्ति या वैदिककालतः  
प्रारंभ अद्यमनगतिशीला अस्ति। भक्तगणाः  
भजनकीर्तन द्वारा स्वभक्तिभावं व्यक्तं  
कुर्वन्तः दृश्यन्ते। सर्वत्र हरिकीर्तनं,  
शिवार्चनम्, दुर्गाचनादि भक्तिपद्धतयः  
प्रचलिता, सन्ति। स्तोत्रसाहित्येन भारतस्य  
आध्यात्मिकता, सांस्कृतिक उदारता,  
निर्मलता च परिलक्ष्यन्ते।

प्रमुख स्तोत्राणां नामानि निर्दिश्यन्ते—

1. शिवमहिम्नः स्तोत्रम्,
2. सूर्यशतकम्,
3. चण्डीशतकम्,
4. सौन्दर्यलहरी,
5. मुकुन्दमालास्तोत्रम्,
6. आलवन्दारस्तोत्रम्,

7. कृष्णकर्णामृतस्तोत्रम्,
8. लक्ष्मीसस्त्रस्तोत्रम्,
9. शिवस्तोत्रावली,
10. लहरीपञ्चकम्,
11. करुणालहरी,
12. गङ्गनलहरी,
13. अमृतलहरी,
14. सुधालहरी।

### संदर्भ

1. अमरकोष—1.6.11
2. डॉ. कपिलदेव द्विवेदी—संस्कृत साहित्य  
का समीक्षात्मक इतिहास, पृष्ठ 559-560
3. डॉ. राजवंशसहाय हीरा—संस्कृत साहित्य  
कोष—पृष्ठ 665
4. वही—पृष्ठ 666
5. महर्षि व्यास—श्रीमद्भावगवत—7.5.23
6. वही—7.7.34
7. आदिपुराण—सुक्ति सुधाकर—गीताप्रेस  
गोरखपुर, पृष्ठ 196
8. वही
9. महर्षि व्यास—श्रीमद्भावगत, पृष्ठ 10.  
10.38
10. आदिपुराण—सुक्ति सुधाकर, पृष्ठ 210।

## कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकें

01. शताब्दी के अंत की कविता	- नंद किशोर नवल	प्रकाशन संस्थान
02. नागार्जुन की कविता	- अजय तिवारी	वाणी प्र०
03. शष्ट और मनुष्य	- परमानंद श्रीवास्तव	राजकमल
04. समकालीन हिन्दी कविता	- विश्वनाथ प्रसाद तिवारी	राजकमल प्र०
05. हिन्दी की प्रगतिशील कविता	- ललन राय	हरियाणा साहित्य अकादमी
06. नयी कविता और अस्तित्वाद	- राम विलास शर्मा	राजकमल प्र०
07. सापेक्ष (स० महावीर अग्रवाल)	- नागार्जुन विशेषांक	

## काव्यशास्त्र में औचित्य की उपेक्षा के कारक

भारती कुमारी

आचार्य क्षेमेन्द्र से पूर्व हजारों वर्ष पहले महर्षि वाल्मीकि, व्यास, भास, अवशघोष और कालिदास आदि महाकवियों की रचनाओं में औचित्य का प्रकृतम् निर्वाह हो चुका था। भले ही औचित्य का प्रत्यक्ष सिद्धान्त-दर्शन इस प्राचीनतम् कवियों के सामने लेखबद्ध न रहा हो पर काव्य की सहजात स्वरूप-निष्ठ सत्ता के रूप में औचित्य की भाव-दृष्टि इन कवियों में अत्याधिक समृद्ध थी। यदि यह सत्य है कि उदाहरण ग्रन्थों की समीक्षा के परिणाम-स्वरूप लक्षण-ग्रन्थों का उदय होता है तो हमारे प्रतिपाद्य को और भी अधिक बल मिल जाता है। इतिहास इसका साक्षी है कि जिस समय औचित्य-सम्प्रदाय का उदय हुआ उससे पहले ही उदाहरण ग्रन्थों में औचित्य भाव प्रकर्ष और अपकर्ष, प्राप्त कर चुका था। क्षेमेन्द्र ने इसे अच्छी तरह देखा था और उनका विवेचन इसी दृष्टि का परिणाम है। तात्पर्य यह है कि काव्य में औचित्य की अपेक्षा के कारण हमें काव्य की ही प्रवृत्तियों में देखने होंगे जो कि उसके ऐतिहासिक अध्ययन की दिशाओं में पड़ती है। दूसरी बात यह है कि आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा प्रवर्तित औचित्य-सम्प्रदाय के साथ इस विवेचन का यदि कोई सम्बन्ध करना अभीष्ट ही है तो उसका केवल एक ही रूप है। काव्य में कवियों द्वारा औचित्य की उपेक्षा का एक कारण यह भी हो सकता है कि क्षेमेन्द्र के समकालीन और परवर्ती कवियों ने क्षेमेन्द्र के औचित्य-सम्प्रदाय की कोई विशेष अपेक्षा नहीं की।

जहाँ तक प्रवृत्तियों का सवाल है वह विश्व-साहित्य का सत्य है कि इनका क्रम अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी रूप में चलता रहता है। आचार्य शंकरदेव ने कहा है कि जीवन का आग्रह कभी अन्तर्मुखी होता है, कभी बहिर्मुखी। व्यष्टि जीवन का भी यह सत्य है और समष्टि जीवन का भी। प्रातः से सांय तक हमारी अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी वृत्तियों की इतनी ज्ञात-अज्ञात आवृत्तियां होती रहती हैं कि उनका रोजनामचा बनाया जाना

असम्भव है, पर बाहर-भीतर का भेद बहुत स्पष्ट है। हम कभी अपने बाह्य उपकरणों की ओर अधिक झुकते हैं तो कभी अपने अन्तःपक्ष की ओर।

साहित्य की मूल चेतना भी अन्तर्मुखी आग्रहों में बदलती रहती है क्योंकि साहित्य व्यष्टि-समष्टि जीवन की पूर्ण प्रतिनिधि ईकाई है। और साहित्य में ही नहीं, साहित्य की आलोचना में भी यही चक्रनेमिक्रम चलता रहता है, साहित्य में साहित्यकारों के कारण और साहित्य की आलोचना में साहित्याचार्यों के कारण। साहित्याकार जब अपने साहित्य-निर्माण में अधिक अन्तर्मुखी होता है..... अर्थात् अधिक संवेदनशील होता है तब उसके साहित्य की चेतना के भी अन्तर्मुखी होने के कारण उसका वह साहित्य अलंकार्य-प्रधान होता है। और जब वह अपने साहित्य-निर्माण में अधिक बहिर्मुखी होता है अर्थात् बाह्य साज-सज्जा की ओर अधिक दत्तचित्त होता है तब उसके साहित्य की चेतना के भी अधिक बहिर्मुखी होने के कारण उसका वह साहित्य अलंकार-प्रधान होता है।

वस्तुतः काव्य की मूल भावना या कवि की मूल संवेदना की ही इस संबंध में बहुत बड़ा हाथ है। काव्य की मूल भावना का अनुरोध करने वाला कवि निश्चय ही अन्तर्मुखी होगा और उसकी रचना में सहज सन्तुलन होगा। अन्तर्मुखी होने का मतलब यही समझना चाहिए कि काव्य की मूल भावना के अनुरोध से ही कवि ने उसकी अभिव्यक्ति की है। मूल भावना के अनुरोध से की गई अभिव्यक्ति में सन्तुलन रहना सर्वथा निश्चित है और यही सन्तुलन औचित्य की एकमात्र कुंजी है। दूसरी तरफ काव्य की मूल भावना से हटकर अभिव्यक्ति के लिए पृथक् प्रयत्न करने वाला कवि निश्चय ही बहिर्मुखी होगा और उसकी रचना में सहज सन्तुलन की क्षति रहेगी। यही अनौचित्य की दिशा है। ध्वनिकार ने जब यह कहा था कि अलंकार “अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य” होना चाहिए तब उनका मतलब यही था कि काव्य की मूल भावना से हटकर कवि को अभिव्यक्ति पक्ष की साधना नहीं करनी चाहिए। काव्य की उत्पत्ति में यही सहज औचित्य होता है जिसे आदि कवि वाल्मीकि के “मा निषाद प्रतिष्ठा” वाले प्रसिद्ध पद्य से समझा जा सकता है। आदि कवि की छन्दोमयी अभिव्यक्ति उसकी मूल संवेदना के सहज प्रवाह में आ पड़ी थी। अनायास निकली हुई इस छन्दोमयी वाणी पर दूसरे ही नहीं बल्कि स्वयं आदि-कवि भी चकित थे। इतिहास साक्षी है कि मूल भावना का यह आग्रह संस्कृत साहित्य में जहाँ तक रहा वहाँ तक औचित्य के भाव की पूर्ण प्रतिष्ठा रही और जहाँ से इसमें शिथिलता आनी प्रारम्भ हुई वहीं से अनौचित्य का पद-प्रवेश होने लगा।

साहित्य की कोई रचना न तो केवल किसी कवि के अन्तर्मुखी होने का ही परिणाम हो सकती है और न केवल उसके बहिर्मुखी होने का ही। क्योंकि अनुभूति और अभिव्यक्ति इन दोनों पक्षों की अनिवार्य सत्ता वहाँ आवश्यक है। भेद जो किया जा सकता है वह कवियों के अधिक अन्तर्मुखी होने के आधार पर या अधिक बहुमुखी होने के आधार पर।

पहला आधार औचित्य की अधिकाधिक प्रतिष्ठा कराने वाला है और दूसरा आधार अनौचित्य के अधिकतर सीमान्त खोलने वाला है। संस्कृत साहित्य में लगभग 9वीं शताब्दी तक का इतिहास पहली बात का उदाहरण है और इसके बाद का इतिहास प्रायः दूसरी बात का निदर्शन है।

कवियों कि इस अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी प्रवृत्तियों के मूल में अन्य अनेक ऐतिहासिक, सामाजिक या व्यक्तिगत कारण हो सकते हैं। ऐतिहासिक कारणों से तात्पर्य है कि वे मोड़ जो कि साहित्य के प्रवाह में परम्परा और प्रयोग के फलस्वरूप उपस्थित होते हैं। संस्कृत साहित्य में वाल्मीकि, व्यास आदि कवि-महर्षियों ने अनेक नये प्रयोग किए थे जिनमें से उदाहरणार्थ प्रकृति-चित्रण लिया जा सकता है।

वाल्मीकि रामायण और महाभारत में प्रकृति का स्वतंत्र और स्वयं में परिपूर्ण चित्रण हुआ है। किसी भी चित्रणको पढ़ने पर पाठक को वही अनुभूति होती है जो किसी भावुक को स्वतंत्र प्रकृति-दर्शन से हो सकती है। मानवीय जीवन का योग भी वहाँ चार चाँद लगाने वाला है न कि उसे ग्रहण की तरह दबा देने वाला यथा-

अवश्यायनिपातेन किञ्चित्प्रक्लित्रशाद्वला।  
वनानां शोभते भूमिर्निविष्टतरूणातपा॥  
(वाल्मीकिरामायण, अरण्यकांड, सर्ग 13)

दूसरा उदाहरण है  
यात्येकतो \*स्तशिखरं पतिरोषधीना -  
माविष्कृतरूपपुरस्सर एकतो \*र्कः।  
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां  
लोको नियभ्यत इवात्मदशान्तरेषु॥  
(अभिज्ञानशाकुन्तल 4, 2)

महाकवि कालिदास के बाद दो सौ वर्षों तक ही प्रकृति-चित्रण के उपर्युक्त प्रकार प्रयोग के रूप में चले। महाकवि भवभूति को इसका विशेष गौरव है, परन्तु भवभूति के बाद संस्कृत साहित्य में ये प्रयोग परम्परा बनने लगे और बहुत कुछ रूढ़ियों के रूप में कवियों की छाती पर सवार हो गये। कवियों ने इसे एक औपचारिकता समझ लिया कि यदि महाकाव्य लिखना है तो उसमें प्रकृति-चित्रण की लकीर पीटनी ही चाहिए, पर ध्यान रखने की बात है कि केवल परम्परा का निर्वाह करने से भी औचित्य नहीं आता।

अनौचित्य तब आता है जब परम्परा का अतिस्थूल या अतिवादी रूप उपस्थित किया जाता है। उद्दीपन विभाव के रूप में प्रकृति का चित्रण वाल्मीकि और कालिदास ने भी किया था पर वहाँ अंगी की अतिविस्तृति वाला दोष नहीं था और न ही अस्वाभाविक अत्युक्तियाँ थीं जिनसे शृंगार या विप्रलम्भशृंगार की जगह हास्यापरपर्याय की स्थिति खड़ी हो जाए। परन्तु परवर्ती कवियों ने प्रकृति की उद्दीपन विभाव की अतिशयता प्रकट कर दी। इतना ही नहीं, परवर्ती कवियों ने प्रकृति के उद्दीपन विभाव से सर्ग पर सर्ग मढ़ दिये जिनमें शृंगार की मूल भावना उतनी ही पतली पड़ गई जितनी इन कवियों की नायिकाओं की कटि। विरह का वर्णन भी एक मार्मिक अनुभूति से टूट कर तमाशे की चीज बनने लगा।

इसके अतिरिक्त अनेक रूढ़ियों या कवि-ख्यातियाँ जब केवल रस्म अदायगी के रूप में प्रस्तुत की जाने लगती हैं तब

उनका भी आकर्षण समाप्त हो गया। कवि-ख्यातियों के आधार पर विचार किया जाय तो किस प्रकार औचित्य सम्प्रदाय में, रस सम्प्रदाय ध्वनि सम्प्रदाय आदि की स्वरूप प्रक्रियायें अध्यवसित होती हैं इसका रहस्योद्घाटन होता है।<sup>7</sup>

मात्र यह कह देने से काम नहीं चल सकता कि अलंकार तो अलंकार ही हैं और गुण भी गुण ही हैं परन्तु जिसे काव्य का प्राणतत्त्व कहा जाये वह औचित्य ही है। क्षेमेन्द्र के बाद संस्कृत काव्य-शास्त्र में औचित्य की अपेक्षा का एक कारण यह भी है कि क्षेमेन्द्र के बाद किसी आचार्य ने संस्कृत में औचित्य की महत्ता दिखाने का पूर्ण प्रयत्न नहीं किया। जिस प्रकार ध्वनि-सम्प्रदाय, रस-सम्प्रदाय और अलंकार-सम्प्रदाय के पीछे सैकड़ों वर्षों तक आचार्य मम्मट, कविराज विश्वनाथ और जयदेव जैसे दिग्गज विभिन्न संप्रदायों को निखारने का कार्य करते रहे उस प्रकार औचित्य-संप्रदाय को जीवन्त करने वाला कोई परवर्ती आचार्य आलोचना के क्षेत्र में नहीं उतर सका। यदि ऐसा हुआ होता तो सम्भवतः औचित्य का दबदबा निर्माणात्मक साहित्य पर बना होता और संस्कृत-काव्य में कवियों द्वारा औचित्य की उतनी उपेक्षा न की गई होती।

## संदर्भ सूची

1. साहित्यशास्त्रीय समाधान पृ. 216
2. अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोडलंकारों ध्वनौ मतः (ध्वन्यालोक)
3. साहित्यदर्पण 7, 23, 25
4. स्वनाम यत्राम मुधाभ्याधामहो महेन्द्रकार्य.....सितीकृतः (नैषधीयचरित 9, 123)
5. सरस्वती काण्ठाभरण, 1, 76
6. तस्य (औचित्यस्य) काव्यस्वरूपनिरूपण सिद्धस्य पृथगुपादानवैयर्थ्यति (व्यक्तिविवेक 2, 126)
7. अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एवं गुणाः सदा औचित्यं रससिद्धस्य काव्यस्य जीवितम् (औ. वि. चर्चा 5)

## ‘किरातार्जुनीयम्’ में राजनीति-निरूपण

डॉ. विजयेन्द्र कुमार पाण्डेय

महाकवि भारवि का किरातार्जुनीयम् अलंकृत शैली में निबद्ध एक उत्कृष्ट काव्य है। महाकाव्यात्मक विशेषताओं से विभूषित इसका कथानक महाभारत के वनपर्व से गृहित है। संस्कृत काव्यालोचन क्षेत्र में भारवेरथगौरवम् की सार्थकता सिद्ध है। मल्लिनाथ ने किरात का परिचय इस प्रकार प्रस्तुत किया है-

“नेता मध्यम पाण्डवो भगवतो नारायणस्यांशज-

स्तस्योत्कर्ष कृते\*नुवर्ण्यचरितो दिव्यः किरातः पुनः।

शृङ्गरादिरसो\*यमत्र विजयी वीरप्रधानो रसः,

शैलाद्यानि च वर्णितानि बहुशो दिव्यास्त्रलाभः फलम्॥”<sup>1</sup>

‘किरातार्जुनीयम्’ महाकाव्य में भारवि की कलात्मकता के साथ उनको राजनीति पटुता, जीवानुभूति की गहनता एवं पाण्डित्य की प्रौढ़ता परिलक्षित होती है। कवि अपने काव्य में तत्कालिन राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का वर्णन यथा स्थान करता है। कवि के लिए व्याकरण कोश, शास्त्र, इतिहास के साथ राजनीति का ज्ञान भी अपेक्षित होता है। इसका निर्देश भरत भामह, वामन, क्षेमेन्द्र, राजशेखर प्रभृति आचार्यों ने किया है। भामह का कथन है -

“न स शब्दो न तद्वाच्यं न सन्यासो न सा कला।

जायते यन्न काव्याङ्गामहो ! भारो महान् कवे”<sup>2</sup>

राजशेखर की उक्ति है।

“श्रुतीनां साङ्गाशाखानाभितिहास पुराणयोः।

अर्थग्रन्थः कथाभ्यासः कवित्वस्यैकभौषधम्”<sup>3</sup>

महाकवि भारवि राजनीति शास्त्र में निष्णत हैं। राजाश्रय प्राप्त होने के कारण उनका राजनीति विषयक ज्ञान भी इस महाकाव्य में पदे-पदे प्रतिबिम्बित हुआ है। कवि ने नीरस राजनीतिक सिद्धान्तों को सरस कथानक में अनुस्यूत करके उन्हें कान्तासम्मिता उपदेश द्वारा प्रबुद्ध प्रज्ञ पाठकों के पुरः सर प्रस्तुत किया है।

‘किरातार्जुनीयम्’ के प्रथम सर्ग के प्रथम श्लोक में ही भारवि ने राजनीति विषयक ‘प्रजासुवृत्तिः कुरूणामधिपस्य

श्रिय पालनी’ वर्णिलिङ्गी इत्यादि विशिष्टार्थगर्भित शब्दों का प्रयोग कर दिया है।

“श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं प्रजासुवृत्ति यमयुद्धं वेदितुम्।  
स वर्णिलिङ्गी विदितः समाययौ युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः”<sup>4</sup>

राज्य की सुदृढ़ता और सुसमपन्नता के लिए राजाओं तथा मन्त्रियों की पारस्परिक अनुकूलता परम आवश्यक है। इसका उल्लेख युधिष्ठिर के प्रति वनेचर को उचित में स्पष्टतया द्रष्टव्य है -

“सं किं सखा साधु न शास्ति योऽधिपं

हितान्न यः संश्रुणेत स किं प्रभुः।

सदानुकूलेष हि कुवते रतिं,

नृपेष्वमात्येषु च सर्वसमादः”<sup>5</sup>

सुव्यवस्थित शासन के लिये गुप्तचर व्यवस्था का होना नितान्त आवश्यक है ताकि शत्रु और मित्र की दैनदिन गतिविधियों सरलता से ज्ञान हो सकें।

“द्विषां विधाताय विधातुमिच्छतो, रहस्यनुज्ञायधिगम्यभूभृतः।

स सौष्टवौदार्यविशेषशालिनीं, विनिश्चितार्थामिति वाचमाददे”<sup>6</sup>

गुप्तचर राजा के नेत्र होते हैं। इन्हीं के द्वारा प्राप्त सूचनाओं के आधार पर यथोचित योजनाओं का क्रियान्वयन होता है -

“कियासु युक्तैर्नृप चारचक्षुषो न वञ्चनीया प्रभवो\*नुजीविभिः।

अतो\*हंसि क्षन्तुमसाधुं साधुवा, हितं मनोहारि दुर्लभं वचः”<sup>7</sup>

राजा को अपने पराक्रम का विस्तार नीतिपूर्वक करना चाहिए तथा काम क्रोधादि छः शत्रुओं को जीतना चाहिए। इसका निर्देश भारवि ने निम्न प्रकार किया है -

“कृतारिष्वर्गजयेन मानवीम्यगरूपां पदवीं प्रपित्सुना।

विभज्य नक्तं दिवमस्ततन्द्रिण वितन्यते तेन नयेनपौरुषम्”<sup>8</sup>

राजनीति में कुशल वही राजा होता है जो अपने शासन काल में धर्म-अर्थ-काम साम-दान दण्ड और भेद इन चारों उपायों का औचित्यपूर्ण प्रयोग करता है। इसकी दृष्टि निम्नश्लोकों से होती है, वनेचर कहता है- धर्म अर्थ-काम त्रिवर्ग का समान सेवन-

“असक्तभाराधयतो यथायथं विभज्यभक्तया समपक्षपातया।

गुणानुरागदिव सख्यमीयिवान् न बाधते\*स्य त्रिगणः परस्परम्”<sup>9</sup>

साम-दान उपाय -

“निरत्ययं साम न दान वर्जित न भूरिदानं विरहय सत्क्रियाम्।  
प्रवर्तते तस्य विशेषशालिनी गुणानुरोधेन बिना न सत्क्रिया”<sup>10</sup>

दण्ड विधान -

“वसूनि वाञ्छन् वशीं न मन्युना स्वधर्म इत्येव निवृत्तकारणः।

गुरुपदिष्टेन रिपौ सुते\*पि वा निहनित दण्डेन स धर्मविप्लवम्”॥<sup>11</sup>

भेद-नीति-प्रयोगकर्ता दुर्योधन -

“विधाय रक्षान्परितः परेरतानशं किताकारभुपैति शंकितः।

क्रियापवर्गेष्वनु जीविसात्कृता कृतज्ञतामस्य वदन्ति सम्पदः”॥<sup>12</sup>

राजनीति के नियमानुसार प्रबल शत्रु के साथ कभी भी विरोध नहीं करना चाहिए। कूटनीति के मान्य सिद्धान्त के अनुसार शठ के साढा शठता का व्यवहार करना चाहिए, सरलता का नहीं बलवान युधिष्ठिर से प्राप्ति के भय के विषय में बनेचर कहता है -

“प्रलीनभूपालमपि स्थिरायति प्रशासिदावारिधि मण्डलं भुवः।

स चिन्तयत्येव भियस्त्वदेष्यती रहो, दुरन्ता बलवद्विरोधिता” ॥<sup>13</sup>

द्रौपदी युधिष्ठिर से कहती है -

“व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति भायाविषु ये न मायिनः।

प्रविश्य हि हनन्ति शठास्ताविधानसंवृताग्निशिता इवेषु॥<sup>14</sup>

वे मूर्ख पराजय को प्राप्त करते हैं जो भायवियों के साथ। माया यानि कपट का व्यवहार नहीं कहते। क्योंकि शठ उनके आन्तरिक बातों को जानकर उन्हें कवच रहित शरीर की तरह झागरा लेते हैं।

हमें किसी भी काम में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। बिना सोचें समझे कोई काम करने से अनेक विपतियों का सामना करना पड़ता है। जो व्यक्ति सोच-विचार कर काम करता है, उसके गुणों से आकृष्ट सम्पत्ति स्वयं उसके पास चली आती है। भीम द्वारा दुर्योधन पर अविलम्ब आक्रमण करने की बात सुनकर युधिष्ठिर भीम से कहते हैं -

“सहसा विदधीत न क्रियाभविवेकः परमापदां पदम्।

वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः”॥<sup>15</sup>

वीर पुरुष को अपने शत्रु पर विजय प्राप्त करने वाले क्रोध के अन्धरे को दबाकर प्रभुशक्ति और उत्साह नहीं करता, वह इन तीनों शक्तियों से उसी तरह हाथ धो बैठता है, जैसे कृष्णपक्षीय चन्द्रमा अपनी कलाओ से।

“बलवानवपि कोपजन्यनस्तमसो नभिभवं रूणद्धियः।

क्षयपक्ष इवैन्दविः कलाः सकला हन्ति स शक्तिसम्पदः”

शौर्य और क्रोध के समन्वय से ही लोकविजय सम्भव होता है।<sup>16</sup>

“अपन्थकोपस्यविहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।

अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहादेन न विद्विषादराः”॥<sup>17</sup>

अभ्युदय चाहनेवाले राजा को दुर्विनीत नहीं होना चाहिए अन्यथा उसका विनाश अवश्यम्भावी है। अतः राजा को विमृश्यकारी होना आवश्यक है -

“समवृत्ति मार्दवं समये यश्च तनोति तिभताम्।

अधितिष्ठति लोकमोजसा स विवस्वानिव मेदिनीपति॥<sup>18</sup>

यदि अज्ञानी राजा नीति पथ से च्युत होता है तो प्रजा भी उससे विमुख हो जाती है -

“मदमानसमद्धतं नृपं न वियुक्ते नियमेन मूढताम्।

अति मूढ उदस्यते नयान्नयहीनादपरज्यते जनः”॥<sup>19</sup>

निन्द्य आचरण वाले राजा को मंत्री और मित्रगण पृथक हो जाते हैं और उसका प्रति पक्ष उस पर आक्रमण कर उसके राज्य को नष्ट कर देते हैं जैसे नदी का वेग दोनों किनारों को काट कर गिरा देना।

“लघुवृत्तितया भिदां गतं बहिरन्तश्च नृपस्य झण्डलम्।

अभिभूय हरत्यनन्तरः मिथिलं कूलमिवापगारयः॥<sup>20</sup>

उपर्युक्त विवेचन से भारवि की राजनीतिज्ञता का सुस्पष्ट पता चलता है। राजनीति का राजीव वर्णन किया ताजुनियमफ की विशेषता है। द्वितीय सर्ग में भीम सेन और युधिष्ठिर का संवाद राजनीति के मूढ तत्त्वों से भरा हुआ है। अन्य सर्गों में भी राजनीति के उँचे सिद्धान्त यथा स्थान निरूपित हैं। राजाश्रित कवि होने के कारण इन्हें राजनीति का व्यावहारिक प्रौढ ज्ञान था। भारवि ने राजनीति निरूपण के लिए वंशस्थ वृत्त का उपयोग किया है। क्षेमेन्द्र वंशस्थवृत्त को राजनीति के वर्णन के लिये सर्वाधिक उपयुक्त माना है -

“षाड्युण्यप्रगुणा नीति वंशस्थेन विराजते।<sup>21</sup>

भारवि की प्रशंसा के क्षेमेन्द्र का उदित है -

“वृत्तछत्रस्थ सा कापि वंशस्थस्य विचित्रता।

प्रतिभा भारवेर्येन सच्छाये नाधि की वृत्ता॥<sup>22</sup>

## संदर्भ

1. मल्लिनाथ-घटापथ टीका ङ्किरातार्जुनीयम्) 1.46
2. भाभह - काव्यालंकार 5/4
3. राजशेखर - काव्यमीमांसा -
4. भारवि - किरातार्जुनीयम् - श्लोक 1.1
5. वही - वही - 1.5
6. वही - वही - 1.3
7. वही - वही - 1.4
8. वही - वही - 1.9
9. वही - वही - 1.11
10. वही - वही - 1.12
11. वही - वही - 1.13
12. वही - वही - 1.14
13. वही - वही - 1.23
14. वही - वही - 1.30
15. वही - वही - 2.30
16. भारवि - वही - 2.37
17. वही - वही - 1.33
18. वही - वही - 2.38
19. वही - वही - 2.49
20. वही - वही - 2.53
21. क्षेमेन्द्र - वही (सं.सा.का इतिहास बलदेव उपाध्याय) पृ. 222
22. वही - सुवृत्तिलक

# वैदिक वाङ्मय में निरूपित पर्यावरण संरक्षण : एक विवेचन

मनोज कुमार सिंह

वेद शब्द विद्-ज्ञाने धातु से 'घञ' प्रत्यय द्वारा निष्पन्न है। अतः इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है- विदन्ति येन स वेदः अर्थात् जिससे वास्तविक बात जानी जाय। यह वास्तविकता धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से सम्बन्धित है। इस पुरुषार्थ चतुष्टय का सम्यक् ज्ञान हमें वैदिकमन्त्रों द्वारा ही सम्भव है जैसा कि- "विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा एमिधर्मादि पुरुषार्थाः 'इति अनिष्ट के परिहार के उपायों के ज्ञापक हैं। समस्त भारतीय ज्ञान, विज्ञान, धर्म-दर्शन, कला और संस्कृति आदि का मूल रूप वेदों में ही विद्यमान है। मन्त्र द्रष्टा वैदिक ऋषियों ने प्रकृति के महत्व का प्रतिपादन एवं रहस्य का उद्घाटन तत्सम्बद्ध सूक्तों में किया है प्रत्येक सूक्त किसी देवता विशेष से सम्बद्ध है। अग्नि, वायु, आकाश, इन्द्र विष्णु मरुद्गण, स्तुतिपरक मन्त्रों में उनकी प्रसन्नता ओर अनुकूलता के लिए हार्दिक भाव हमारी रक्षा ओर अभिवृद्धि होती है। वेदों का महत्व उनमें ज्योतिष विषयों के निरूपण से विदित है।

आज कल पर्यावरण का अध्ययन हमारे लिए महत्वपूर्ण विषय है क्योंकि वैज्ञानिकों अविष्कार के दुरुपयोग औद्योगिक विकास एवं वन्य-वृक्षों-बगीचों के उन्नूलन से पर्यावरण प्रदूषित हो गया है। ध्यातव्य है कि पर्यावरण तथा उनके संरक्षण के विषय में हमारे ऋषियों ने वेदों में क्या विचार व्यक्त किया है।

ज्ञात है कि ज्ञान-राशि वेद को महर्षि व्यास ने विषयानुसार चार रूपों में विभक्त किया-

ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद संहिता, सामवेद संहिता ओर अथर्ववेद संहिता निष्पन्न होता है। जिस आवरण से लोक या जीव सब ओर से आवृत रहते हैं। उसे पर्यावरण कहते हैं। यह आवरण पंच-महाभूतों और तन्मात्राओं का है। यह पंच महाभूतों

(पर्यावरणीय घटकों) की शुद्धता एवं सम्पन्नता पर हमारे जीवन की स्वस्थता सुदृढ़ता एवं सुसम्पन्नता निर्भर है। ऋषियों का कथन है -

'चक्षुपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।

सत्यपूतं पदेत् वाचं, मनः पूतं समाचरेत्॥ (प्रसिद्ध उक्ति)'

वैदिक देवताओं को तीन कोटियों में रखा गया है पृथ्वी स्थानीय, अन्तरिक्ष-स्थानीय और द्यूस्थानीय। ये देवता मानवजीवन और पर्यावरण में संतुलन बनाये रखते हैं। पर्यावरण की शुद्धता के लिए ही वैदिक यज्ञों की व्यवस्था की गयी थी। वैदिक जीव यज्ञप्रधान जीवन था। इसका स्पष्टतः उल्लेख गीता में श्रीकृष्ण ने किया है-

"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वो\*सित्तवष्टकामधुक्"।<sup>१</sup>

गीता 3/10

"देवान्भावथतानेन ते देवा भावयन्तु वः।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमावप्यवस्था।<sup>१</sup> गीता-3/11

इष्टान्भोगान् हि वा देवा दास्यन्ते यज्ञभाविता।<sup>१</sup> 3/12

द्यावापृथ्वी के स्तवन में दीर्घतमा ऋषि कहते हैं -

"तेहि द्यावा पृथिवी विश्वशंभुव ऋतावरी रजसो धारयत्कवी।

सुजन्मनी धिषणे अन्तरीयते देवी धर्मणा सूर्य मूचिः"।<sup>१</sup>

(ऋग्वेद 8/1/60)

अर्थात् ये द्यावापृथिवी सभी को समृद्धि देते हैं, वे लोकों को सहारा देने वाले हैं, वे पवित्र और बुद्धिमान् हैं। वे सुजन्मा और अपने अपने कार्य में प्रगल्भ हैं।

देदीप्यमन सूर्य देवता धर्मानुसार इन दो देवियों के मध्य में विचरण करता है।।

पर्यावरण की रक्षा पूजा का एक अविभाज्य अंग था, जैसी कि कहा भी गया है। -

"यस्यः भूमिः प्रमा\*न्तरिक्षमुतोदरम्।

दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।<sup>१</sup>

(अथर्ववेद 10/7/32)

अर्थात् भूमि जिसकी पादस्थानी और अन्तरिक्ष उदर के समान है तथा द्यलोक तथा द्यूलोक जिसका मस्तक है, उन सबसे बड़े ब्रह्मण को नमस्कार है।

ऋग्वेद में वर्षा-ऋतु को उत्सव मानकर शस्य-श्यामला प्रकृति के साथ अपनी हार्दिक प्रसन्नता अभिव्यक्ति की गई है-

“ब्राह्मणासौ अतिरात्रे न सोमे सरो न पूर्णमभितो वदन्तः”

संवत्सरस्य तदह परिष्ठ यन्मण्डूकाः प्रावृषीणं वभूव”

(ऋ. 7/130/7)

वेदों में पर्यावरण को अनेक वर्गों में बाँटा जा सकता है - (1) वायु, (2) जल (3) ध्वनि (4) खाद्य और मिट्टी वनस्पति, वनसम्पदा पशु पक्षी संरक्षण आदि। सजीव जगत् स्थान है। बिना प्राणवायु (ऑक्सीजन) के क्षणभर भी जीवित रहना सम्भव नहीं है। हमारे शरीर के अन्दर रक्त वाधिनियों में बहता हुआ रक्त बाहर की तरफ दबाव डालता रहता है, यदि इस संतुलित नहीं किया जाए तो शरीर की सभी धमनियाँ फट जाएगी तथा जीवन नष्ट हो जाएगा। वायु का सागर इससे हमारी रक्षा करता है। पेड़-पौधे ऑक्सीजन देकर क्लोरोफिल की उपस्थिति में, इसमें से कार्बनडाइऑक्साइड अपने लिए रख लेते हैं और ऑक्सीजन हमें देते हैं। इस प्रकार पेड़-पौधे वायु की शुद्धता द्वारा हमारी प्राण रक्षा करते हैं।

### वायु की शुद्धि पर बल

वायु की शुद्धि जीवन के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इस तत्व को यजुर्वेद में कहा गया है -

“तूनन्पादसुरो विश्ववेदा देवो देवेषु देवः। पथो अनुक्त मध्वा घृतेन”

(यजुर्वेद 27/12)

अर्थात् उत्तम गुणवाले पदार्थों में उत्तमगुणवाता प्रकाश रहित तथा सबको प्राप्त होनेवाले। (तनूनपात) जो वायु

शरीर में नहीं गिराता, वह कामना करने योग्य मधुज जल के साथ श्रोज आदि मार्ग को प्रकार करें, उसको तुम जानो।

वायु को शुद्ध तथा अशुद्ध दो भागों में बाँटा गया है - 1, श्वास लेने योग्य शुद्ध वायु तथा (2) जीवमात्र के लिए हानिकारक दूषित वायु -

“द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः। दक्षं ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद्रपः”

(ऋ. 10/137/2)

अर्थात् प्रत्यक्षभूत दोनों प्रकार की हवाएँ सागर पर्यन्त और समुद्र से दूर प्रदेशपर्यन्त बहती रहती हैं। हे साधक। एक तो तेरे लिए बल को प्राप्त करती है और एक जो दूषित है, उसे दूर फेंक देती है।

### जल-प्रदूषण उसका निदान

जल मानव-जीवन में पेय के रूप में एवं धोने में वस्तुओं को ठंठा रखने तथा गर्मी से राहत पाने, में विद्युत उत्पादन में, नदियों-झीलों और समुद्र में सवारियों और सामानों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाने के लिए भाप-इंजनों को चलाने में, अग्नि बुझाने में कृषि, सिंचाई तथा उद्योगों और भोजन बनाने में अति आवश्यक है। सभी जीवधारी जल का उपयोग निरन्तर करते रहते हैं, जल के बिना सम्भव नहीं है। औद्योगिककरण के परिणामस्वरूप कल कारखानों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि कारखानों से उत्पन्न अपशिष्ट पदार्थ-कूड़ा करकट, रासायनिक अपशिष्ट आदि नदियों में मिलते रहते हैं। समुद्र में परमाणु विस्फोट से भी जल प्रदूषित हो जाता है। वेदों में जल-प्रदूषण का वर्णन मिलता है।

मकान के पास ही शुद्ध जल से भरा हुआ जलागय होना चाहिए।

“इमा आपः भाराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः।

गुहनुप प्रसीदाम्यभूतेत सहागिन्ना”

(अथर्ववेद 3/12/9)

अर्थात् अच्छे प्रकार से रहित तथा रोगनाशक इस जल को मैं लाता हूँ। शुद्ध जलपान करने से मैं मृत्यु से बचा रहूँगा। अन्न, घृत, दुग्ध, आदि सामग्री तथा अग्नि के सहित घंटों में आकर अच्छी बैठता हूँ।

शुद्ध जल मनुष्य को दीर्घ, आयु प्रदान करने वाला, प्राणों का रक्षक तथा कल्याणकारी है यह भाव ऋग्वेद के ऋचाओं में मिलता है-

“शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।

शं योरभि स्त्रवन्तु नः”

(ऋक. 9/9/4)

अर्थात् सुरतमय जल हमारे अभीष्ट की प्राप्ति के लिए तथा रक्षा के लिए कल्याणकारी हो। जल हम सुख-समृद्धि की वर्षा करें।

जल चेहरे का सौन्दर्य तथा कोमलता ओर कान्ति बढ़ाने में औषधिरूप है भोजन के पाचन में अधिक जल पीना आवश्यक है, इस का वर्णन अथर्ववेद के निम्न ऋचा में मिलता है -

“आपो भद्रा घृतमिदाप आसन्नग्रीषो विभ्रत्याप इताः।

तीव्रो रसो मधु पृचामरंगम आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत्”

(अथर्ववेद 3/13/5)

अर्थात् जल मंगलमय और घी के समान पुष्टि दाता है वही मधुरता जलधाराओं का स्रोत भी है। भोजन को पचाने में ही उपयोगी तीव्र इस है, प्राण और कान्ति, बल और पौरुष देनेवाला अमरता की ओर ले जानेवाले मूल तत्व है।

## खाद्य पदार्थ-प्रदूषण से बचाव

वेदों ने खाद्य के सम्बन्ध में वैज्ञानिक आधार पर निष्कर्ष बताया है। मनुष्य पाचनशक्ति से भोजन को भलीभाँति खुद पचाये, जिससे वह शारीरिक और आत्मिक बल बढ़कर उसे सुखदायक बना सकें। इसी प्रकार पेय, पदार्थों, जैसे जल-दूध इत्यादि के विषय भी उल्लेख है।-

“यत् पिबामि सं पिबामि समद्र इव संपविः।

प्राणानमुष्य संपाय सं पिबामो अभुं वयम्”।<sup>2</sup>

अर्थात् मैं जो कुछ पीता हूँ, यथा विधि पीता हूँ जैसे यथाविधि पीनेवाला समुद्र पचा लेता है। दूध जल जैसे पेय पदार्थ पेय पदार्थों को हम उचित रीति से हीपिया करें। जो कुछ खायें, अच्छी तरह चबाकर खायें।

“यद् गिरामि सं गिरामि सं गिरामि समूद्रइव संगिरः”

प्राणानमुष्य संगीर्यं सं गिरामो अमुं वयम्”।<sup>3</sup>

(अथर्ववेद 135/3)

## मिट्टी पृथ्वी एवं वनस्पतियों में प्रदूषण की रोकथाम

अथर्ववेद के 12वें काण्ड के प्रथम भारत में पृथ्वी का महत्व प्रदर्शित किया है। सभी पृथ्वी के पुत्र है। कहा गया है-

माता भूमि पुत्रों अहं पृथिव्याः”

पृथ्वी के अन्दर नाना प्रकार के फल, औषधियाँ फसले, अनाज, पेड़-पौधे इसी मिट्टी पर उत्पन्न होते हैं। उनपर ही हमारा भोजन निर्भर है। अतः पृथ्वी को हम माता के समान आदर दें -

“यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमापंच कृष्ट्यः।

भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमो\*स्तु वर्षमेदसे”।<sup>4</sup>

(अथर्ववेद 12/1/42)

## ध्वनि प्रदूषण और उसका निदान

भजन, कीर्तन, धार्मिक, गीत-गान, धर्मग्रन्थों का पाठ, रामायण, मीरा कबीर के भक्ति प्रधान भजन उपयोगी है। संगीत भक्ति-पूजा का एक महत्वपूर्ण अंग है। खेद है कि आज कल ध्वनि के साधन का दुरपयोग हो रहा है। रेडियों, टी. बी. ट्रांजिस्टर प्रसारक ध्वनि यन्त्र जोर-जोर से सारे दिन कान फाड़ते रहते हैं। इससे सिरदर्द, तनाव अनिद्रा आदि फैल रहे हैं। वेदों में कहा गया है कि हम स्वास्थ्य की दृष्टि से अधिक तीखी ध्वनि से बचें, आपस में वार्ता करते समय धीमा एवं मधुर बोलें -

“मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमृत स्वसा।

समयंचः सव्रता भूतवा वाचं वदत भद्रया”।<sup>5</sup>

(अथर्ववेद 3/30/3)

अर्थात् भाई-भाई से बहन से अथवा

परिवार में कोई भी एक दूसरे से द्वेष न करें। सब सदस्य एकमत और एकव्रती होकर आपस में शान्ति से भद्र पुरुषों के समान मधुरता से बातचीत करें -

“जिहवा अग्रे मधु में जिह्वामूले मधूलकम्।

ममेदह क्रतावसो मम चितमुपायसि”।<sup>6</sup>

(अथर्ववेद 1/34/2)

उपर्युक्त विवेचन से यह भली-भाँति ज्ञात होता है कि वैदिक वाङ्मय में पर्यावरण और उसके संरक्षण के सम्बन्ध में ऋषियों ने न केवल सिद्धान्तों का कहीं निरूपण किया था अपितु उनका व्यवहारिक रूप भी प्रदान किया था। प्राकृतिक उपादानों में उन्होंने जिन दैवी शक्तियों की सत्ता कल्याण होता था। अग्नि, जल, वायु, आकाश, पृथ्वी, पर्वत, पेड़-पौधे नदियाँ, एवं औषधियाँ मानव जीवन को शक्ति प्रदान करती हैं। उनसे लाभान्वित होने वाले मुनिषियों ने उनके संरक्षण को भी आवश्यक बताया है।

## प्रबंध, रहन-सहन एवं अभिप्रेरण साहित्य

धन प्राप्ति के अनुपम सूत्र	सी. रंजन	200.00
स्वयं को पहचानें	ओरिसन स्वेट मार्डेन	150.00
भाग्य स्वयं बनाएं	स्वेट मार्डेन	150.00
गृह व्यवस्था	अमर रस्तोगी	200.00
वास्तु एवं सुख संपदा	सी. रंजन	200.00
फेंगशुई से सुख वैभव	सी. रंजन	200.00
क्रय शक्ति प्रबन्ध	सुमन शर्मा	150.00

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

## पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर, दिल्ली-110053, फोन : 9811710900

# वैदिक वाङ्मय में निरूपित राजधर्म

रमेश नाथ मिश्र

‘वेद’ प्राचीन भारतीय आर्यों के ज्ञान-विज्ञान कला कौशल, धर्म और संस्कृति आदि के ज्ञान का अक्षय कोष है। प्राचीन भारतीय मनीषियों और ऋषियों में आध्यात्मिक और अधिमौलिक वस्तुओं, तत्त्वों एवं तथ्यों के प्रति जो विचार अपनी विलक्षण प्रतिभा के द्वारा अभिव्यक्त किया, उन्हें वेद नाम से अभिहित किया गया। वस्तुतः वेद शब्द से तदयुगीन समस्त ज्ञान या विद्याओं का बोध होता है। वेद का पहले विभाजन पहले वेदत्रयी या चतुष्टयी के रूप में नहीं हुआ था। विषय के अनुसार वैदिक मन्त्रों का विभाजन ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद संहिता सामवेद संहिता और अथर्ववेद संहिता के रूप में यज्ञानुष्ठा को ध्यान में रखते हुए होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्म इन ऋत्विजों के लिए किया गया।

वेद के विषय में सायणाचार्य का कथन है -

“प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।

एनम् विदन्ति वेदेन वेदता”। (सायणचार्य ऋग्वेदभाष्य भूमिका)<sup>1</sup>

वैदिक वाङ्मय का समावेश होता है। वैदिक वाङ्मय के अनुशालिन से तदयुगीन आर्यों की राजनीतिक अवस्था का भी ज्ञान होता है। राष्ट्र क्या है? राजा और प्रजा के कर्तव्य राजा का प्रजा के प्रति उत्तरदायित्व, राजा का वरण, मंत्रीपरिषद् सभा और समिति की स्थापना प्रजातन्त्र व्यवस्था, शत्रुओं का संहार और नीतियों का प्रयोग इन सबों का यथा स्थान सम्यक् निरूपण हुआ है।

“त्वां विशो वृणतां राज्याय

त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः।

वष्मेन् राष्ट्र्य ककुदि श्रयस्व”।

ततो न उग्रो विभजा वसूनि॥<sup>2</sup> (अथर्ववेद 4/2)

राजा अपने जीवनकाल के लिए निर्वाचित जनसंघों का निर्देश ऋग्वेद में मिलता है जिनमें से एक नाम था समिति

और दूसरी का नाम था सभा। इन सभा-सदों का पृथक-पृथक क्या कार्य था इसकी विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। किन्तु अधिकांश वेदों के मतानुसार समिति पूरे राष्ट्र की संस्था थी जिसमें राष्ट्र की समस्त जनता। एकत्र होकर राजा का निर्वाचन करती थी। समिति में राजा की उपस्थित अनिवार्य थी। राजा का यह कर्तव्य था कि वह समिति में अवश्य आये। ऋग्वेद में समिति में जानेवाले सच्चे राजा का निर्देश उपमान के रूप में किया गया है।

ऋग्वेद 9/2/226 राजा न सत्यः समितीरियानः छान्दोग्य के अनुसार जब श्वेत केतु आरुणेय गौतम पञ्चालों की समिति में गए थे तब उनके राजा प्रवाहण जैवली वहाँ उपस्थित तथा उनसे पाँच आध्यात्मिक विषयक प्रश्नों को पूछा। (छान्दोग्य.) 5/3)

राजा को प्रजा के साथ कैसा व्यावहार करना चाहिए इसके विषय में अशीर्वेद का निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है-

“आ त्वा गन् राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राड्विशां पति रेकराट् त्वं विराज।

सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्यन्तूपसद्यो नमस्यो भवेहा”<sup>3</sup>

(अथर्व 03/4/21)

राजा को कैसा होना चाहिए इसका स्पष्ट निर्देश अथर्ववेद में किया गया है -

“सो\* रज्यत ततो राजन्यो\* जायत।

विशां च वै सबन्धूनं। चान्नेस् चान्नद्यस्य प्रियं धाम भवतिय

भयि क्षजं पर्णभणे भयि धारयताद् रयिम्।

अहं राष्ट्रस्यामीवर्गे निजो मूयासमुत्तम”<sup>4</sup>

(अथर्ववेद 3/5/22)

अपि च :-

“ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्य ये।

उपस्तीन पर्ण मध्यं त्वं सर्वान् कृण्वमितो जनान”<sup>10</sup>

राजा और प्रजा का परस्पर विश्वास वाक्छनीय है -

“अहं गृम्णाभि मनसा मनां सि मम चिन्तनु चिन्ते भिरेत।

मम् वशेषु हृदयानि वः कृणोभि मम यातमनु वर्तमान एत”<sup>4</sup> (अर्थ. 328/6)

शोध-प्रज्ञ (संस्कृत), जय प्रकाश वि. वि., छपरा

राजा के द्वारा प्रजाओं में अन्तर विचार का समाज्जय स्थापित करना चाहिए -

“सं वा मनां कि संसवता समाकूतिन मामसि।

अभी ये विब्रताः स्थन तान् वः नमयामसि”<sup>16</sup> (अर्थव. 3/8/5)

प्रजा में वचन और कार्य में विरोधन हो ऐसा प्रयत्न करना चाहिए।

“स विशो\*नु वसचलत् है”<sup>16</sup>

(अथर्व. 9/)

राजा प्रजा के मतों, विचारों को ध्यान से सूने। राजा को सभा और प्रजा के मतों, विचारों को ध्यान से सुने। राजा को सभा और समिति अपने विचारों से अवगत कराये। इस प्रकार अथर्ववेद में राज सिद्धान्तों और प्रजातांत्रिक पद्धति का उल्लेख है।

समाज में सन्तुलन बनाये रखने के लिए राजा शासन प्रणाली के अन्तर्गत दण्डव्यवस्था करे। क्योंकि अपराधियों को दण्डित नहीं करने से समाज में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज में रहकर की हव अपनी उन्नति कर सकता है। प्रजा के हितों की रक्षा करना राजा का परम कर्तव्य है। राजा राज्य का सर्वोच्च पद को अलंकृत करता है। अथर्ववेद के तृतीय काण्ड 20 वें सूक्त में सामाजिक उन्नति के लिए आदर्शभूत कतिपय मौलिक गुणों का मनोविज्ञान किया गया है।

सहृदय सम्मानस्यमद्विषयं कृणोमि वः।

अन्यो\*न्यविमित दूर्यत वत्सं जातमिताचन्या।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमना।

जाया पत्ये मधुमतीं वायं वदतु शान्तिवाम्।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्ष्व भा स्वसारभूत स्वसा।

सम्यंचः सव्रता भूत्वा वायं वदत भद्रया॥

ज्यांयस्वनतिश्चितिनो मा वियौष्ठ संराधयन्तः

जसधुराश्चन्तः।

अन्यो\*यस्मै वल्गु वदन्तः एव सध्रीचीनान्व संमनस स्कृष्णोमि”<sup>17</sup>

(अथर्ववेद 3/30/5)

वैदिक ऋषि जनता के सच्चे कल्याण का ही ध्येय अपने सामने रखते थे।

“भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विद।

स्तपो दीक्षामुपसेदुरग्रे

ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं

तदस्मै देवा उपसं नमन्तु”<sup>18</sup>

(अथर्व 19/41/11)

अर्थात् सब जनता का ऋषियों ने प्रारम्भ में दीक्षा लेकर तप किया। अतएव सब विबुध इस राष्ट्र की भक्ति करें।

वैदिक स्वराज्यशासन की यही महत्व है और यही वैदिक स्वराज्य की विशेषता है। जैसा कि ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति। (अथर्व 11/3/5)

उपर्युक्त विवेचन से वैदिक वाङ्मय में राजनीति और राजधर्म के सम्यक् निरूपण का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त होता है।

## जीवन वृत्त

महान देश रत्न ( टैगोर, गांधी, नेहरू व पटेल )

चिरमस्णीय महान वैज्ञानिक

यशपाल का साहित्य सर्जन के विविध आयाम

कथाकार एवं उपन्यासकार यशपाल

मदर टेरेसा

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

चिरमस्णीय महान लेखक

चिरमस्णीय महान व्यक्तित्व

निर्मल वर्मा व्यक्तित्व एवं कृतित्व

सरदार वल्लभ भाई पटेल

## पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर, दिल्ली-110053, फोन : 9811710900

## भारत में लोक चित्रकारिता

डॉ. निरंजन कुमार सिंह

20वीं शताब्दी की शुरुआत से भारतीय दृष्टिकोण में लोक चित्रकला की प्रशंसा की जाने लगी है। इसके पूर्व ब्रिटिश कला प्रेमियों और मर्मज्ञों की स्पर्धा में भारत में पारखियों ने केवल मुगल चित्रकला की प्रशंसा की। और यह 1916 का समय था, जब आनंदकुमार स्वामी ने राजस्थानी और पहाड़ी चित्रों को सम्मान दिया। यद्यपि मुगलकाल के परिष्कृत काम की तुलना में ये चित्र सामान्य एवं लोक कलात्मक ही थे परंतु उनकी सौम्यता ज्यादा युक्तियुक्त थी और आनंदकुमार स्वामी द्वारा उत्साहपूर्वक व्याख्यित की गई थी। उनके लेखन कार्य ने भारत के सभी लालित्य रूपों के मूल्यांकन में महत्व पैदा किया और पश्चिम में भारतीय चित्रकला के महत्व को दृढ़ता से जमाया जा सका। इसके पश्चात् अन्य कारकों ने कला प्रेमियों को ग्रामीण चित्रकारों की अभिव्यक्तियों की ओर दृष्टिपात करने के लिए प्रेरित किया।

शुरुआत में, लोक चित्रकला की खोज बंगाल तक ही सीमित थी। यह इस प्रकार कि 1900 वीं सदी में यूरोप की “आधुनिक कला” के परिदृश्य के महत्वपूर्ण परिवर्तनों को बंगालियों ने सबसे पहले महसूस किया था। फ्रांस और जर्मनी में तत्कालीन यूरोपियन चित्रकारों के कार्य ने यूरोपियन कला क्षेत्र में क्रांति का सृजन किया। आधुनिक चित्रकारों ने परिदृश्य का त्याग कर दिया था, रंगों का उपयोग उनके या सांकेतिक उद्देश्य के लिए ही किया और मनुष्य आकार को स्वतंत्रपूर्वक परिष्कृत किया या तोड़ा मरोड़ा। उन्होंने सघन सरलीकरण को उद्देश्य बनाया और स्वाभाविकता का परित्याग किया अमूर्त या ज्योमिति के पक्ष में। ये परिवर्तन एक ओर अफ्रीकन मूर्तिकला की खोजी गई प्रतिक्रियास्वरूप थे और दूसरी ओर जापानी लकड़ी के छापे थे। जैसा श्रीमती आर्चर ने बतलाया है—बंगाल की ख्यात् चित्रकला, इस संबंध में, नीग्रो मूर्तिशिल्प से भिन्न प्रतीत नहीं होती और यह तीव्र देशभक्ति की मनोदशा में सुनिश्चित बंगाली लेखकों, आलोचकों और चित्रकारों ने कालीघाट की चित्रकला के उत्थान में शुरू किया और उसी समय ग्रामीण चित्रकला के विशेष रूपांकन को ढूँढ निकाला और संग्रहीत किया—ग्रामीण बंगाल में पातुआ द्वारा बनाये गए

प्रवक्ता, सेवा समिति विद्या मंदिर इण्टरमिडिएट कॉलेज, इलाहाबाद

कुंडली चित्रों की श्रृंखला में। भारत के अग्रगामी संग्रहकर्ता एवं कला समालोचक अजित घोष और चित्राकार मुकुल डे लंदन से कलकत्ता 1920 की शुरु में वापिस आये थे। दोनों ने कालीघाट के चित्रों को एकत्रित किया जो तब भी कलकत्ता के काली मंदिर के पास बनाये जा रहे थे। अजित घोष ने कालीघाट चित्रों के लिए अपनी रुचि इन शब्दों में रखी: “इन तालिका चित्रों में भाव और प्रयास की तत्क्षणता और ताजगी है।” अजित घोष और बंगाल की ग्रामीण चित्रकला में यूरोप की आधुनिक कला के समान प्रभाव देखा गया है और उसी आलेख में जोर दिया “आदिम सादगी”, “शैलीगत विशालता”, “आश्चर्यजनक साहसीपन” और नाटकीय प्रभाव जो संक्षिप्त सहजता से उत्पन्न हुए थे। गुरु सवे दत्त, बंगाल की इंडियन सिविल सर्विस के एक वरिष्ठ अधिकारी, ने 1930 के दशक में बंगाल के गांवों का भ्रमण किया था। उन्होंने लोक कला का भारी संग्रह किया और कला प्रेमियों को बंगाल की ग्रामीण मनोहारी चित्रकला से परिचित कराया।

जैसे-जैसे “लोक” और “जन सामान्य” की चित्रकला ने सम्मान की नई स्थिति पाई अनेक ऐसे केंद्रों को धीरे-धीरे ढूँढ निकाला गया और विशाल स्तर पर चित्रकला की ऊर्जा का भान होने लगा और उनकी प्रादेशिक विभिन्नताओं को कला इतिहास के क्रम में रखा गया। इस उत्साह में इजाफा हुआ था 1950 के दशक में स्वतंत्रता पश्चात भारतीय राज्यों के विलीनीकरण के बाद भारतीय महलों के गोदामों से लघुचित्र बाजार में आ गए। लाभदायी कला के बाजार के व्यापारी ने उनके खोजने और विक्रय करने का काम शुरू किया उन चित्रों की अपेक्षा जो राजदरबारों के लिए बनाये गए थे।

“लोककला” शब्द उन चित्रों को समाहित करता है जो भारत के गांवों में, पुरुष और नारी के द्वारा अपने घर की सजावट, अपने आराध्य और अपने रीतिरिवाजों के लिए और स्थानीय पेशेवर चित्रकारों या कारीगरों के द्वारा स्थानीय लोगों के उपयोग के लिये बनाये जाते थे। यह शब्द पारंपरिक चित्रकारों के द्वारा ग्रामीण जनता के लिए बाजार में बनाये गये चित्रों को भी समाहित करता है और उनको भी जो तीर्थ स्थानों पर पारंपरिक पेशेवर चित्रकार परिवारों के द्वारा बनाये जाते थे। ये सब चित्र विभिन्न विषयों और शैलियों में बनाये जाते थे।

इतिहास, समाजशास्त्र और भूगोल ने हर प्रदेश के चित्रों में स्थानीय प्रभाव को बढ़ावा दिया। एक दूरी तक उनकी शैली और गुणवत्ता स्थानीय तौर पर मिलने वाली सामग्री पर आश्रित

होती थी। इन सब गुणों से हमें उनको प्रदेश वार पहचानने में मदद मिलती है। और तब भी सभी प्रकट विभिन्नताओं की तह में एक सदृश्यता की गति है जो उनके “भारतीय” होने को बनाये रखती हैं। यद्यपि भारतीय चित्रकला को बहुदा राजदरबार, मंदिर और लोककला की श्रेणी में वर्गीकृत किया जाता है परंतु इस प्रकार का विभागीकरण अनुचित है। 16वीं सदी में मुगल शासन की स्थापना तक भारत के पूर्ववर्ती राजदरबार अलग-थलग समाज नहीं थे और शासक और धनाढ्य लोग जैसे साहूकार, व्यापारी और जमीनदार ये सभी चित्रकार के लिए एक समान थे। चित्रों की गुणवत्ता का फर्क उपयोग में लाई गई सामग्री का और दिए गए समय का होता था। और इन दोनों पर कलाकार को दिए जाने वाले पारिश्रमिक का भी होता था जो स्वच्छंद होता था। राजदरबार में चित्रकार रखने का विचार मुगलों के समय से प्रारंभ हुआ और उनके जागीरदार शासकों के द्वारा मुगलों के तरीकों को अपनाया जाता रहा। यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि ऊर्जा, मौलिकता और गतिशीलता अकबरी चित्रकला के मूल गुण मुगल शिल्पशालाओं एवं अन्य छोटे राजदरबारों में गुजरात एवं भारत के अन्य हिस्सों के पेशेवर घरानों के चित्रकारों की नियुक्ति करके लाये गए थे जिन्हें प्रारंभिक तौर पर लोक शैली में काम करने के लिए प्रशिक्षित किया गया था।

पश्चिमी भारत की चित्रकारी खासकर गुजरात और दक्षिणी राजस्थान में 12वीं सदी से मुख्यतः, जैन सिद्धांतों की ख्याति प्राप्त लघुचित्र शैलियां शुरू हुईं और ये हमारे नजरिये को पर्याप्त तौर पर पुष्ट करती हैं। 15वीं सदी में गुजरात सल्तनत की और 16वीं सदी के अंत में मुगल शासन की स्थापना के बाद पश्चिमी भारत में किए गए कामों में कोणीय गुण, चमकीले और भरावपूर्ण काल्पनिक रंग क्षेत्र एवं पूरी रेखाएं बनीं रहीं। उनको

तो बिल्कुल ही लोककला कहा जा सकता है। गुजरात के चित्रों के विभिन्न समूहों में भागवत पुराण के अंकन 16वीं सदी की शुरूआत और दूसरे लगभग 1625-50 के हैं, दोनों को “लोक” कहा जा सकता है। दोनों में, यद्यपि उन पांडुलिपियों की कुछ आकृतियों में मुगल वस्त्रों का अंकन है परंतु उनको गांव में ही या फिर शहरी केंद्रों में पेशेवर चित्रकारों ने बनाया था तब भी उनकी शैली और आकृति की ऊर्जा मुगलों के संपर्क के बावजूद बहुत ही कम बदल पाई थी। वे बड़ी संख्या के वर्णनों के अंकन में सूक्ष्म रहे होंगे।

यही कारण है कि दोनों चित्रों की शैली और चित्रण में आकृति और स्थान की काल्पनिक संवेदना है। यही तरीका कड़कलपतरू में दिखलाई पड़ता है। इसे 1625 ई. में उत्तर पश्चिम में कहीं बनाया गया होगा। उन सब में रंग और बनावट की अद्वितीय समझ जीवांत है, संभवतया गुजरात के रंग और सजावट के प्रेम के कारण। मध्य भारत केंद्र शैलीगतरूप से वैयक्तिक हैं। रामायण, कृष्णलीला और स्थानीय लोक परंपराएं ग्रामीण स्तर पर भारी प्रेरणा के स्रोत रहे, दोनों प्रश्रयदाता और चित्रकारों के लिए। संयोजन साधारण है, निरूपण परिष्कृत रहित परंतु एकदम सीधे और चमकीले रंग सांकेतिक रूप से काम में लाये गये। मुगल चित्रकारिता में मुगल पहनावे तथा राजदरबारी व्यवहार का स्पष्ट प्रभाव है यद्यपि शासक आत्मिकरूप से हिन्दू थे और लोक स्तर पर चित्र में स्थानीय पहनावों एवं रंगों का चुनाव बचा रहा था।

पहाड़ी या राजपूत दरबारों के चित्र और उनके पंजाबी पहाड़ी अधीनस्थों के चित्र भारतीय चित्रकला के गौरवशाली पक्ष हैं। लोककला से उत्पन्न हुई उनकी जीवांत गुणवत्ता पर सकारण विश्वास किया जा सकता है। लगभग 1600 से बसोली ऊर्जायुक्त शैली और कुल्लू और मंडी के लोक रचना कार्य लगभग 1675

से अन्य पहाड़ी चित्रकला केंद्रों के लिए मानक बनाये।

राजदरबारी चित्रकला से थोड़ी ही प्रभावित हो “बुक ऑफ ओमेंस” के पृष्ठों में अंकित 1800 ई. की शुरूआत के दिनों से उस प्रदेश के लोकचित्रों की सुस्पष्ट आदिम विशेषताएं बची हुई हैं। आकृति की सरलता, रंगों का शांत उपयोग, चित्र विस्तार एवं सहज सृजनशीलता के कल्पनाशील उपयोग, भारतीय लोकचित्रकला के विशेष संयोजनों की तरह देखे जा सकते हैं, सच्ची भावना की अतिसूक्ष्म दुनिया को विनोदशीलता के पुट के साथ प्रकट करते हुए। भारत में चित्रात्मक अभिव्यक्ति के तरीकों में से सबसे प्राचीन और महत्वपूर्ण पारंपरिक तरीका धार्मिक, सदाचरण शिक्षण एवं मनोरंजन के लिए उपयोग में लाया जाता था। गुजरात, राजस्थान, बंगाल, उड़ीसा, महाराष्ट्र और आंध्र प्रदेश में स्थानीय जनश्रुतियों के वर्णन की लंबी परंपरा रही थी, साथ ही साथ, वर्णनात्मक चित्रों की भी परंपरा रही थी।

आंध्र प्रदेश के फड़ चित्र 1625 से जाने गए जो काफी परिष्कृत शैली के हैं और उन्हें मुश्किल से “लोक” कहा जा सकेगा। इसका कारण है कि वे ही कलाकार प्रदेश के हिन्दू रजवाड़ों के द्वारा नियुक्त किए गए थे। प्रत्येक फड़ या कुंडली चित्र एक खास जाति के पूर्वजों के शोषण के प्रचार की कथा का बखान करते और वे चित्र केवल उसी जाति के लोगों को दिखलाये जाते थे। अनेक कथाएं 8 से 10 मीटर लंबी और 1 मीटर चौड़ी होती थी। फड़ चित्रों पर दोनों किनारों पर बांस का दण्डनुमा आधार होता जिस पर इनको लपेटकर रखा जा सके। वे अधिकतर खड़ी होती और आड़े फलकों में बनी होती थी। उनके कुल प्रभाव में एक व्यापक लयात्मकता होती और एक चमकदार रंग की सुदृढ़ गहरी रेखा लाल रंग पृष्ठ भाग की घेराबंदी करती। पहनावा,

आभूषण और अन्य विवरण दक्षिण भारतीय तर्ज पर होते। बंगाल और बिहार के फड़ चित्र अपेक्षाकृत छोटे होते। उनके बनाने के अनेक केंद्र होते थे और उनकी शैली एक जिले से दूसरे जिले में भिन्न होती थी। इसके बाद भी उनमें लयात्मक भाव, ताजगी, सीधापन, रंगों की चमक की परिष्कृत समझ और तार समान रेखाओं का उपयोग होना कायम होता। वे या तो स्थानीय कथा कहते या फिर बंगाल की कृष्ण गौरव की गाथा कहते। दूसरे प्रकार के कुंडली चित्र बंगाल और बिहार के संधालों के लिए बनाये जाते, उनकी गौरव गाथाओं लिए। चक्षुदान करने वाले लोगों की तस्वीरें भी बनाई जाती थीं।

दक्षिणी महाराष्ट्र के सांवतवाड़ी राज्य के पिंगुली गांव के चित्राकथी बाहरी प्रभावों से कम ही प्रभावित थे। यहां के चित्रों की बड़ी श्रेणियों की मुख्य विशेषता थी लड़ाइयों के दृश्य का अंकन और वे अतिमानवीय शक्तियों से ओत-प्रोत होते थे। 19वीं सदी के दौरान बने इन चित्रों की शैली मौलिक है, इनमें नाटकीय गुणवत्ता और सुदृढ़ गहरे और सपाट रंग के क्षेत्रों को एक सामान्य रेखा से बांधा जाता था। एक ढंग से वे चमड़े की कठपुतलियों का अनुसरण करते थे जिन्हें उसी घर के लोग ही बनाते थे। उन चित्रों की विषय वस्तु का चयन और विभिन्न ब्यौरे मराठा दर्शकों की रुचियों को सुयोग्य रूप से प्रदर्शित करते थे। विषयों का चुनाव अधिकतर हिन्दू धार्मिक कथाओं में से किया जाता था।

तीर्थ स्थानों एवं मंदिरों में बहुदा चित्रकारों की दुकानें होती जहां से तीर्थयात्री यादगार स्वरूप चित्रों को खरीदते। कलकत्ता के कालीघाट मंदिर में 19वीं सदी में एक आकर्षक शैली का प्रारंभ हुआ जहां प्रमुख हिन्दू देवी देवताओं के साथ प्रासंगिक घटनाओं को साधारण कागज पर चित्रित किया जाता था। फुरती और अनियत ढंग से बनाने में वे विशेष तौर पर मौलिक और

गहरा प्रभाव, ऊर्जा और स्मरणीयता पैदा करते। पानी के यूरोपीय रंगों का उपयोग करते हुए आकृतियां और अन्य रूपांकन में बलाघात गोलार्धों पर रेखाओं के भीतर आदर्श भाव के कारण होती और उन्हें काली मोटी बाह्य रेखाओं से परिपूर्ण किया जाता था।

पुरी के मंदिर के आस-पास और पड़ोसी गांवों में चित्रकार तीर्थ यात्रियों के लिए चित्र बनाते थे। यद्यपि सबसे ज्यादा सामान्य विषय तीन पंथों की मूर्तियों को कपड़े पर चित्रित करना होता था। कभी-कभी चित्रकार ग्राहकों से काम प्राप्त करने के लिए रेखांकित पुस्तिका भी साथ रखते।

उड़ीसा के लगभग सभी मौलिक चित्र ताड़पत्रों पर बनाये और चित्रित किए जाते, तब भी अनेक वैकल्पिक दशाओं में कागज पर भी चित्रकारी होती थी। जो भी हो कागज के चित्रों में सामग्री की भिन्नता के कारण उनकी शैली बदल जाती।

दक्षिण के विशाल भू-भाग में विभिन्न आश्रयदाताओं और परिणामतः चित्रण की भी विभिन्न शैलियां रही थीं। ऊपर चर्चित कुंडली या फड़ चित्रों से अलग परंपरागत चित्रकारी की महान् मौलिकता, ऊर्जा और विशिष्ट शैली में दक्षिणी राजदरबारों में बनाई जाती थीं। दक्षिण में वानपती हिन्दू राज्यों में से एक ऐसा ही केंद्र था। रागमाला श्रृंखला में से इसी स्थान के तीन पृष्ठ जो बहुत ही मौलिक शैली और रंगों की गैर परंपरागतता के हैं, उपयोग में लाये गए हैं। उनके बारे में ध्यान देने योग्य बात यह है कि वे दक्षिण भारतीय कर्नाटक संगीत की भावभंगिमा को चित्रित करते हैं, अन्य रागमाला श्रृंखला उत्तर भारतीय संगीत पर आधारित है।

## References

- Anandkrishna. 1963. *Malwa*. Banaras: Banaras Hindu University.

- Andhare, S. 1977. *Deogarh Painting*. New Delhi: Lalit Kala Akademi.
- Archer, W.G. 1957. *The Loves of Krishna*. New York: Grove Press.
- Barrett, D. & Gray B. 1963. *Painting of India*. Lausanne: Skira.
- Beach, Milo C. 1974. *Rajput Painting in Bundi and Kota*. Ascona: Artibus Asiae.
- Bernier, Francois. 1972. *Travels in the Mogul Empire*. 3rd. ed. revised by A. Constable. New Delhi: S. Chand.
- Beveridge, H. trans. 1907-39. *Akbarnama by Abul Fazal*. Calcutta: The Asiatic Society.
- Binney, F., 3rd. 1968. *Rajput Miniatures from the Collection of Edwin Binney 3rd.*, with an Introduction by W.G. Archer. Portland: Portland Art Museum.
- Chandra, Moti. 1949. *The Technique of Mughal Painting*. Lucknow: The U.P. Historical Society.
- Chandra, Pramod. 1960. "Ustad Salivahana and the Development of Popular Mughal Art," *Lalit Kala*, vol. 8, pp. 2 5-46.
- Coomaraswamy, A.K. 1916. *Rajput Painting*. 2 vols. Oxford:
- Czuma, 5. 1975. *Indian Art from the George P. Bickford Collection*. Cleveland: Cleveland Museum of Art.
- Das, A.K. 1971. "Bishndas," in Anand Krishna 1971.
- Calcutta: The Asiatic Society.
- Dickinson, E. and K. Khandalavala. 1959. *Kishangarh Painting*. New Delhi: Lalit Kala Akademi.
- Ebeling, K. 1973. *Ragamala Painting*. Basel: Ravi Kumar. LilaKala. Basilius Presse AG.
- Falk, Toby, E. Smart, and R. Skelton. 1978. *Indian Painting*. London: Colnaghi.
- Falk, Toby and Mildred Archer. 1981. *Indian Miniatures in the India Office Library*. London: Sotheby Parke Bernet.
- Gascoigne, Bamber. 1971. *The Great Moghuls*. London: Jonathan Cape.

# चिरांद चेचर की प्राचीन सभ्यता के अवशेष ( प्राचीन-मृणमूर्तियाँ )

संजीव किशोर गौतम



संभवतः मानव ने अपने विकसोन्मेष के काम में यों ही सहज कुतुहलवश कला को जन्म दिया होगा और विषय के चयन के लिए मानव स्वयं तथा उसके परिवेश में चित्र-विचित्र पशु समुदाय एवं वृक्ष, पर्वत आदि उपस्थित थे। क्या प्रागैतिहासिक काल के शैलाश्रय या गुफाचित्र यही कुछ नहीं कहते? क्या इसी आदिम प्रेरणा के वशीभूत कालिदास का दुष्यंत हिमालय के पार्श्व भाग में अवस्थित कण्व आश्रम, पास बहती मालिनी, नदी तट पर क्रीडारत हंस मिथुन, वृक्ष में सुखते बल्कमाचीर एवं उसकी छाया में मृग के सींग में अपनी बांयी आंख खूजाती मृग को अपने चित्र फलक पर उतार लेना नहीं चाह रहा होगा? चित्रकला निःसंदेह आदिम भावना की अभिव्यक्ति की सबसे सशक्त विद्या रही होगी, जिसका बहुलांश सदा के लिए विनष्ट हो चुका है। थोड़ा कुछ वह भी एकांगी, वैभव

विकास के प्रारम्भिक चरणों के मृदभाण्डों में देखा जा सकता है। चित्रकला के पश्चात् आती है मृणमयी कला। मानव ने गीली मिट्टी को सहज ही रूप देकर मृणमयी कला को रूप-दिया होगा। अपनी तकनीकी सीमाओं के कारण आदिम मानव के लिए लकड़ी, पत्थर हड्डी आदि को मनचाहा रूप देना भी तो सरल नहीं रहा होगा। आग में पकाने की विद्या या परम्परा के पूर्व बनी मिट्टी की इन कलाकृतियों को प्रकृति स्वाभावतः संचित नहीं रख सकी। लेकिन जब से मनुष्य के लिए इन्हें पकाकर स्थायित्व देना संभव हुआ, तब से आज तक न्यूनाधिक रूप से मण्मूर्तियों का अविच्छन्न क्रमानुक्रम लभ्य है। जबकि कला की अन्य विद्याओं की प्राचीन कृतियाँ या तो लगभग अलम्य हैं (यथा काष्ठ प्रतिमायें) या दुर्लभ हैं (यथा ताम्र, कांस्य, एवं प्रस्तर प्रतिमायें)। विद्यायें निस्संदेह कालक्रम में परवर्ती हैं। इसलिए सिन्धु सभ्यता की गिनी चुनी प्रस्तर मूर्तियों के बाद एक सुदीर्घ अंतराल आता है। जो कि मौर्य काल में ही टूटता है। लेकिन कमोवेश अनवरत रूप में चलती रही।

सौंदर्य एक आध्यात्मिक शक्ति है, जिसकी सिद्धि मूर्तिकार को कला-साधना के द्वारा प्राप्त होती है। प्राचीन भारतीय कलाकृतियों में शारीरिक सौंदर्य की अपेक्षा आंतरिक सौंदर्य पर अधिक बल दिया गया है, जो हमें धरती से स्वर्ग की ओर अर्थात् भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर ले जाती है। यही शाश्वत के विभिन्न माध्यमों में हुई है।

भारतीय मूर्तिकला के संदर्भ में मण्मूर्तियों का सही पहचान उनका काल विभाजन अभी तक अपने-आप में एक समस्या है। फिर भी कुछ विद्वान के मतों के आधार पर इसे निम्नलिखित भागों में बांटा जा सकता है। सुप्रसिद्ध कला मर्मज्ञ कुमार स्वामी ने भारतीय मृणमूर्तियों के विकासक्रम को चार खंडों में विभाजित किया है -

1. इंडो-सुमेरियन,
2. ई.पू. 3000 ई.पू. 1000,
3. शुंग अथवा आरम्भिक आंध्र तथा
4. शुंग-कुषाण-गुप्त-पाल एवं परवर्ती।

इसमें उन्होंने सिंधु घाटी से प्राप्त जिन मृणमूर्तियों को इंडो-सुमेरियन नाम खंड में रखा है, उन पर सुमेरी प्रभाव स्पष्ट नहीं दिखलायी देती। साथ ही कई कालखंडों एवं विशिष्टताओं वाली मृणमूर्तियों को उन्होंने एक ही नामखंड में समाहित कर दिया है, अतः उनका वर्गीकरण सर्वमान्य न हो सका। श्री एस.के. सरस्वती ने भारतीय मूर्तिकला के सर्वेक्षण क्रम में मृणमूर्तियों को गंभीरता से नहीं लिया। इसी क्रम में श्री

असि. प्रोफेसर, चित्रकला विभाग, दृश्य कला संकाय, काशी हिन्दु विश्वविद्यालय, वाराणसी

सच्चिदानंद सहाय का काल विभाजन किंचित वैज्ञानिक है। श्री सहाय ने भारतीय मृण्मूर्तियों को निम्नलिखित काल खंडों में विभाजित किया है -

1. प्रागैतिहासिक
2. हड़प्पा कालीन
3. प्राड. मौर्य कालीन
4. मौर्यश्रृंगकालीन
5. कुषाण कालीन
6. गुप्त कालीन एवं
7. पाल कालीन।



मातृ देवी-(मृण्मूर्ति, शुंग, कुषाण कालीन)

भारतीय मृण्मूर्तियों का जीवंत इतिहास हड़प्पा काल (2250-1750 ई.पू.) से आरंभ होता है। मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा से प्राप्त मृण्मूर्तियों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि भारत में प्रायः साढ़े चार हजार वर्ष पूर्व ही मृण्मूर्तिकला विकसित हो चुकी थी, जो निःसन्देह हमारे सांस्कृतिक विकासक्रम का प्रतिनिधित्व करती है। इस काल-खंड की मृण्मूर्तियों की कुछ निजी विशिष्टताएं हैं। हाथ से बनी होने पर भी इनमें कई प्रकार के केशविन्यास, सिर के वस्त्र तथा आभूषणों की व्यंजना हुई है। इस युग की अधिकांश आकृतियाँ नग्न होती हुई भी अलंकारयुक्त हैं। ये अलंकार देहयष्टि बनने के बाद लगाये हैं। आंखों की पुतलियाँ भी बाद

में लगायी गयी है। हड़प्पा काल के बाद एवं मौर्यकाल के पूर्व के काल खंड को प्राड. मौर्यकाल की संज्ञा दी जाती है। इन मूर्तियों की संख्या कम है जिसमें पूर्वपेक्षा नाक, कान, आंख अलंकार आदि के गढ़न में अधिक सतर्कता बरती जाने के कारण गति दिखलायी देती है। ये मुख्य रूप से चिरांद (सारण) एवं कटरा (मुजप्फपुर) से मिली है।

हड़प्पा काल के पश्चात् गंगाधर से प्राप्त मौर्यकालीन (4-2वीं सदी ई.पू.) मृण्मूर्तियों के बीच प्रायः डेढ़-दो हजार वर्षों का कालखंड पुरावशेषों के अभाव में अंधकारमय लगता है इस काल में भारत ने राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों के अतिरिक्त कला के क्षेत्र में भी असाधारण प्रगति की थी। बुलन्दीबाग, बक्सर, वैशाली, चेचर, मंगलगढ़, भीटा, कौशंबी, राजघाट, अहिच्छत्रा, तक्षशिला आदि स्थानों से प्राप्त हुई है।

मौर्य के बाद शुंग राजाओं का संक्षिप्त राजकाल (185-73 ई.पू.) विशेष उल्लेखनीय है, क्योंकि शुंग शासक कलाप्रेमी थे। माना जाता है कि इसी समय मूर्तियों का निर्माण साँचे द्वारा शुरू किया गया था जिससे मूर्तियाँ अधिक सजीव एवं सुन्दर बनीं। इस युग की मूर्तियाँ ताम्रलिप्ति, भीटा, पाटलीपुत्र, वैशाली, चेचर, नैलागढ़ आदि जगहों से बड़ी संख्या में मिली है।

बक्सर की नारी मूर्तियों के केशविन्यास तथा चेचर की मूर्तियों के आभूषण के अनेकानेक सुन्दर उदाहरण भारतीय मूर्तिकला के विशिष्ट अध्याय माने जायेंगे। इसी क्रम में कुषाणों की गांधार कलाशैली के प्रवेश एवं प्रभाव ने तत्कालीन मृण्मूर्तियों में अपने अभारतीय प्रभाव के कारण एक विशिष्ट पहचान बना ली। संवेदना की उग्रता, प्रचंड यथार्थवाद, व्यक्तित्व का प्रदर्शन, वेश-भूषा, पारदर्शी वस्त्रों, उनकी सलवटों

का स्पष्ट अंकन, मांसपेशियों तथा अंग-प्रत्यंगों का विश्लेषण आदि कुषाण काल की विशेषता मानी गयी। जिसमें वैशाली, चेचर, कुम्हार, बुलन्दीबाग से प्राप्त मृण्मूर्तियाँ अतिसुन्दर हैं। यह सच है कि कुषाणकाल में भारतीय मूर्तिकला गंधार से प्रभावित थी। लेकिन गुप्तकाल (3-5वीं सदी ई.) में इसने स्वीकार कर ली। इस काल में मूर्तियों की नग्नता लुप्त हो चुकी थी। इस समय कलाकारों को काफी सम्मान प्राप्त हुआ। इसके उत्कृष्ट नमूने पाटलीपुत्र, वैशाली, चेचर, मंगलगढ़, राजघाट हैं। इसमें विभिन्न कला-शैलियों एवं क्षेत्रिय तत्वों का सामंजस्य हुआ है।

अन्यान्य कालखंडों की अपेक्षा गुप्तकालीन मृण्मूर्तियाँ अप्राकृतिक कम तथा मानवीय अधिक हैं। चेचर से गुप्तकालीन अप्सरा, युवा संन्यासी एवं बुद्ध (वरद-मुद्रा) की कई प्रतिकृतियाँ प्राप्त हुई हैं। इस युग में दोहरे सांचे तथा विभिन्न रंगों के रंगे जाने की प्रक्रिया के संकेत प्राप्त होते हैं।

गुप्तकालीन मूर्तिकला की कोख में पाल कालीन मृण्मूर्तिकला जन्मी और विकसित हुई। इस प्रकार पाल कालीन (8-11वीं सदी ई.) मृण्मूर्तिकाल के मूल में गुप्त कालीन विशिष्टताएं निहित हैं। ये मुख्य रूप से पहाड़पुर (बंगाल) अंतीयक (भागलपुर) गया, चेचर, वाजिदपुर (वैशाली) आदि जगहों से प्राप्त हुई हैं।

इस प्रकार मृण्मूर्तिकला के प्राप्त अवशेषों के सर्वेक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में सिंध से लेकर बंगाल तक के सारे प्रांतों में हड़प्पाकाल से लेकर पाल काल तक मृण्मूर्तियाँ बनती रही लेकिन पाल काल के बाद से विकसित इस कला के प्राचीन नमूने प्रायः नहीं मिलते। वैसे यह कला देश के विभिन्न भागों में आज भी जीवित है।

वैशाली जनपद के इस सीमांत भूभाग एवं पुरवशेष बहुल क्षेत्र चेचर, ग्राम संकुल की गंगा के कटावग्रस्त कगारों (किनारों), बाग-बगीचों एवं खेत खलिहानों से मौर्यकाल से पाल काल तक की सुन्दर मृण्मूर्तियाँ बड़ी संख्या में प्राप्त हुई हैं, जो भारतीय पुरातत्व के इतिहास में विशिष्ट मानी जायेगी। इनके अतिरिक्त चिरांद, बेलवा (सारण), कटरा (मुजफ्फपुर), बलिराजगढ़ (मधुबनी) आदि से प्राप्त मृण्मूर्तियों का अध्ययन मूल्यांकन भी वाञ्छनीय प्रतीत होता है।

साँचे से निकालने के बाद मृण्मूर्तियों को हाथों से सजाया-संवारा जाता था। उन्हें मिट्टी के पतले रंग से रंगा भी जाता था, जो पकने पर गहरे लाल या काले रंग की हो जाती थी अधिकांश मृण्मूर्तियाँ लाल रंग की प्राप्त हुई हैं। भूरे एवं काले रंगों वाली मूर्तियों की संख्या कम है। चेचर से ये कुछ मटमैले रंग की भी मिली हैं।

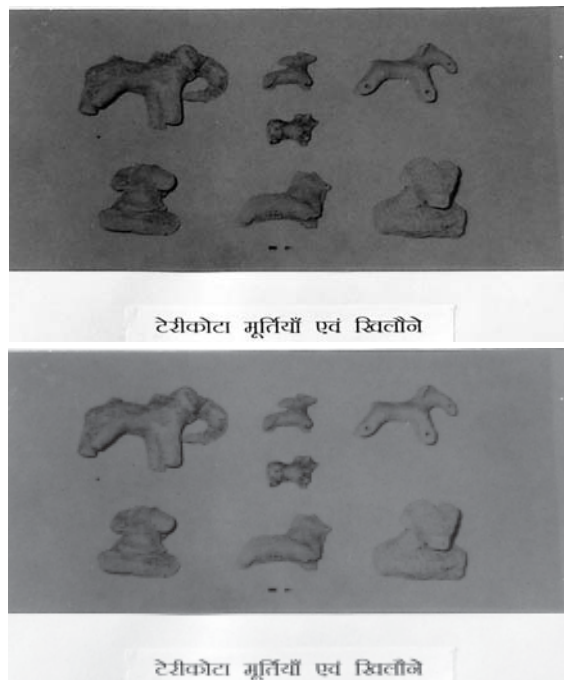
गुप्तकालीन मूर्तियाँ रंग-बिरंगी होती थी जो हाथ और साँचे दोनों से बनायी जाती थी। कुछ के बीच में पोल भी होता था जो गुप्तोत्तर काल की है। कुछ की मुखाकृतियाँ साँचे में एवं अलंकारादि हाथ से बनाये जाते थे फलस्वरूप मूर्तियों के सिर भाग एवं कानों में अलंकारादि जोड़ने के लिए छेद देखे जाते हैं। इन सभी के पर्याप्त उदाहरण चेचर एवं चिरांद से प्राप्त हुए हैं।

चेचर से कुछ मृण्मूर्तियाँ भी मिली हैं। जिनका उपयोग प्रसंगात्मक मूल्यांकन के लिए किया जाता था। घर या मंदिर की सजावट के लिये ये बनायी जाती थीं, जिनमें लटकाने के लिए छेद अथवा तारखों पर रखने के लिए तिरछे आधार बनाये जाते थे। चेचर से ऐसी कई मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनमें राजकीय जूलूस, तीन देवियाँ, बीरबाला, युवादम्पति आदि प्रमुख हैं।

## खिलौने तथा अन्य पुरावस्तुएँ

कला प्राचीन काल से आधुनिक काल तक हमेशा से मनुष्य की सांस्कृतिक सम्पन्नता के साथ-साथ सौन्दर्य पिपासा को भी पूरा करने में सक्षम रही है। साथ ही यह मनुष्य की मनोरंजन का भी महत्वपूर्ण साधन रहा है। जिसके रूप में हम पुरास्थलों से प्राप्त खिलौने आदि से कथन को सिद्ध कर पाते हैं।

भारत के अन्यान्य पुरास्थलों की तरह चेचर ग्राम संकुल से भी विभिन्न युगों में प्रचलित आमोद-प्रमोद की वस्तुओं तथा खेल-खिलौनों के बहुत सारे नमूने प्राप्त हुए हैं। इस सदी में यहां से प्राप्त विभिन्न पशु-पक्षी आकृतियाँ, बजने वाली सीटियाँ, फेंककर खेले जाने वाले पहिये, चौपर खेलने की मृण्यमयी पासे, गोलियाँ आदि उल्लेखनीय हैं।



### 1. खिलौना

चेचर से मुख्यतः हाथी, घोड़ा, सांड, भेड़, बंदर, सुअर, मोर आदि के अतिरिक्त मकर तथा मछली की आकृतियाँ प्राप्त हुई हैं, जो संभवतः खेलने या सजावट के काम में आती होगी। लेकिन खिलौने के रूप में हाथी घोड़े की अपेक्षा कुत्ते एवं भेड़ की आकृतियाँ अधिक हैं। यहां से बंदर की बैठी हुई आकृति भी मिली है जिसके निम्न भाग में छेद होने से अनुमानित है कि यह किसी सजावट के काम आती होगी।

पटना और वैशाली की तरह चेचर से भी बहुत सारी गाड़ियाँ प्राप्त हुईं जिनसे यह सिद्ध होता है। कि मगध एवं वैशाली जनपदों के बच्चों में ऐसे खिलौने गाड़ियाँ काफी लोकप्रिय थीं। ऐसी गाड़ी दो पहियों के बीच छोटी पर भेड़ की बड़ी-बड़ी सींगों वाली फुल-पत्तियों से चित्रित आकृति बैठाकर बनायी जाती थी। भेड़ के गले में रस्सी बांध कर उसे खींचा जाता था। गाड़ी के पहिये प्राचीन रथ या गाड़ी में प्रयुक्त होने वाले पहियों की अनुकृति पर अरदार तथा अलंकृत (शुंगकालीन) बने हैं। भारत वर्ष में मिट्टी के इस प्रकार के पहियेदार पशु आकृति वाले खिलौने बहुत ही प्रचलित रहे हैं। ऐसी खिलौने-गाड़ियाँ उत्तर भारत के पाटलिपुत्र, सोनपुर, कौशाम्बी, राजघाट, वैशाली आदि की तरह चेचर से भी प्राप्त हुई हैं। मोहनजोदड़ों से बैलगाड़ी, वैशाली से बैल, भेड़ तथा हाथी गाड़ियों एवं चेचर से भेड़गाड़ियों की प्राप्ति उल्लेखनीय है। कहीं-कहीं चिड़ियागाड़ियों के बीच धूरी पर बैठा दी गयी है और उसके सिर पर रस्सी डालकर खींचने के लिए छेदा कर

दिया गया है। चेचर की भेड़ गाडियां अपेक्षाकृत अधिक सुन्दर एवं कलात्मक है।

## 2. मृणपट्टियाँ



"शनी" शुंग, कुशान कालीन



प्रशासिका (गुण्यपट्ट)

घरों तथा मठ-मंदिरों को सजाने के लिए प्राप्त मृणपट्टियों में देवभावना, राजकीय जीवन-प्रसंग तथा मानव जीवन के विभिन्न पक्ष अंकित हुई है। ये मृणपट्टियाँ साज-सज्जार्थ अथवा पूजनार्थ व्यवहृत होती थी, पहाड़पुर की ऐसी पट्टियों पर देवी-देवताओं, मनुष्य तथा पशु आकृतियाँ बनी है, तो अहिच्छत्रा एवं बक्सर की पट्टियों पर क्रमशः महाभारत एवं रामायण के दृश्य बने हैं। मथुरा की पट्टियों पर पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, राजकीय अभियान, देवी परिवार आदि की आकृतियाँ ढली है।

इस प्रकार इन मृणपट्टियों में प्रायः पौराणिक, ऐतिहासिक तथा समकालीन कथा प्रसंगों या घटनाओं को रूपांकित किया गया है। इनकी बनावट से ऐसा लगता है कि ये ताख या निश्चित जगह पर रख कर पूजी जाती होगी अथवा उन्हें दीवारों में सज्जार्थ टांग कर शीर्षभाग में लटकाया जाता होगा, क्योंकि कुछ पट्टियों के शीर्षभाग में लटकाये जाने के लिए छेद बने हैं। चेचर से ऐसी कई मृणपट्टियों प्राप्त हुई है, जिसमें राजकीय जुलूस देव-परिवार, युवादम्पति हस्ति क्रीडा आदि के प्रसंग अंकित है।

## 3. मिट्टी की मुहरें



घसा, सित एवं टेम्पेटा ईट (शुंग, कुशान कालीन)

मोहनजोदड़ो हड़प्पा, तक्षशिला, वैशाली, पाटलीपुत्र, मंगलगढ़, चिरांद एवं नालंदा की तरह चेचर से भी कई प्रकार की मिट्टी की मुहरें प्राप्त हुई है। ये गोल अंडाकार या चौकोर बनी है। जिनमें ब्रम्ही गुप्तकुटिल, प्राचीन नगरी एवं चीनी लिपियों में शिवदासस (शिवनासस्य) सागरमेतस (सागर-मृतस्य), केओनिकस (कनिष्कस्य), वधकस (वयकस्य), पविसनिकस, तारवलः धर्मपालितस्य, दंतक, बलक, गुरुमित्र आदि अंकित है। इन मुहरों में लेख के साथ अंकित स्वास्तिक, नंदीपद, शंख, मोर, नाग, हंस, लता-पुष्प आदि चिन्हों का अपना प्रतीकात्मक महत्व है। इन मुहरों को ई. सन् की पहली से दसवीं सदी तक निर्धारित किया गया है। इनका प्रयोग सक्षम पदाधिकारी, मठ-मंदिर तथा व्यापारिक संस्थान द्वारा किया जाता था। चेचर से प्राप्त चीनी लिपि में प्रतीक अंकित 'स्वर्गसेतु' का सम्बन्ध धार्मिक, 'वयकस' का सम्बन्ध व्यापारिक तथा शेष का सम्बन्ध प्रशासनिक लगता है।

## 4. मनके एवं हार



मनके, जेवर (टेम्पेटा-४०) वी.सी.)

मिट्टी के कई घाटीदार डिजाइन वाले गोला आकार के मनके चेचर से पाये गये हैं जिनमें कुछ चमकदार काले एवं कुछ लाल रंग के हैं इनके बीचो-बीच छिद्र किया हुआ है जिसे धागों में गुंथ कर सम्भवतः गले में पहना जाया जाता होगा, इसी तरह काले रंग में प्राप्त पकी मिट्टी की सुन्दर

मछलियां हार में गुंथी जाने के लिए बनायी गयी लगती है। मछली का माला अपने आप में एक विलक्षण उपलब्धि मानी जायेगी, जबकि मिट्टी के मनको का चलन सामान्य था।

### 5. धातु की मुहरे एवं सिक्के



चेचर से प्राप्त सिक्के एवं मुहरे गंगा के किनारे हर साल बाढ़ के बाद पानी कम होते समय जमीन पर पड़ी मिला करती थी जिन्हें बच्चे खेल-खेल में उठा लिया करते थे इन सिक्कों की कुछ संख्या चेचर के पुरातात्विक प्रेमी श्री रामपुकार सिंह जी के यहां सुरक्षित है। जिन्हें देखने से पता चलता है कि ये मुहरे एवं सिक्के कई काल खंडों में विभाजित है। जिनके उपर कई भाषाओं में कुछ लिखा हुआ है तो कई में कुछ उभरी सी आकृतियां बनी है। ये सिक्के तथा मुहरें कई आकार को धारण किये हुए है।

### 6. दबावयंत्र (एक्युप्रेसर)

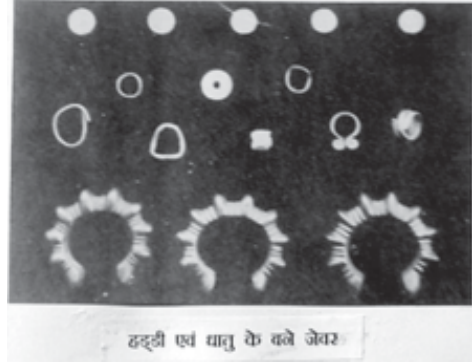


सम्भवतः मौर्यकालीन इस मिट्टी की पकी वस्तु को कुछ विद्वान दबाव यंत्र (एक्युप्रेसर) बताते है इस यंत्र के बारे में कुछ लोग ऐसा भी मानते है कि यह मैल छुड़ाने का काम आने वाली वस्तु है, पर सही मायने में ये आधुनिक एक्युप्रेसर यंत्र के सामान बेलनाकार धारी-दार छोटे-छोटे दांतों का बना हुआ यंत्र है।

### 7. मिट्टी के फोम

अत्यन्त ही हलकी एवं देखने में सॉफ्ट परन्तु धुने से करी यह वस्तु भी पकी हुई मिट्टी की बनी है जिसका आकार चौकोर एवं तिकोन पट्टी के समान है जिसमें अत्यन्त बारीक-बारीक छिद्र है। संभवतः यह शरीर साफ करने के लिए बनाये गये होंगे।

### धातु की वस्तुएं



चिरांद में मुख्य रूप से चार प्रकार की धातु पाये गये है जैसे-सोना, चांदी, तांबा एवं लौह। इसके अलावा चांदी के सिक्के, लोहे का बना हुआ हथियार, घर के लिए वस्तुएं तथा कुर्सी के व्यवहार करने वाला धातु के रूप में मिला है।

प्रागैतिहासिक द्वितीय शताब्दी में छोटा ताम्र के खंड पाये गये है, जोकि नव पाषाण युग के समान मिलता-जुलता है। सफलतापूर्वक छड़, छल्ला (छुरी), तीर के अग्रभाग, बंसी, (मछली मारने का औजार) एवं छोटा पात्र इत्यादि। किन्तु यहां से कुछ सिक्के ताम्र से भी बनाये हुए पाये गये है। द्वितीय शताब्दी में लोहे का प्रयोग मुख्य रूप से हथियार बनाने के लिए किया गया था, ये धातु पूर्ण रूप से सभ्यता को बदल कर समकालीन सभ्यता में लाकर खड़ा करती है। लोहे की विभिन्न आकृति की औजार खुदाई के समय पाये गये है, इन औजारों में कुछ चित्र रूप में भी कार्य किया हुआ देखा जाता है।

इसके अलावा छुरी, ब्लेड, बर्छी के हथियार एवं दरवाजे की कुंडी एवं छल्ला चूड़ी आदि पाये गये है।

### सहायक पुस्तकों की सूची एवं साक्षात्कार

पुस्तकों की सूची :-

1. डॉ. विन्ध्येश्वरी प्रसाद सिंह - भारतीय कला को बिहार की देन
2. प्रफुल्ल कुमार सिंह 'मौन' - चेचर की प्राचीन मूर्तियाँ
3. B.P. Sinha - Archacology in Bihar
4. H.P. Sinha - Archacology of Norht Bihar

# मध्यकालीन भारत में चित्रकला

डॉ. मधु रानी

गत चालीस वर्ष से अधिक “भारतीय लघुचित्र” भारत और पश्चिम में कला विद्वानों, संग्राहकों, कलाकारों और अन्य लोगों में निरंतर ख्याति पा रहे हैं। उनकी बारीक कारीगरी, भावपूर्ण और दोलायमान रंगों की संयोजना, विभिन्न शैलियाँ एवं विषय प्रसिद्ध हैं। ये गुण रंग की परत के नीचे के आकर्षण को मंद कर देते हैं। भारतीय “लघुचित्र” से उनके ही कलाकारों के अन्य अंकनों को निस्तेजित को होते देखा जाता है और “लघुचित्रों” की यह एक विशेषता है। सच यह है कि भारतीय लघुचित्र के कद्रदानों की पहुंच अच्छी रचनाओं तक रही जो अब कुछ सनक सी बन गई हैं। 1950 के दशक के दौरान, महलों के भंडारगृह और देश के अंग्रेज घरों से लघुचित्रों से बाजार पट गया परंतु उनमें कोई चित्रकारिता नहीं थी क्योंकि वे सब शिल्पशाला के हिस्से थे और उनका संबंध किसी कला पारखी या आश्रयकर्ता से नहीं था।

सौभाग्य से 1950 के आखिर में दो कुशाग्र कला व्यापारी-रामगोपाल विजयवर्गीय, जयपुर के और दिल्ली के पी.आर. कपूर ने कलाकार घरानों से हजारों कलाकृतियाँ प्राप्त कीं जिनमें कुछेक तो बेहद खूबसूरत थीं। विजयवर्गीय ने राजस्थान, गुलेर, कांगड़ा और बसोली से कलाकृतियाँ खरीदीं थीं। 1949-57 के बीच चंबा, हिमाचल प्रदेश के मुख्य कलाकार घरानों के लोगों से लगभग समूचे जखीरे को प्राप्त करने में किसी भी चित्र के लिए आकृति खींचना आवश्यक है। आकृति या रेखांकन चित्रकार से करीबी रिश्ता कायम करता है और कलाकार के मस्तिष्क की कल्पनाओं के साथ भागीदारी होने लगती है। ऊर्जा, अभिव्यक्ति और निर्णय जो हम रेखांकन में देखते हैं, वह बहुदा उसी चित्रकार के उसी विषय के अन्य चित्र में नहीं देख पाते। भारतीय चित्रकारिता पश्चिम के चित्रकारों की रचनाओं से इस मायने में भिन्न होती है कि भावों को चेहरे के माध्यम के बजाय भारतीय चित्रकार मुद्रा और भंगिमा के माध्यम से प्रकट करते हैं।

सीस पेंसिल अथवा चित्रांकनी का रेखांकन में उपयोग भारतीय चित्रकारों को ज्ञात नहीं था। निब का उपयोग मुश्किल से होता था परंतु लोक स्तर पर बांस की कलम का उपयोग कभी-कभी किया जाता था। अपने चीनी और जापानी प्रतिपक्षों

के समान भारतीय कलाकारों ने सीखने की शुरुआत से ही तूलिका के उपयोग में दक्षता प्राप्त कर ली थी। गिलहरी की पंछ के बाल से तूलिका बनाई जाती थी। भारतीय कलाकार प्रायः कोयले का उपयोग करते थे और कभी-कभी किरमिच या लाल गेरू का भी उपयोग मूल कल्पना के रेखांकन में किया जाता था। ऐसे रेखांकन बाद में विकसित किए जाते या तो उसी पर पुनः रेखांकन द्वारा या फिर सफ़ैदी की पतली परत के लेपन से और उसके बाद आकृति का अंतिम अंकन तूलिका के द्वारा काली स्याही से किया जाता। हाथ से बने कागज के एक ताव अथवा अनेक तावों को एक साथ चिपकाकर, फिर उस पर सफ़ैदी की एक परत तथा गोमेद को घोटकर चमकाया जाता और तब आकृति अंकन को किया जाता और कभी-कभी तो कागज के दोनों ओर भी अंकन किया जाता।

बहुत ही कम कलाकार सीधे रेखांकन का उपयोग करते क्योंकि उनका प्रशिक्षण स्मृति अंकन द्वारा रेखांकन या चित्रण का होता था फिर चाहे वह मानव, पशु, पक्षी, वृक्ष, प्रतीक चिन्ह या अन्य तत्व हो। सभी की आकृति को स्मृति से ही उतारना होता था। कलाकार जीव अथवा अजीव का अवलोकन कर उनके मूलभूत गुण, विशेषताएं और मनोभाव या मनोदशा स्मृति में रख लेता और जब आवश्यकता होती, अपनी स्मृति के भंडार से निकालकर अंकन कर लेता था। इस प्रकार चित्र की एक ही विषय वस्तु में उतार चढ़ाव या अलगाव हो जाता था और यह इस बात पर आधारित होता था कि कलाकार किस क्षेत्र किस काल में और किस शिल्पशाला से प्रशिक्षण के दौरान क्या और कितना सीखा था। वह हिन्दू, मुस्लिम, अथवा ब्रिटिश आश्रयदाताओं के लिए कार्य करता और अपने तीक्ष्ण अवलोकन एवं संवेदना की पारिवारिक धरोहर को बनाये रखने के लिए प्रयासरत रहता था। अधिकांश देशों की तरह, कलाकार आमतौर पर उच्च वर्ग से नहीं हुआ करते थे। भारत में राजमिस्त्री और अन्य कारीगरों के काम के समान ही चित्रकारों के सृजन भी लगभग नाम रहित हैं।

सभी समय और पद्धति के चित्रकार सबसे पहले रेखांकन करते और तब उसे एक चित्र का स्वरूप देने के लिए उनमें रंग भरते। जो भी हो, मुगल, दक्षिणी राजस्थान और पंजाब की पहाड़ी पद्धतियों के चित्रकार 16वीं और 19वीं सदी में चित्रण के उद्देश्य के ही खास प्रेमी होते थे। शासकों, मुखियों और सामान्यजनों के लिए हाथी, घोड़े, शेर और अन्य पशुओं और पक्षियों के चित्र, जुलूस, लड़ाई एवं राजदरबार के दृश्यों का अंकन, पौराणिक, रोमानी और साहित्यिक विवरण, रागमाला

एसोसिएट प्रोफेसर, फाइन आर्ट सेक्शन, महिला कॉलेज, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

पर आधारित संजोजनाएं, बारामाशा और कामोत्जिक दृश्य अंकित किए जाते और उनका उपयोग व्यक्तिगत चित्रकला प्रेम ही था। चित्रों की श्रृंखला बनवाने वालों के लिए भी कार्य किया जाता था। वे सजावटी सामान के लिए आकृतियां गढ़ते। अपने कार्य की प्रौढ़ता के लिए लगातार रेखांकन का अभ्यास करते खासकर लोगों, पशुओं और वस्तुओं के अध्ययन एवं अवलोकन के लिए। लगभग दैवभक्ति के समान ही परिश्रम करते रहते क्योंकि वे गहरे तक जीवन एवं प्रकृति की सभी अभिव्यक्तियों से प्रेम करते थे। कुछ चित्र, मात्र चित्रकार के निजी सुख के लिए भी बनाये जाते थे। मुगल चित्रकार खास घटनाओं एवं खास व्यक्तियों के चित्र के लिए नियुक्त किए गए थे। वे लगातार नई-नई संयोजनाएं खोजते और तात्कालिक अवलोकनों को भविष्य में काम आने के लिए अंकन कर लेते थे। जो उन्होंने देखा उसे बारीकी से अंकित करने के लिए साधनों के विकास में भी वे प्रयत्नशील रहा करते थे। दक्षिण में इसके विपरीत, चित्रकार रंग एवं रेखाओं की सुंदरता को व्यक्त करने के लिए सचेष्ट प्रयासरत रहा करते थे। मुगल और दक्षिण पद्धतियों के कलाकारों के चित्र और रचनाएं उनके प्रभाव में बीकानेर और जयपुर के कलाकारों ने बनाई जो अद्भुत बारीक जानकारियां, अत्यंत कुशलता और उच्च तकनीक प्रकट करते थे।

राजस्थान पद्धति के चित्रकारों की विशेषताएं उनकी बारीकियां, सुस्पष्टता और मितव्ययता हैं। रेखा के द्वारा और कभी-कभी केवल रंग से चित्रकार भाव की अत्यंत सूक्ष्मताएं प्रकट करते हैं। खासकर कोटा और बुंदी कलाकार 17वीं सदी के बाद से अपने अन्य राजस्थानी सहयोगियों के मुकाबले अधिक उन्मुक्त रेखांकन करने लगे थे। वे अधिकांश में अवलोकित आकृतियों के अंकन में ज्यादा उन्मुक्त, ज्यादा सूक्ष्म और ज्यादा आनंददाई हैं। कोटा-बंदी चित्रकार सुस्पष्ट और

गहरे तूलिका स्पर्श का उपयोग करते हैं। कभी-कभी एक सुनियोजित रेखांकन करने के बजाय वे सहज स्वच्छंद रेखांकन करते और यहां तक कि कागज के एक छोटे टुकड़े पर बेतरतीबी से खींची गई रेखाएं उनकी कल्पनाशीलता को आकार एवं लय की विभिन्नताओं के आनंद को प्रकट करतीं। 17वीं सदी के बाद से इन कलाकारों ने बड़े फलक पर काम करना शुरू किया क्योंकि उनको राजप्रसादों और मंदिरों में भितीचित्रों को अंकन करने के लिए नियुक्त किया जाने लगा था। कोटा चित्रकारों ने जीवन के सभी पक्षों के उन्मुक्त, चुटीले एवं साहसी रेखांकन किए। वे अपने संरक्षकों के साथ शिकार पर भी जाते और उनके द्वारा शिकार स्थल पर ही बनाये गए चित्र उपलब्ध हैं। संभवतः आखेट या शेर या हाथी की भिड़ंत के दृश्य जिनमें प्रश्रयदाता की अपेक्षा पशु एवं जंगल के परिदृश्य ज्यादा महत्वपूर्ण हो उठते थे के महान चित्र इन भ्रमणों के ही परिणाम से उत्पन्न हुए थे। भगत और चोखा 18वीं सदी के उत्तरार्ध और 19वीं सदी की शुरुआत में क्रियाशील रहे थे। ये दो विभिन्न शैलियों के चित्रकार थे। मेवाड़ के शालीन देवगढ़ ठिकाने की तुलना में बेहद संवेदनशील रूप से इनके तरल चित्र मिलते हैं।

पहाड़ी चित्रकारिता जो 17वीं और 19वीं सदी में की जाती रही चित्रकारिता की अपेक्षा सौम्य, परिष्कृत, बारीकीमय एवं गीतात्मक हैं। गुलेर और चांबा घरानों की रचनाएं मुख्यतया 18वीं सदी की हैं। ये रचनाएं उल्लेखनीय हैं और पहाड़ी चित्रमाला की सर्वोत्तम हैं। यद्यपि इन दोनों घरानों की शैलियां बाद की मुगल चित्रकला से निकली हुई हैं परंतु इन शैलियों के मनोभाव अलहदा ही हैं और वे सुसंस्कृत, समयोचित और गीतात्मक हैं। गुलेर और उससे निकले कांगड़ा के रचनाधर्म का झुकाव मृदुल आदर्शवाद की ओर है। पहाड़ी चित्रकला के उदाहरण भी हैं जिनमें कलाकार की आकांक्षा

अपने प्रदेश के लोगों, साधु संतों, और संगीतज्ञों के जमघटों को चित्रित करने की होती थी। ये उदाहरण यद्यपि कम ही हैं परंतु अभिन्न रूप से तीक्ष्ण परंतु संवेदनामय अवलोकन से हैं।

## References

- Goswamy, B.N. 1972. "Of Patronage and Pahari Painting" in P. Pal 1972, pp. 130-138.
- Hutchins, F.G. 1980. *Young Krishna*. West Franklin: Amartya Press.
- Ikram, S.M. 1964. *Muslim Civilization in India*. New York: Columbia University Press.
- Johnson, B.B. 1972. "A Preliminary Study of the Technique of Indian Miniature Painting" in P. Pal 1972, pp. 139-146.
- Khandalawala, K. 1958. *Pahari Miniature Painting*. Bombay: The New Book Company.
- Khandalawala, K. and Moti Chandra. 1965. *Miniatures and Sculptures from the Collection of the late Sir Cowasji Jehangir, Bart.* Bombay: Prince of Wales Museum.
- Kramrisch, S. 1981. *Manifestations of Shiva*. Philadelphia: Philadelphia Museum of Art.
- Pal, Pratapaditya. 1967. *Ragamala Paintings in the Museum of Fine Arts*. Boston: Museum of Fine Arts.
- Randhawa, M.S. 1959. *Basohli Painting*. New Delhi: Randhawa, M.S. and Galbraith, J.K. 1968. *Indian Painting*.
- Rogers, A. trans. and Beveridge, H. ed. 2nd ed. 1968. *The Tuzuki-Jahangiri; or Memoirs of Jahangir*. Delhi: Munshiram Manoharlal.
- Skelton, R. 1958. "Documents for the Study of Paintings at Bijapur in the late 16th and early 17th centuries," *Ars Asiaticque*, vol. V, pp. 97-125.
- Topsfield, A. 1980. *Paintings from Rajasthan in the National Gallery of Victoria*. Melbourne: National Gallery of Victoria.
- Waldschmidt, Ernst and Rose Leonore. 1967, 1975. *Miniatures of Musical Inspiration*. 2 vols. Berlin: Staatliche Museum Berlin.
- Welch, S.C. 1963. *The Art of Mughal India*. New York: The Asia Society.

# मानव के अस्तित्व एवं महात्मा गाँधी के ईश्वरीय विचार

डॉ० ब्रजेश्वर प्रसाद सिंह

महात्मा गाँधी मानव धार्मिक अनुभूति के एक ऐसे पैगम्बर थे जिन्होंने ईश्वर और आत्मा में अंतर नहीं किया बल्कि दोनों को एक-दूसरे के पूरक मानते थे। महात्मा गाँधी का व्यक्तित्व धार्मिक परिवेश में विकसित हुआ, किन्तु धर्म से तात्पर्य उन्होंने बाह्य आडम्बर, रीति-रिवाजों से नहीं समझा। इसलिए उनके धर्म को नैतिक धर्म कहा गया। महात्मा गाँधी का जीवन बचपन से ही अध्यात्मिकता से ओत-प्रोत है। महात्मा गाँधी यह मानते हैं कि सभी धर्म मानव के विकास के लिए प्रयत्नशील हैं। गाँधीजी को ईश्वर के प्रति आस्था उनकी वैष्णव परिवार की सांस्कृतिक विरासत में मिली थी। बाल्यावस्था में ही उन्हें राम नाम की शिक्षा मिली थी। जीवन के अंतिम सोपान में भी गाँधीजी अपनी दैनिक प्रार्थना सभाओं में “रघुपति राघव राजा राम—ईश्वर अल्लाह तेरे नाम” का प्रिय भजन गाते थे। और जिस क्षण उन्हें गोली लगी थी, उनके मुँह से निःसृत होने वाला आखिरी शब्द है—“हे राम”।

नरसिंह मेहता रचित ‘वैष्णव जन तो तेरे कहिये’ उनका सर्वप्रिय भजन था। गाँधीजी का कहना था, “मैं यह दृढ़तापूर्वक कह सकता हूँ कि बिना जल और बिना वायु के जीवित रह सकता हूँ परन्तु ईश्वर के बिना नहीं। तुम मेरी आँखें निकाल सकते हो, मैं नहीं मरूँगा परन्तु ईश्वर से मेरा विश्वास हटा दो तो मैं जीवित नहीं रहूँगा।” वे ईश्वर को ऐसी वर्णनातीत वस्तु मानते थे जिसे हम केवल महसूस कर सकते हैं, जान नहीं सकते। गाँधीजी के लिए “ईश्वर सत्य एवं प्रेम हैं।” गाँधीजी भाग्यवादिता के विरोधी थे और मनुष्य को अपने भाग्य का स्वयं नियन्ता मानते थे, किन्तु मानव युक्ति एवं पूर्णत्व के लिए ईश्वर की शरणागति वे अनिवार्य समझते हैं। “पूर्णता या मोक्ष केवल ईश्वर की कृपा से ही संभव है। उनकी कृपा के समक्ष अपने सम्पूर्ण रूप से समर्पित किये बिना संयम एवं नियम भी संभव नहीं है।”

गाँधीजी ने दार्शनिक शब्दावली का प्रयोग किसी गूढ़ अर्थ में नहीं किया है। वे शंकराचार्य की तरह अद्वैतवादी नहीं थे। और न ही उन्हें तत्त्व मीमांसा का द्वैतवाद और न तो स्यादवाद का तर्कशास्त्र ही स्वीकार्य था। शंकर की तरह वे भी संसार को मिथ्या अवश्य कहते थे। “इस परिवर्तनशील संसार में

आनन्द या सच्चा सुख सचमुच एक सपना है। किन्तु हम अपने भाई-बन्धुओं के दुःख को मिथ्या कहकर नैतिक दायित्व से मुक्त नहीं हो सकते। स्वप्न की स्थिति में स्वप्न भी सत्य होता है। और दुःखी व्यक्ति का दुःख भी एक कठोर सत्य है।” उन्होंने कभी-कभी सगुण और साकार ईश्वर का खंडन किया है। ईश्वर सगुण और सरकार नहीं है। मनुष्य रूप में पृथ्वी पर ईश्वर के समय-समय पर अवतार का अर्थ केवल यही हो सकता है कि ऐसा अवतारी पुरुष ईश्वर के समीप रहता है। ईश्वर की सर्वव्यापक सत्ता में गाँधीजी का पूर्ण विश्वास था। ईश्वर सम्बन्धी अपनी धारणा का उद्गार करते हुए उन्होंने लिखा कि मैं ईश्वर को सृजनशील मानता हूँ और नहीं भी मानता। जैन दृष्टि से विचार करने पर मैं ईश्वर की सृजनशीलता का प्रश्न ही नहीं उठाने दूँगा। किन्तु रामानुज के दृष्टिकोण से उसे मैं स्वीकार करता हूँ। असफल बात तो यह है कि हम अज्ञात और अज्ञेय ब्रह्म को जानना चाहते हैं और इसलिए हमारी बाजी असमर्थ हो जाती है और उत्तर आत्मविरोधी पूर्ण जैसी लगती है। इसलिए वेदों में ब्रह्म को नेति-नेति कहा गया। वह एक है फिर भी अनेक है, वह अणु से भी सूक्ष्म है, किन्तु आकाश से भी महान है।<sup>2</sup>

भगवान के विराट् स्वरूप की कल्पना गाँधी जी को अभिभूत कर देती थी। “ईश्वर वह अवर्णनीय सत्ता है, जिसका हम सभी अनुभव तो करते हैं किन्तु उसको जान नहीं सकते ..... मेरे लिए तो ईश्वर सत्य और प्रेम, नीति धर्म और अनिर्वचनीय है। ईश्वर प्रकाश और सम्पूर्ण चर-अचर प्राणियों का आधार है और फिर भी वह सबके परे है। ईश्वर अन्तरात्मा भी है। वह निरीश्वरवादियों के लिए उसका निरीश्वरवादी है। वह वाणी और तर्क से परे है। वह उसके लिए सगुण और साकार है। जो उसका साक्षात् संस्पर्श चाहते हैं किन्तु वह निःविशेष एवं शुद्ध सार तत्त्व भी है। वह धीर भी है, किन्तु चंचल और गतिमान भी है। संसार में वह सर्वाधिक उदार एवं जनतांत्रिक विचार का भी है क्योंकि शुभ और अशुभ के बीच हमें वह अपना पथ चुन लेने में स्वतंत्र रखता है। किन्तु वह सबसे बड़ा निरंकुश और स्वेच्छाचारी भी है। क्योंकि कभी वह हमारे सम्पूर्ण पुरुषार्थ पर पानी फेर देता है और स्वतन्त्रेच्छा से आनन्द के लिए लीला करता है। और हम त्राहि-त्राहि करते हैं। इसलिए हिन्दू धर्म में इस सृष्टि को ईश्वर की माया या लीला कहा गया है।”<sup>3</sup> अपनी पारिवारिक परम्परा और अपनी चित्त प्रकृति के कारण गाँधी का हृदय ईश्वर के ऐश्वर्य एवं उनके सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् रूप में अत्यन्त अभिभूत था। उन्होंने सर्वशक्तिमान तथा दयावान ईश्वर में विश्वास के साथ अशुभ की कल्पना का सामंजस्य कर परम्परा का पालन किया। उनका मानना है कि ईश्वर एक सच्चे एवं कठोर शिक्षक की भाँति सम्पूर्ण कोमलताओं

विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, रामकृष्ण द्वारिका महाविद्यालय, कंकड़बाग, पटना-20 एवं मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

का त्याग कर हमें अपने कर्म का फल या दण्ड भोगने को इसलिए बाध्य करता है कि हम स्वयं परिष्कार कर सकें। गाँधी को ईश्वर के प्रति अटूट विश्वास था और वे कभी यह विश्वास नहीं कर सकते थे कि जो जगत में अशुभ है वे ईश्वर की किसी दुष्ट प्रेरणा के प्रतिफल हैं। ईश्वर सत्य है और सत्य ईश्वर है—यह गाँधीजी का आत्मपरक शोध है। उन्होंने लिखा है—“जो ईश्वर को प्रेम के रूप में मानते हैं; उनके साथ मैं भी ईश्वर को प्रेम मानूँगा। किन्तु मेरे अन्तःस्तल में यह बात बैठ गयी है कि ईश्वर चाहे जो कुछ भी हो, ईश्वर सत्य है।” किन्तु दो वर्षों बाद, एक कदम और भी आगे चलकर मैंने कहा कि “सत्य ही ईश्वर है” सत्य प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन प्रेम ही है। किन्तु मैंने यह भी पाया कि अंग्रेजी भाषा में प्रेम के अनेक अर्थ हैं। वासना के अर्थ में पार्थिव प्रेम हमारे पतन का भी पोषक है। अहिंसा के अर्थ में प्रेम को मानने वाले बहुत ही कम लोग होते हैं। किन्तु सत्य हमेशा एक ही अर्थ में प्रयुक्त होता है। यहाँ तक कि निरीश्वरवादियों को भी सत्य की शक्ति में विश्वास है। सत्यान्वेषण के भावावेश में निरीश्वरवादियों ने सत्य के लिए ईश्वर के अस्तित्व को भी अस्वीकार कर दिया था। यही कारण था कि मैंने “ईश्वर सत्य है” की अपेक्षा “सत्य ही ईश्वर है” कहना अधिक उचित समझा।<sup>1</sup>

ईश्वर के अस्तित्व की प्रामाणिकता के सन्दर्भ में गाँधीजी का कहना था कि “यदि हमारा अस्तित्व है और हमारे पिता का और उनके पिता, पितामह आदि का अस्तित्व है तो फिर हमें सम्पूर्ण जगत्पिता के अस्तित्व को भी स्वीकार करना होगा।” आगे उन्होंने लिखा है, कि एक अवर्णनीय रहस्यमय शक्ति सब जगह व्याप्त है। मैं उनको देखता नहीं हूँ किन्तु उनका अनुभव करता हूँ। “वह अदृष्ट शक्ति है, जिसकी सत्ता का हम सभी अनुभव करते हैं, फिर भी वह सभी प्रमाणों से परे है क्योंकि यह उन सबों से भिन्न है जिनका हम इन्द्रियों से प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

वह इन्द्रियातीत है।” ईश्वर के संदर्भ में गाँधीजी ने वैज्ञानिक पद्धति पर व्यावहारिक प्रमाण देते हुए कहा है—“जो केवल बुद्धि से तुष्ट करे वह ईश्वर नहीं है। ईश्वर तो हृदय का सम्राट् है और उसको यह प्रमाणित करता है। सृष्टि की हर महानता में हमें उनके दर्शन होते हैं।” जो व्यक्ति ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण चाहेगा तो वह ईश्वर के प्रति विश्वास में मिलेगा। चूँकि विश्वास का कोई बाहरी प्रमाण नहीं हो सकता है। अतः सबसे सुन्दर बात तो यही है कि इस विश्व की नैतिक व्यवस्था में विश्वास रखते हुए सत्य और प्रेम आदि नैतिक नियमों की श्रेष्ठता को स्वीकार करें।<sup>2</sup>

गाँधीजी कहते थे, “सत्य ही ईश्वर है” ऐसा उन्होंने इसलिए कहा कि सत्य वही है जिसकी सत्ता होती है। ईश्वर की तीन सत्ता तीनों काल में व्याप्त हैं, अतः वह सत्य है। गाँधीजी ने अपना पूरा जीवन सत्य-शोध में उत्सर्ग कर दिया। उन्होंने अपनी आत्म-कथा का नाम भी स्यात् इसलिए रखा “My experiments with truth”. सामान्यतः सत्य से तात्पर्य लिया जाता है—सत् बोलना किन्तु गाँधीजी ने इसका व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है और कहा है कि विचार, वाणी और आचार में सत्य होना आवश्यक है। गाँधीजी निरपेक्ष सत्य को जीवन का परम लक्ष्य मानते हैं।

गाँधीजी का सत्य व्यक्ति तक ही सीमित नहीं है, अपितु उनका परिवेश सम्पूर्ण समाज है, गाँधीजी की इच्छा थी कि सम्पूर्ण सत्य का अनुपालन धर्म, राजनीति, अर्थनीति, परिवार नीति सब में होनी चाहिए। उनके विचार में सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् में भेद नहीं है। ईश्वर को वे इन तीनों को त्रयी मानते हैं। अर्थात् गाँधीजी ने कला के लिए कला सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। वे ऐसी परिपूर्ण कला की बात करते थे—उस सच्ची कला से—जिससे सुख, संतोष और कलाकार के जीवन की सात्विकता प्रकट होती है। गाँधीजी ने अपने व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन में इन सत्य के साथ निरन्तर प्रयोग किया है। “यंग इंडिया” 1926 में उन्होंने

लिखा था, “स्वभाव से ही सत्य स्वयं प्रकाश है। जैसे अविद्या रूपी आवरण छट जायेगा, वैसे ही सत्यरूपी सूर्य पुनः प्रकाशित हो जायेगा।” सत्यान्वेषण के लिए आत्मशुद्धि आवश्यक है। गाँधीजी प्राचीन हिन्दू नीति शासन के आधार पर कहते थे कि व्यक्ति जबतक काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, माया— इन षड्रिपुओं के प्रभाव में रहेगा, वह सत्य का दर्शन नहीं कर सकता। जो स्वयं नैतिक रूप से शक्तिमान हो, वही सत्य को जान सकता है।

गाँधीजी सत्य के सनातन व्याख्या से सहमत थे। उनके अनुसार वही बोलना चाहिए जो शुभ और सुन्दर हो। गाँधीजी की आत्मा मूल-साध्य और साधन की एकता और पवित्रता है। किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए दोनों के बीच अन्योन्याश्रित संबंध की महत्ता को वे स्वीकार करते थे। वे मंजिल और प्रयत्न को अलग नहीं मानते थे। यह भावना किसी भी राष्ट्र और समाज की सर्वांगीण विकास की नींव रखती है।

गाँधीजी मानते थे कि ईश्वर का साक्षात् रूप मनुष्य है। अतः मनुष्य की सेवा मानव मात्र के लिए प्रेम, दलितों का उत्थान, पीड़ितों के प्रति सहानुभूति ही, सच्ची ईश्वर भक्ति है। इसी आधार पर वह कहते थे कि बुराई से घृणा करो, बुरे व्यक्ति से नहीं। वे मानते थे कि शैतान से शैतान व्यक्ति में भी देवत्व का निवास होता है। इसलिए उसके अन्दर के देवत्व को जगाओ, उसे उत्प्रेरित करो। ‘कोई एक गाल में मारे तो दूसरा गाल बढ़ा दो’ के पीछे गाँधीजी की यह भावना थी। इसी संदर्भ में ‘बुरा न देखो’, ‘बुरा न सुनो’, ‘बुरा न बोलो’—को भी समझा जा सकता है। उन्होंने एक धर्म, एक जाति तथा मानवों के लिए एक ईश्वर का आह्वान किया।

### सन्दर्भ सूची :

1. हिन्दू धर्म, पृ० 131
2. यंग इंडिया, 21 जनवरी, 1926
3. यंग इंडिया, 5 मार्च, 1925
4. यंग इंडिया, 31 दिसम्बर, 1931
5. यंग इंडिया, 19 अक्टूबर, 1928

# Deterioration in Quality of Doctoral Research in Universities of Bihar

Dr. Kumkum Kumari

Education has always played a key role in enforcing social justice and economic equality in the society. It is also one of the most powerful instruments in eradication of social evils. This is the reason why numerous efforts have been made to impart education to the Indian society since very long through setting up of various education commissions for example: The Radhakrishnan commission 1948, Kothari commission 1964-66 and Jha committee 1947) from time-to-time to set the right tone and tempo for imparting right kind of education, right from primary to university level to her people, so that the country treads on sound footing and towards desired direction.

The University system in India started with a traditional concept of production and disseminator of knowledge which holds well even today in our country. The Universities in India were merely examining bodies. Where teaching faculties were open, there were no conscious and serious attempts to encourage or sponsor research. In fact, it was the opening of some science faculties in the Universities and also the establishment of a few research institutes like those prestigious ones under Jagadish Chandra Bose and C.V Raman, these gave a fillip to research in Indian Universities. The establishment of the University Grants Commission (U.G.C) in 1956, as an apex body for promoting, determining, and maintaining the standard in University teaching, examination and research, gave a big fillip to higher education and research in the country. Since then, there is no looking back

in the direction. There has been a rapid deterioration in the standards of PhD programme in many universities, especially in Bihar during the last decade after the U.G.C's declaration that every lecturer in higher education must have a Ph.D degree for his eligibility. The academic community responded to this challenge of the U.G.C by mass producing Ph.D on a large scale. In this process, the standard of Ph.D thesis, which was not very high even otherwise, looks a nosedive. Dr.Rais Ahamed and Madulk Rakesh have studied 9000 theses and come to the following conclusion.

- That 78% of the supervisors felt that hardly any of these made any intellectual contribution.
- 60% of the supervisors thought that most of them were repetitive studies of the phenomena by known methods.
- 30% of the theses were considered good.
- 40% of the scholars reported favoritism on a domicile, caste or religious basis.
- Almost 35% of the scholars did not spend full working hours of the day on research. Some 30-40% of supervisors did not give adequate time to the scholar.
- Nearly 70% of the supervisors worked in isolation, not interacting with the researchers doing similar work in other universities.
- For example: 3000 theses are approved every year out of which about 700 are of fairly good quality, which could be of the interest of the user agencies.
- Applied research, which accounts for 80% of the thesis, is often trivial, mediocre and without any intellectual input.
- 30% of the research scholars drop out, and this results in the loss of almost one-third of the expenses made on scientific research spent by an institution.
- More than 20% of the scholars take a long time to complete their research which further increases the research budget. Of course, some universities and some individual supervisors and examiners were

---

Reader, Department of History, J.D. Women's College, Patna, Bihar

firm and maintained the standard but majority of the supervisors and the universities joined the rat race of producing PhD degree on a larger scale.

The quality of doctoral research in some discipline, if not in all, especially in social science has deteriorated down to the extent that has remained of no use. In the context of the candid assessment of the quality of education and research in the universities of India, Dr. Amartya Sen has said, "The university education in India is in a state of crisis. This is not because of the lack of researchers but due to the deterioration in the quality of research". In fact, the continued deterioration in the quality of doctoral research has become, for quite some time, a subject of intense debate and considerable concern among academics, educationists, policy makers etc. It is against this background, and attempt has been made in the paper to focus the issue in doctoral research in universities. The entire presentation has been subsumed under two parts. While part-1 discusses the reason causing deterioration in the quality of doctoral research, part-2 deals with ways and means to achieve and improve the quality in doctoral research in universities.

### **What is research?**

Research refers to activities related to the acquisition of knowledge or information. It is an activity seeking to gain greater understanding of a phenomenon and is directed towards the solution or eradication of a problem.

### **What is Quality?**

Quality is fitness for use or purpose. In other words, quality is a continuous improvement in performance to satisfy the customer's needs and expectations. Thus, quality is conformance to requirement. Of late, changes in manpower requirements have become proportional to dazzling changes in the economy. Hence, there is the need of the continuous improvement in human resources to conform to the changing requirement of the world of work.

The holder of a PhD should be characterized by independence of thought reflected in his/her ability to undertake scholarship and research on an individual basis, albeit with in a research environment. The program of study leading to the award should have developed the investigative skills in the wider context of broadening and maturing of the mind and of their experience and knowledge. In short, a PhD graduate should be able to identify, analyze and solve the challenging problems.

In India the University of Calcutta awarded the first doctoral degree in 1911. Since then, there is no looking back and doctoral researches have proliferated in the country in an unprecedented rate.

The new U.G.C norms regarding pay scale and "PhD" as an essential qualification were implemented in 1973. Since then universities and colleges have insisted on doctoral degree as the essential qualification for university appointment and promotion. In

consequence, there was a violent rush for doctoral qualification. As such, doctoral research was undertaken only for having a gate pass in the form of PhD. In most cases, not surprisingly, research terminates with the completion of doctoral research itself. A good percentage of doctoral scholars in the universities of Bihar today are fresh postgraduates that have failed to get an immediate employment elsewhere. Hence they opt for research for their pseudo-pursuit of knowledge which extends their stay in the university.

They use this university stay as stop-gaps employment i.e. a form of disguised unemployment into the realm of doctoral research. As such genuine urge of knowledge and earnest efforts are diverted to softer options like bogus stereotype repetitive topics, plagiarisation of earlier works etc. This has resulted in simply a proliferation of pseudo research and more production of scissors paste variety of research thesis.

### **The Supervisor**

The doctoral research being training for research is undertaken under the guidance of some knowledgeable person called "supervisor". Then it obviously means that the quality of doctoral research, to a large extent, depends on the quality of the supervisor. Alternatively speaking, as the supervisor, so is the scholar. That is previously the region where the quality of doctoral research varies from supervisor to supervisor in the same department.

Normally, the modern supervisor is characterized by a variety of attributes. One is approved as doctoral supervisor normally on the basis of his/her seniority in terms of the number of years in service rendered irrespective of one's indication toward research. They are the supervisors, better call them as "pseudo supervisors" whose research activity had co-terminated way back with the submission of their own doctoral research. Then what happens is that these supervisors, due to the lack of adequate research knowledge, allot research topics to their scholars, usually inane and duplicate ones, with slightest alterations and cosmetic changes in the title of the research problem. As such topics are intellectually infantile and socially irrelevant and therefore, unsuitable as research topics. Even sometimes the topics are not interesting at all to the scholars.

As the number of scholars working under one's guidance, increases in the same proportion the pride of the supervisors elevates in his group. He counts the number of PhDs that have been awarded to his protégés as sometime, which improves his bio-data. As such, there is a competition among the supervisors in attracting scholars that too influential scholars suited to one's requirements. The guide also has some hidden agenda of his own behind supervising scholars. There are some guides who keep on picking holes in whatever work the student does, with the result that the student may take 6-8 years in obtaining his degree. Some

expect to be entertained and feted every other evening with spirituous liquors. There are also guides who take liberties with the students of the other sex. As such all these factors lead to deterioration of the standard and building up the frustration on the part of the scholars and the frustration adversely affects performance.

In research supervision as an eligibility to avail the carrier advancement schemes as prescribed by the University Grants Commission has compelled the teacher to be a PhD supervisor just to satisfy the eligibility criteria. Then, the quality of supervision and, in turn, doctoral research is expectedly pedestrian.

### *The Infrastructure*

Like an economic activity a minimum level of prior-build up infrastructural facilities are required to undertake research support system consisting of both physical and intellectual. Viewed from this standpoint, many of the colleges and universities are ill equipped in terms of infrastructural facilities even for teaching purposes, not to speak of research purposes. This is also an irony that research is carried out in the disciplines, even which are not taught in the postgraduate level in the institution, be it a college or a university. Lack of required facilities is, thus, expected to boil down adversely to affect the quality of doctoral research.

### *Evaluation of PhD thesis*

In Bihar, the evolution system of Ph.D thesis is the root cause of the low standard of scientific research. Many students, who have no aptitude for research, join PhD

programme and somehow get their degree. In this condition, the selection of examiner to adjudicate the thesis is as per convenience not as per competence. The research supervisor will see that the thesis will be sent to his friend or colleague for evaluation. The guide will choose his convenient examiner, as he does not have the confidence in his own work. In many universities of Bihar guides themselves suggest the names of the PhD examiners. In the universities of Bihar two names from Bihar and two names from other states as suggested by the guide are approved by the supervisor. Vice-chancellor picks out one name from Bihar and one name from other states for evaluation. The research supervisor always looks for a safe or convenient examiner. Basically the policy is "you scratch my back, I shall scratch yours". As a result of this the supervisor does not take a keen interest in the thesis as they know that the candidate is sure to get the PhD degree irrespective of the quality of the PhD thesis submitted by him.

### *Solution*

For every problem, there is always a solution. A few suggestions are made to lift the gloom and make doctoral research better than what it is today.

The scholar - the research aptitude of the candidate can be adjudged through some mechanism, such as "research aptitude test". It is also worth mentioning that the quality of the scholar cannot be improved over night at the doctoral level alone. Hence, efforts should

also be made to orient the candidate towards research by introducing on paper "Research methodology" at the post graduation level.

### *The Supervisor*

The quality of doctoral research mirrors the quality of supervisor also. Hence doctoral supervisor should be approved as per suitability, not be seniority alone. Only the academia with a minimum of five years experience and that too with evidence of some trace record of independent research after one's own PhD, should be approved as PhD supervisors.

Changes in research methodology have become sine quo none with changes in research perspectives and problems. Hence arrangement should be made in a way that the supervisor may be able to tune himself as per the change in requirement of the supervisions. If the corporate executive, the govt. and the university vice- chancellor can undergo the training for upgrading their know and skill why the supervisor should not.

Both the scholar and supervisor should be avoided for undertaking quality research work with a view to encourage others.

### *The Support*

Adequate level of support system, i.e. infrastructure should be created and made available to ensure a minimum level of standard in doctoral research. Equally important action is to put restrictions and stop such universities and institution from doing sub-standard and undesirable research, which does not have

the necessary facilities for doing proper research.

### *The System*

Adjudication of thesis is the most sensitive part in the doctoral research. There must be a centralized system of evaluation. University grants commission can play a vital role in this direction. It should build a data bank of all specialized and good workers in the country who can act as examiners of PhD dissertation. The universities should send the PhD thesis to U.G.C from where it will be sent to examiners. The evaluation should be strictly on merit. This system will really help raise the standard of PhD in all universities.

The panel of examiners in universities abroad consists of three or four professors, the majority of whom belongs to the candidates' own universities, sometimes from different departments, who act as external examiners. The internal examiners also act as advisers.

The candidate's supervisor is the chairman of the committee of examiners. The committee advises on the research project and makes suitable suggestion. The benefit is that the graduate students get help and advice both from his supervision and other professors in the department. The thesis does not remain a secret matter between the supervisor and the graduate student, since the graduate student has to defend before the committee of examiners before finally writing the thesis. This will help the supervisor to be alert, if the procedure is

implemented here in our universities also.

By placing an emphasis on the published article there is every chance that mediocre research material of no consequence does not get through. Journal reviewers are likely to be better in supporting rehearsal and poor work than external and internal examiners who may not be acquainted with current developments. Plagiarism will be eliminated. The heads of the institutions can know at glance the contribution of the guide ensuring the quality of research.

### *Conclusion*

Therefore, it is high time we must try our level best to inject and develop the feeling of urge and commitment in scholars. A keen observation presents a dismal scene as we find the essential commitment missing in them. Such urge and commitment in the scholar is necessary to better the quality of doctoral research. We must, with hope and determination, go ahead in the right direction.

### *References*

Dahiya, L.N., 2001. Quality of Doctoral Research in India:

- Some Monitoring and Control Issues, presented at the National Level Discussion Meet on Doctoral and Other Equivalent Status and Needed Directions for Future, held at the National Institute of Educational Planning and Administration, New Delhi, June 28-29.
- Ramamurthy V.S., 1999. Sustaining University Research, University News, Vol. 37, No. 51, December 20.
- Sant Bharat R., 2000. Towards Achieving Excellence in Higher Education, University News, Vol. 38, No. 19, May 8.
- The Hindu, November 15, 1999.

# Rise of Urban Economy, Trade and Commerce in Medieval India

Dr. Kahkashan

The available evidence suggest that the urban economy on the eve of the Ghorid conquest was on a low ebb. The towns were fewer in number and smaller in size in the centuries preceding the establishment of the Delhi Sultanate. D.D.Kosambi shows that even the capital was a camp city on the move. The higher ruling class wandered from place to place along with the army while the lower ruling class was almost completely ruralized. This view of urban decline has been supported by R.S. Sharma who has convincingly reasserted his theory of urban decay with the help of enormous archaeological data painstakingly collected.

This theory of decay of towns is further corroborated by the evidence of sluggish trade: The near complete disappearance of gold and silver currencies and the almost total absence of foreign coins in the Indian coin-hoards of the period are indicators that the foreign trade was at a very low scale. Moreover, the fact that not even the coins of various regional dynasties are found in the coin-hoards of other regions, suggests that inland commerce was not widespread. All this scenario changed almost immediately with the establishment of the Delhi Sultanate. The archaeological and numismatic evidence corroborate the literary evidence of growth of towns and increase in commerce.

### *Growth of Towns*

Before discussing the evidence of increase in number and size of towns, we must first understand what we mean by town. There are two simple definitions of a town : (a) the usual

modern definition of a settlement of 500 or above, and (b) a settlement where an overwhelming majority of population (say above 70%) is engaged in occupations other than agriculture.

### *Economy of Delhi Sultanate*

While the archaeological evidence available for earlier period is not forthcoming from the 13th-14th centuries owing to the much less attention paid to medieval archaeology, the literary evidences testify growth of urban centres. Lahore was a big town but decayed after the Motlgor invasion in the 13th century. However, in the 14th century it flourished again. While not even a guesstimate of the population of any town is available in our sources there are reliable indications to assume that at least some of these were cities big enough by contemporary standards. Ibn Battuta, who visited Delhi in 1330, describes it as of enormous extent and population, the largest city in the Islamic East in spite of the fact that Mohammad Tughluq had shifted much of its population to Daulatabad. He describes the latter too, as large enough to rival Delhi in size. Some new towns were established during the period, such as Jhain (Chhain) in Eastern Rajasthan that was named 'Shahr Nau' during Alauddin Khalji's reign (1296-1316).

### *Factors for Urban Expansion*

Five strength of the invader, of course, lay in combination and not in dispersal in an unfamiliar land and, thus, in initial stages, it was but natural for the members of the ruling class to prefer to stay at their iqta headquarters along with their cavalry. These iqta headquarters having the concentration of cavalry, its hangers-on and the retinue and household of the muqti thus emerged in the early phase as camp cities.

Most of the 13th century towns are in fact defined as iqta headquarters in our sources; for example, Hansi, Kara, Anhilwara, etc. These towns were to be fed and provided for. In the beginning, the troops had to go for realising khar & j/mal by plundering the surrounding villages; but gradually by the 14th century, as pointed out by Moreland, cash nexus developed. The revenue

Sr. Lecturer, RDS College, Muzaffarpur

was realised in cash from the peasants who were thus forced to sell their produce at the side of the field. The merchants catered to the needs of towns giving rise to what we will discuss below as-induced trade'. The ruling class coming from a different cultural milieu had needs of leisure and comforts of a different type; they wanted songs in Persian and dances of a different style, books, silk to wear and arcuate light architecture (not the stone edifices). Out of the resources that were indeed enormous by contemporary standards at its command, the new rulers naturally wanted to get luxuries and comforts of their taste which encouraged immigration from Islamic culture area. These immigrants were not only soldiers, but craftsman, artisans, singers, musicians, dancers, poets, physicians, astrologers and servicemen as described by Isami.

### **Urban Manufactures**

It seems that the urban craft production received a twofold impetus with the establishment of the Delhi sultanate. First, the Sultanate ruling class remained town-centred and spent the enormous resources it appropriated in the form of land revenue mainly in towns, either on buying services or procuring manufacturers. Even the money spent on the service sector partly went to help the urban craft sector through multiplier effect. While the nobility created demand for high-priced skill-intensive luxury items, its hangers-on in all likelihood created a mass market for ordinary artisanal

product. The second factor that contributed to urban manufacturers was the introduction of a number of technological devices that reached India with the invaders. (You will learn, about them in detail in the next Unit). In the luxury sector, silk weaving expanded and carpet-weaving came from Persia. The other notable urban manufacture was paper making. Perhaps a major sector of urban employment was building industry. Barani says that Alauddin Khalji employed 70,000 craftsmen for his buildings. One may well be justified in saying that there was considerably more masonry per acre of occupied space in the towns of 1400 than in those of 1200.

### *Organization of Production*

It is indeed important to know how production was organized. Whether the town artisans carried out production under the 'domestic system', that is, they owned their tools, raw material and the end product and also sold their product themselves; in other words, whether they were self employed or while tools were their own and they worked at their homes, raw material was provided to them by the merchants, that is whether they worked under the 'putting-out system'. The contemporary sources shed little light on these aspects. One can, however, legitimately assume that since the tools of production even after the introduction of new devices were still simple and mainly of wood and little of iron should have remained

cheap. The artisan wish thus master of his own tools, though varied forms of labour organization seem to be prevalent. Certain artisans hawked or hired out their services such as cotton-card & who with a bow-string on his shoulder, went door to door selling his services as is evident from the account given in *Khair-ul Majalis*. Spinning was done usually by women staying at their homes. The weavers too usually worked at their own looms at home weaving cloth for sale, out of the yarn bought or spun by the plowives. They also worked on wages to weave yarn supplied to them by customers. But if the raw material was expensive such as silk or gold or silver thread, etc. and the products were luxury items, the craftsmen were to work in *karkhanas* under supervision. We have definite information about the Sultans and high nobles maintaining these *karkhanas* where the production was to cater to their own needs and contrary to D.D.Kosambi's assumption was not for market. Shahabuddin al Umari records in his *Masalik-ul Absar* that in Mohammad Tughluq's *karkhanas* at Delhi, four thousand silk workers worked as embroiderers. According to Afif, Feroz Tughluq's *karkhanas* produced cloth and carpets in a big way. While there is no suggestion in our sources, we may only conjecture that perhaps merchants also maintained *karkhanas* where production was for sale.

### **Trade And Commerce**

We have seen that there emerged some considerably big

flourishing towns as well as numerous townships during the 13-14th centuries. These towns naturally needed to be fed and supplied raw material for craft production.

At the same time, there was growing practice of land revenue realization in cash. By the time of Alauddin Khalji, the cash-nexus came to be well developed and the ruling class tended to claim almost the entire peasant surplus by attempting to reduce the share of rural intermediaries, as we have seen in the previous Unit.

Both these factors were conducive to the development of inland trade. To pay the land revenue in cash, the peasantry was forced to sell its surplus produce while merchants had a market in newly emerged towns for agricultural products. This trade resulting from the compulsions of land revenue system is termed as 'induced trade'

### **Inland Trade**

The inland trade developed at two levels : (a) the short distance village-town trade in commodities of bulk, and (b) long distance inter-town trade in high value goods. The village-town trade, as already explained, was a natural consequence of the emergence of towns of land revenue in cash. The urban centres were dependent for supply of food gardens and raw material for manufactures from the surrounding villages whereas the villages had to sell the agricultural products to receive cash for meeting the land revenue demand. The peculiar

nature of this trade was the one-way flow of commodities. While the towns received grains and raw material from the villages in the vicinity they had no need to send their products in exchange to the villages which were by and large self-sufficient.

This one-way trade was owing to the land revenue demand imposed upon villages which naturally led to a continuous drain on rural sector and made the towns dependent on villages. The turnover of this trade was high in terms of volume but was low in terms of value. The commodities were food grains, that is wheat, rice, gram, sugar cane, etc.

The inter-town trade was mainly in luxury articles and was thus high value trade. The manufactures of one town were taken to another : for example Barani reports that Delhi, the capital itself, received distilled wines from Kol (Aligarh) and Meerut Muslin (fine cloth) from Devagiri and striped cloth from Lakhnauti (Bengal) while, according to Ibn Battuta, ordinary cloth came from Awadh and betel-leaf from Malwa (twenty-four days journey from Delhi).

Candy sugar was supplied to Multan from Delhi and Lahorie and ghi from Sirsa (in Haryana). The long distance inter-town trade also carried goods coming from other countries exit-points.

### **References**

Fisher, Michael Herbert : *Visions of Mughal India: An Anthology of European Travel Writing*, London: I. B. Tauris, 2007.  
Frankel, Francine R.: *India's Political*

*Economy, 1947-1977: The Gradual Revolution*, Delhi, 1978.

- Ghosh, Aruna : *Agrarian Structure and Peasant Movements in Colonial and Post-Colonial India (An Annotated Bibliography)*, Calcutta: K.P. Bagchi and Company, 1990.  
Gowdy, J., *Coevolution Economics: The Economy, Society and the Environment*, Kluwer, Boston, 1994.  
Guha, Ranajit : *Elementary Aspects of Peasant Insurgency in Colonial India*, Delhi: Oxford University Press, 1983.  
Harvey L. Molotch: *Urban Fortunes: The Political Economy of Place*, Berkeley, University of California Press, 1987.  
Jalan, Bimal: *The Indian Economy: Problems and Prospects*, New Delhi, Viking, 1992.  
Jha, P.R.: *Agriculture and Economic Development*, New Delhi, Ashish, 1988.  
Joshi, Vijay: *India: Macroeconomics and Political Economy, 1964-1991*, Washington, World Bank, 1994.  
Keene, Manuel, and Salam Kaoukji : *Treasury of the World: Jewelled Arts of India in the Age of the Mughals*, London, 2001.  
Kishore, K.: *Economic History of Mughal India: An Annotated Bibliography, 1526-1875*, Calcutta, Santiniketan, 1991.  
Lal, Ruby : *Domesticity and Power in the Early Mughal World*, Cambridge: Cambridge University Press, 2005.  
LaRocque, Brendan P. : "Trade, State, and Religion in Early Modern India: Devotionalism and the Market Economy in the Mughal Empire," University of Wisconsin-Madison, 2004.  
Little, I.M.D.: *India: Macroeconomics and Political Economy, 1964-1991*, Washington, World Bank, 1994.  
Losensky, Paul E. : *Welcoming Fighani: Imitation and Poetic Individuality in the Safavid- Mughal Ghazal*, Costa Mesa, Calif.: Mazda, 1998.  
Magnussen, L., *Evolutionary and Neo-Schumpeterian Approaches to Economics*, Kluwer, Boston, 1994.  
Majid Hayat : *Agrarian Unrest in North India: The United Provinces, 1918-1922*, New Delhi: Manohar and Vikas Publishing House, 1978.

# A History of Child Marriage in India

Rakesh Ranjan

*Introduction: The Reform Movement 1860-1886*

In India during the 1860's, marriage meant girls getting married below 8 or 9 years old. Socio-reform religious movements such as the Brahma Samaj and the Arya Samaj pioneered work against child marriage. Late in the 1860's some success was met when the Indian Penal Code prohibited intercourse with a wife who had not reached ten years of age. Nevertheless, it wasn't until 1880 that child marriage as a problem became a public issue in India during the debate on the Age of Consent Bill. Towards the end of the debate a child wife of eleven years old, Named Phulmani, died when her husband raped her. More than 500 women doctors sent a memorandum to the Viceroy requesting him to stop marriage of girls below 14 years of age. The resulting bill compromised at 12 years old.

On August 15, 1884 a Parsee reformist, Behramji Malabari, circulated two notes which highlighted the evils of child marriage and enforced widowhood. The Honourable J. Gibbs added his comments to Malabari's notes saying that, "Young mothers become stunted in growth, and often become invalids for life, while children were too often pony and weak." Kadhavdas added to the list of evils, "Early marriage is a great obstacle in the progress of female education." Shortly thereafter, in 1886 the first petition against 'Hindu Infant Marriage' was proposed to the Government by the natives of Meerut. It was finally passed in 1927. It declared that no marriage would be valid unless the girl had completed her twelfth year. In spite of laws prohibiting the practice, child marriage continues to be a widespread custom in India. After looking at the debate which raged in the 1880's, I look at Hindu scriptures and their mandates for the practice.

---

Research Scholar, BRA Bihar University, Muzaffarpur

### **The Malabari Letters-1887**

Between 1884 and 1887 Behramji Malabari collected opinions for and against infant marriage and enforced widowhood from "representative Hindu gentlemen and official and other authorities." The "Hindu gentlemen" were mostly selected from Brahmins educated in English universities. The resultant letters, dedicated to the Duke and Duchess of Connaught were published in the Voice of India. Malabari argued that infant marriage was "a practice more evil than infanticide." His arguments against infant marriage can be summarized as a too early consummation of the nuptial troth, breaking down the constitutions and the ushering in of disease, the birth of sick children, the necessity of feeding too many mouths, poverty and dependence, and a disorganized household leading perhaps to sin. A response by Ramanujchari's typifies the reformer's view of child marriage, an evil which he thought that even the reformers were unaware, ".the practice of the selling of girls by their parents has become so rife in these parts of the country that girls are disposed of in marriage to the highest bidders like goods at an auction sale. Girls are married, as a rule, before they attain their 8<sup>th</sup> or 9<sup>th</sup> birthday-an age when they are utterly incompetent to comprehend the contract they enter into." The authors included in Malabari's publication nearly universally condemned infant marriage as a "great physical and moral evil." Infant marriage was considered "one of two evils that, if not remedied in time, are sure to destroy the vitality of the whole native community of India." Infant marriage was not confined to the Hindus, but was also "practiced by Parsis and Mohamedans."

Two related issues were being discussed, child marriage and infant widowhood. Shirgaonkar, not so interested in child marriage, objected to child widowhood. He said, "I condemn infant marriages not because I think that they afterwards prove unhappy-which statement I will not accept unsupported by statistics-but because such marriages increase infant widows"

How child marriage works to increase infant widows and their misery is hinted at by Colonel E.W. West, "I have known many cases of old men marrying girls not yet emerged from childhood

and it needs but little knowledge of human nature to realize the misery during the husband's lifetime, and of Hindu ways to realize the misery after his death, of the girl." Many authors felt that government action was a necessity: "The reason for this is that for the last 2000 years the Hindus have lost the power of refection, and even that of following or imitating what is good.. The masses still grope in darkness. They are bound by their customs and the foolish teachings of their priests."

Of the eighty-seven respondents, only a few suggested that the evil wasn't as great as Malabari considered it to be. For example, Dr. Rajendralala Mitra from Calcutta said, "I have also yet to learn that disparity in age of marriage does more harm in India than it does in Europe."

Mozoomdar objected and offered some statistics, arguing that the problem of infant widowhood wasn't nearly so serious as propounded. According to the census there were only 28,369 widows between the ages of 14 and 19 out of twenty million total widows in India. More than a few of the respondents objected to Malabari's proposal for prohibition of child marriage. Taleyar Khan from Baroda argued that, "Our English ideas actually jar with their (the Hindus) sympathies, the antipathies, and all important affections of their heart and mind."

He goes on to explain that 'marriage seasons' can be at intervals as many as twelve years apart. In the case cited a girl of four couldn't be married

until she was sixteen, "A horrible purgatory, according to the Shastras, for the parents to keep her unmarried at that age."

He continues by saying, "It is a wonder how this nation has succeeded for ages in preserving such a marked harmony of their homes. If we have weakly children the homes are happy, contented, well regulated and economical."

### **Reformers Ignored Hindu Scriptures and Epics**

Malabari claims that, "No Shastra enforces marriage proper on a girl under 12 years of age, when presumably the boy must be between 15 and 20." That being Malabari's only comment on the religious basis of the nearly universal custom of child marriage he concluded, "So much as to the social or so-called religious aspect of the practice."

The writers who supported Malabari, with one or two exceptions, also denied the religious-spiritual background of infant marriage. Lakshmiram, for example, said, "There is one foolish text, I know, which enjoins the marriage of every girl before she is eleven years old."

One exception to this denial is found in the letter of Keshaveal Madhavadas who says, "The Hindu law gives clear injunction not to keep a girl unmarried beyond 12 years old."

While it does appear to be arguable that the Vedic literature, written before 400 B.C. advised that children not be married before puberty, in the following compilation I

show that the British and their Brahmin supporters ignored the long Hindu scriptural tradition of child marriage during Vedic times and after the fourth century BC. The citations also help us understand the point of view of a civilization that allowed for child marriage.

### **Child Marriage Before the Fourth Century B.C.**

The Vedic mantras, such as the Rigveda mentioned that a girl could be married only when she was fully developed both physically and mentally and that she was to be fully developed physically before leaving her father's home. Men were advised to marry a girl with a fully developed body. One hymn mentions that a female should be married only "when she is not a child". One modern commentator, Sharma who wrote in 1993, argues that during the time of the great epics, the Ramayana and Mahabharata, the girls "used to be grown up at the time of marriage".

Sharma's reasoning is that, "In the Ramayana it is described that the brides came to Ayodhya and after paying due respect to the elders lived merrily with their husbands in seclusion which presupposes post-puberty marriages." Sharma also argues that the marriage rituals described in the Grihyasutras, the Baudhayana presuppose that the marriageable age was after puberty. The consummation of the marriage could take place directly after the marriage ceremonies or a few days afterwards. "Since consummation couldn't possibly take place before

puberty," goes Sharma's reasoning, the bride must have reached maturity. It sounds as if Sharma considers pre-pubescent girls as being physically incapable of having intercourse and therefore not marriageable. Malabari, more than century before Sharma, discussed the ability of pre-pubertal girls to consummate marriage willingly when he wrote A.O. Hume, "Mr. Hume is informed that consummation is deferred in many cases. Not so to my knowledge. It takes but little knowledge of human nature to see that infant marriage super-induces precocious development in the case of the boy. In the case of the girl it is worse, and almost all circumstances conspire to make her a willing accessory to what, on public grounds, I am constrained to denounce as a crime." According to Malabari, pre-pubescent sexual relationships while both common and consensual, were still a "crime".

Also suggestive that the Rigveda allowed for child marriage is a hymn that mentions that Indra gave a child-wife named Vrichaya to the old man Kashivan. Furthermore, in the epic Aranyakanda, the goddess Sita is supposed to have told Ravana that when she was kidnapped by him, she was eighteen and her husband twenty five and that they had spent twelve years at Ayodhya. From this commentary, the age of Sita is known to have been six years old at the day of her marriage. Sharma (1993) argued this is not true because, "the Ramayana was recast many times and the verses in question are from later editions." He says the same

concerning the Uttararamacharita Bhavabhuti which described Sita as a child bride playing at the knee of her mother-in-law. Only in the Mahabharata is there a unequivocal injunction that a girl should be married after puberty. In fact this work decrees that she should wait three years after puberty to obtain a husband.

### **The Kamasutra on Courtship**

The Kama Sutra is attributed to Vatsyayana who wrote his "profound discussion of love and sex" no later than 300 AD and perhaps as early as 300 BC. The work wasn't original, it was a summing up of ancient wisdom. Love and sex were considered as something a-moral, something which transcends ethics and has its own justifications.

According to the Kama Sutra the results of marrying a young girl is untarnished love, "When a girl of the same cast, and a virgin, is married in accordance with the precepts of the Holy Writ (Dharma Shastras), the results of such a union are untarnished love."

Loving a girl that had been loved by others would be reproachful, "But at all events, says Ghotakamukha, a girl who has already been joined with others (that is, no longer a maiden) should never be loved, for it would be reproachful to do such a thing." A girl who has "fully arrived at puberty" should be avoided as a wife.

The Kama Sutra describes wooing, "When a boy has thus begun to woo a girl that he loves, he should spend his time with her and amuse her with

various games and diversions fitted for their age and acquaintanceship, such as picking and collecting flowers, making garlands of flowers, playing parts of members of a fictitious family.. the game of odds and evens, the game of finding out the middle finger, the game of six pebbles. Hide-and-seek, playing with seeds, blind-man's bluff and other games of the same sort." In short, child's games.

### **References**

- Erikson, E. H.: *Childhood and Society*, New York, W. W. Norton, 1993.
- Gorhe, Neelam : *Social Development and Dalit Women*, Gyan Pub, House, New Delhi, 1995.
- Gupta, Giri Raj : *Family and Social Change in Modern India*, Durham, Carolina Academic Press, 1971.
- Jaya Sagade: *Child Marriage in India : Socio-Legal and Human Rights Dimensions*, Oxford University Press, Delhi, 2005.
- K P Yadav: *Child Marriage in India*, Adhyayan, Delhi, 2006.
- Agnelli, S.: *Street Children: A Growing Urban Tragedy*, London, Weidenfeld and Nicolson, 1986.
- Aries, Philippe: *Centuries of Childhood: A Social History of Family Life*, New York, Knopf, 1962.
- Beth, S. : *Voices From The Fields: Children of Migrant Farmworkers Tell Their Stories*, Boston: Little Brown & Co., 1993.
- Franklin, B.: *The Rights of Children*, Oxford, Basil Blackwell, 1986.
- Greaney, Vincent: *Children - Needs and Rights*, New York, Irvington Publishers, 1985.
- Hitchcock, K.: *Globalization, Child Labor, and Children's Rights*, Lincoln, Nebraska: Nebraskans for Peace, 2002.
- Lewis W. Hine: *Children at Work*, Prestel, USA, 1999.
- Nieuwenhuys, Olga: *Children's Lifeworlds Gender, Welfare, and Labour in the Developing World*, London: Routledge, 1994.
- Schorsch, A.: *Images of Childhood: An Illustrated Social History*, New York, Main Street Press, 1979.

# Indian Resistance Movements in the Early Nineteenth Century

Binny Patel

After the final defeat of the Marathas in 1818, the authority of the East India Company in the newly ceded and conquered territories in central and northern India was challenged on many fronts. Dacoity, or banditry was endemic, of which the so-called thugs were the most notorious example. The word 'thug' is of Indian origin, *thagi* meaning 'to deceive'. Although terms like it could be found in generic use in previous periods, 'thug' was first used as a specific category by a British district officer named William Sleeman, in application to a variety of groups of marauding bandits in central India in the 1820s. The suppression of the thugs thereafter became part of the great civilising mission of the British in India, along with the abolition of sati, infanticide, human sacrifice and other supposed social evils. Work on these fronts was faithfully reported to the Board of Control in London and the annual *Statement Exhibiting on Moral and Material Progress and Condition of India* from 1859 onwards.

The thug phenomenon was paralleled by another and more serious law and order problem in the early nineteenth century, which was similar in causation: the Pindaris. They were bandits who raided whole villages on horseback, principally in the newly ceded territories in central and northern India [Anon 1818; Ghosh 1966]. The Pindaris were mostly unemployed mercenary cavalrymen who had served in the armies of the Maratha Princes and others, before being disbanded in 1818. The threat that they posed was so considerable that an entire sepoy army had to be sent to suppress them.

The thugs and the Pindaris occupied a great deal of British military manpower, but there were numerous other uprisings in the same period to

occupy them, many in adivasi or tribal areas. For example in the 1820s, a succession of revolts occurred amongst the Bhil tribes in Gujarat, and the Kol in Bihar between 1829 and 1833. Most serious of all was a revolt by the Santhals in 1855, just two years before the uprising of 1857, following which more than 10,000 tribals were killed in British reprisals in an attempt to pacify the territory [Guha 1983]. Nomadic and 'wandering' communities had good cause to resent the British, by whom they had been systematically persecuted. In the early 19th century huge areas of grazing lands around Delhi, used by the Gujars, Rangars and Bhattis were cleared and given by the British to Jat peasant farmers to cultivate. These communities were therefore amongst the first to resort to arson and banditry as soon as British control collapsed in 1857. They all had one thing in common, being in one way or another losers in the land revenue settlements of the early nineteenth century. The Gujars and Bhattis lost land because the British did not recognise pastoralists to have proprietary right of access or occupancy. Tribals, who practised shifting forms of cultivation, were also frequently denied rights to the land and expelled from large areas of forest which were taken over by the government. It can be conjectured that many so-called thugs may have been Gond adivasis from the highlands of Central India who had been forced out of the forests in which they had traditionally hunted and foraged. From a life of banditry and petty thieving, it was but a small step to join in open rebellion.

The thugs and the Pindaris occupied a great deal of British military manpower, but there were numerous other uprisings in the same period to occupy them, many in adivasi or tribal areas. For example in the 1820s, a succession of revolts occurred amongst the Bhil tribes in Gujarat, and the Kol in Bihar between 1829 and 1833. Most serious of all was a revolt by the Santhals in 1855, just two years before the uprising of 1857, following which more than 10,000 tribals were killed in British reprisals in an attempt to pacify the territory [Guha 1983]. Nomadic and 'wandering' communities had good cause to resent the British, by whom they had been

---

Research Scholar, JP University, Chapra

systematically persecuted. In the early 19th century huge areas of grazing lands around Delhi, used by the Gujars, Rangars and Bhattis were cleared and given by the British to Jat peasant farmers to cultivate. These communities were therefore amongst the first to resort to arson and banditry as soon as British control collapsed in 1857. They all had one thing in common, being in one way or another losers in the land revenue settlements of the early nineteenth century. The Gujars and Bhattis lost land because the British did not recognise pastoralists to have proprietary right of access or occupancy. Tribals, who practised shifting forms of cultivation, were also frequently denied rights to the land and expelled from large areas of forest which were taken over by the government. It can be conjectured that many so-called thugs may have been Gond adivasis from the highlands of Central India who had been forced out of the forests in which they had traditionally hunted and foraged. From a life of banditry and petty thieving, it was but a small step to join in open rebellion.

Uprisings of more substantial rural elites as well as of peasants occurred in the first half of the nineteenth century. The Bundela Rajputs, for example, were relatively prosperous landowners in Central India who rebelled in 1842, in reaction to tax increases and oppressive court proceedings which had deprived some of them of land. The mere arrival of a British land survey team, whose task was to measure the fields and

decide how much tax should be paid, could provoke a riot, as occurred in Khandesh in 1852. There were also violent outbreaks among the peasantry on the Malabar Coast, where Muslim Mappila tenants were almost continuously in revolt against Hindu landlords appointed by the British.

Finally, in urban areas, unrest was often communal, characterised by the rioting of unemployed Muslim artisans against the Hindu moneylenders who were prospering under colonial rule. The replacement of the law officers of the old Mughal cities (such as the Kotwal, Qazi, and Mufti) by brusque colonial officials added further to the prevailing sense of unease. Dissent and unrest were therefore widespread during the early part of the nineteenth century, but the inadequate intelligence of the East India Company meant that the seriousness of this opposition was not appreciated until events overtook them. When the general insurrection occurred in 1857, the company was therefore taken completely by surprise. The sudden collapse of British power merely provided the opportunity for many of these dissenting groups to rise up at the same time. This was what was unique about 1857.

### *Rethinking Tribals*

Ever since the Portuguese travel writers and missionaries decided to describe the vast variety of ethnic and occupational groups and sects of the Indian subcontinent in terms of "caste" and "tribe", the terms have stuck to society as long-worn masks that start

becoming one's real personality. The result is that today no Indian describes society without taking recourse to the categories "caste" and "tribe". In the initial period of India's contact with western nations the two terms were used as synonyms, the difference lay only in the social status of the groups they described. The synonymy was finally shattered through a legal intervention by the colonial rulers when an official list of communities was prepared by them (in 1872) as the list of tribes. A similar list was prepared in the previous year for communities that were mistakenly thought of as 'criminal' and were covered by the provisions of an inhuman "Criminal Tribes Act of India, 1871." Since then the "tribes" are perceived as a distinct segment of Society.

In fact, it is necessary to recognise that every community has certain "caste" characteristics and certain other "tribal" characteristics, the degree of which may differ from community to community.

History has indeed been extremely unkind to the tribal characteristics of the people. The entire burden of the logic and the rhetoric of modernisation has sought to "detrribalise" the vast range of communities. Besides, those communities that are now marked as "tribal" have not been viewed with any degree of respect by the alienated middle classes and intellectuals. None of the brave fights of the tribals against the British has ever been treated as part of the "national" struggle for freedom. From the Bihar uprising of 1778 to

Lakshman Naik's revolt in Orissa in 1942, the tribals of India repeatedly rebelled against the British in the North-East, Bengal, Bihar, Madhya Pradesh, Maharashtra, Gujarat and Andhra Pradesh. In many of the rebellions, the tribals could not be subdued by the colonial might, but terminated the struggle only because the British acceded to their immediate demands, as in the case of the Bhil revolt of 1809 and the Naik revolt of 1838 in Gujarat.

The fact, however, is that there is so much in the tribal way of life that the country needs to emulate. Tribals are not known for raping their women, beating and abusing their children, exploiting nature beyond satisfying the minimum human needs, lending money at interest, burning widows, and above all things segregating and stratifying labour in terms of caste.

A century and a half of deeply flawed education which has taught us to ape the West in every respect, has also taught us to leave the tribals out as the apes of the great Indian society. And, all that we have so far doled out in the name of tribal policy is but an attempt at extermination of tribal identity so that they remain without a voice and make space for our progress, become our low-grade clones and provide us with cheap labour. In the process, we have forgotten that much that is valuable in society, culture and heritage is of tribal origin, that in fact the tribal still has so much with him which we stand to benefit by learning.

Rarely have we looked at the tribal communities as

leaders, at least in certain areas of life, who can reveal to us what civilisation truly is all about. Hence at the turn of the century we must open this question again and work towards formulating a comprehensive tribal policy which will help both the nation and the tribal people. The four principles that we must follow while conceiving such a policy ought to be related to the recognition of the diversity of tribal communities, their special educational needs, an utmost concern for their genetic mutations, and the recognition of the peculiar character of tribal polity.

It is necessary to recognise that all tribal communities are not alike, that they are products of different historical and social conditions and that they belong to four different language families and several different racial stocks and animistic moulds. Some of them belong to the primitive stock with a continuous cultural history, others have been pushed out of the mainstream and have been "drop-outs" of our main history, yet others are created by various legal and economic interventions in society.

Therefore, no uniform policy is ever likely to benefit all tribal communities throughout the country. Next, if the huge work-force has to be given special skills which will improve their economic status, the existing formalities for educational advancement will have to be suspended, and a new kind of non-formal educational structure will have to be evolved. Thus special tribal academies which combine the merits of regular

schools and the open universities will have to be instituted. A National Tribal Academy, to regulate the education network will have to be created for this purpose. Similarly, those tribal communities which have become victims of the mutated gene diseases, such as the Korkus and the Bhils, will have to be provided with a special kind of health monitoring system so that the country does not quietly write off these as communities with defective genes. A close attention will have to be paid by social medicine research to the incidence of sickle cell disease.

### References

- Mishra, G.: *'The Socio-economic Background of Gandhi's Champaran Movement'*, *Indian Economic and Social History Review*, New Delhi, 1968.
- Niranjana, Tejaswini, P. Sudhir, and Vivek Dhareshwar: *Interrogating Modernity: Culture and Colonialism in India*, Calcutta: Seagull Books, 1993.
- Nuh, V. K: *Struggle for Identity in North-east India: A Theological response*, Guwahati: New Delhi: Spectrum Publications, 2001.
- Panday, Gyanendra : *The Construction of Communalism in Colonial North India*, Delhi: Oxford Univ. Press, 1990.
- Pandey, Gyanendra: *"Peasant Revolt and Indian Nationalism: The Peasant Movement in Awadh, 1919-1922."* Delhi: Oxford University Press, 1982
- Pradip Kumar: *Social Mobility and Caste Violence: A Study of the Gujarat Riots*, Delhi, Adjanta Publications, 1985.
- Ray, Ratnalekha : *Change in Bengal Agrarian Society, c. 1760- 1850*, New Delhi: Manohar, 1979.
- Sarkar, Sumit : *Modern India: 1885-1947*, Madras: Macmillan, 1983.
- Sarkar, Tanika : *Hindu Wife, Hindu Nation: Community, Religion and Cultural Nationalism*, Delhi: Permanent Black, 2001.

## **The British “Civilising Mission” and its Legacy on India’s Political Culture**

**Amar Kumar Mishra**

The rise of the British empire in the late eighteenth and early nineteenth centuries resulted in new challenges to a people who had only recently attempted to grapple with their new identity as a “British nation”, instead of separate communities with English, Scottish and Welsh origins. Britain’s colonialism, as argued by Linda Colley, evoked a sense of “British patriotism” through the domination over, and in distinction from, the millions of colonial subjects beyond their own boundaries”.

Accordingly, a sense of “Britishness” went along hand in hand with the empire that was in the making. This evoked a “civilising” belief that England should assist in advancing “backward peoples” towards greater refinement, just as the early Romans were believed to have brought civility to England. The mission originated with the conquest of Ireland, and the desire to become the “new Romans” of Europe, which justified the Irish conquest and the subjugation of foreign peoples from America to India.

In exploring the motivations behind British colonialism in India, an underlying trend can be seen in the “civilising mission” that sought to establish British institutions and ideas in place of the local political culture, through the ideological hegemony inherent in such a mission. Consequently, in examining the British colonial legacy and “civilising mission” in India, this paper proposes that although colonialism significantly transformed the political culture in India, it did not establish ideological hegemony

in the country. In order to examine the extent of political change initiated in India, it is first important to understand the reasons behind the British “civilising mission” in India. As Metcalf explains, the initial British attempts to change India’s political culture stemmed from a belief that it was in a state of “Oriental despotism”, with the legitimate royal power similar to that of a “master over a slave”. Although the ideas of “despotism” were later replaced by notions that India had been possession of laws since antiquity, the British still sought measures to successfully govern India, through imposing changes in its political culture, a desire which could be traced to the fundamental belief that it was bringing improvement to the people in India.

According to the liberal John Stuart Mill, this was because British dominion of India could rapidly carry its people through “several stages of progress”, and “clear away obstacles to improvement”. Consequently, the liberal transformation of India meant the assimilation of central British institutions onto Indian soil. Among the most important of these, were private property, the rule of law, education in Western knowledge and the liberty of the individual.

The concept of private property was introduced by the British in 1793, which differed significantly from pre-colonial days, during which land was held communally and a percentage of the produce remitted to the state. By introducing private property to India, British liberals hoped to eliminate the “parasitic” intermediaries of communal property, vesting all property rights in the actual cultivators of the soil. Moreover, as expressed by Eric Stokes, the introduction of private property was fundamental in that property rights in land were now secured and maintained by a Western law system, thereby altering the traditional modes of land tenure, which were the “heart of Indian society”.

Accompanying these policy shifts were the socioeconomic changes that resulted, as can be seen in the modifications within the class structure, which transformed former revenue-collecting officials such as the zamindars and the taluqdars into a landowning gentry. More importantly, the property laws also profoundly affected India’s power distribution, as whoever controlled the land could now control those who had no land. Consequently, the British could now rely on the new landed class to perform domestic

---

NET & JET Qualified

administrative duties such as the collection of revenue.

The rule of law was another important effect of British colonialism. Led by officials such as Warren Hastings and William Jones, efforts were made to put into place a legal system that would effectively govern India through the utilisation of the ancient Sanskrit texts as the basis of Hindu Civil Law. Fuelled by a belief in India's ancient laws rather than in its "despotic" nature, these officials sought to govern India through its own laws, which were translated into English from their original form. However, as Cohn argues, the 1864 judicial system reforms resulted in a transformation of Hindu law into a form of English case law, which was because of the establishment of authoritative decisions in English. These changes instituted the authority of precedence in making law, based on the Anglo-Saxon legal system. Consequently, the intentions of Hastings and Jones to govern India by its own laws had been supplanted by the ruling of India with English law as the law of the land. In a sense, this codification of "procedural" rather than "substantive" law enabled the British to incorporate the "spirit" of its "civilising mission". This was achieved by preserving the Indian difference expressed in the substantive codes, while at the same time assimilating utilitarian desires for precision and simplicity in law, as seen in the liberal insistence on procedural codes.

Another British institution, that of Western-style education, was deemed crucial towards the British desire to reshape India in its image. This was

because English-based education served to intermingle the codes of power and culture, in that it both brought prestige and status to those who had "even a slight command of the language", as well as imparted the culture of the coloniser onto that of the colonised. As coherently explained by Guha, Western-style education served to teach the colonised an interpretation of the past in terms of the colonisers' interests.

This was especially since the control of knowledge served as a way to retain power in the hands of those who possessed such knowledge, establishing a relationship of authority between educator and educated. As a result, the education process sought to achieve, as articulated by Thomas Macaulay, the growth of a class that was "Indian in blood and colour, but English in tastes, in opinions, in morals and intellect". This would then enable the efficient administration of India by a local educated elite, loyal to the dictates of the British Crown.

In instituting the key changes of property reforms, the rule of law and providing Indians with a Western-style of education, the British "civilising" mission hoped to impart its fourth political legacy of ensuring the liberty of the individual. This could be achieved by ensuring property rights for the individual, enacting laws to provide for the protection of the individual and making available Western-style education as a means to "improve" the quality of life of the individual. Although it can also be argued that these changes to India were effected for the British interests of efficient administration and

governance, the impact of these reforms were nonetheless important towards ensuring the liberty of the individual.

In addition to the effects of British institutions on Indian political culture, colonial rule also introduced governance structures to effectively administer to the needs of the Indian economy. These resulted in the introduction of concepts of government and foreign exchange that significantly transformed India's political culture. Of these, the most important avenues of change can be seen in the rise of the modern economy and the bureaucracy.

The roots of the modern Indian economy can be traced to changes that occurred as a result of the British introduction of private property, the rule of law, modern education and a laissez-faire economy. These changes included the free circulation of capital, productive enterprise and a system of large-scale production. In addition, British infrastructure development in the 1850s stimulated the growth of local industrial development, which laid the "foundation" for capitalist enterprise in India. Related to the development of the economy was the ascension of an Indian business class, which evolved into a powerful bourgeois class by the post-colonial era. This new class was therefore crucial in India's formative independent years, as it attempted to define a new society free from direct British influence.

The modern Indian bureaucracy, like the modern economy, developed as a result of the introduction of private property, the rule of law and modern education, as these three changes facilitated the

efficient government and administration of India by the British rulers. Consequently, in the attempt to manage India, British colonialism set in place a system of government radically different from the pre-colonial Mughal era, exercising direct control over certain parts of India, while at the same time being bound in a series of sanads or agreements with more than five hundred princely states. This dual system of government, while serving to marginal the princes from political power, also created an intricate system of government that the British used in controlling India. In this manner, the princely states served as "royal instruments without political power", with the ability to defend India militarily and at the same time checking against other states and against threats from below.

Consider the ideological effect of Britain's "civilising mission". On the surface, it can be argued that because the British were able to change India's political culture significantly, this served as the premise that ideological supremacy had been established. However, a closer examination of the "civilising mission" and its impact reveals that ideological hegemony was not established by the British. On the contrary, the British influence in India had instead conformed to the very political culture it had sought to control.

Hegemony, as defined by Gramsci, refers to the "predominance" obtained by consent rather than force through the "diffusion" and "popularisation" of its world view. Consequently, Gramscian hegemony involves the expansion of a ruling class ideology so that it is propagated

throughout society. Applying this concept to India, British colonialism would be able to gain ideological hegemony only if it was able to expand its own ideas and propagate it throughout Indian society, replacing local beliefs with British concepts. However, this proposition did not apply to the "civilising mission" in India in all four aspects of its liberal legacy. In considering the British efforts towards reforming property laws, it can be argued that by ordering the distribution of land in a manner similar to that in Britain, colonialism had perpetuated its ideological dominance on India, especially since concepts of private property remain in post-colonial India. However, contrary arguments, such as that of the "village community", have been proposed to refute such claims. This theory, as articulated by Charles Metcalfe, suggest that Indian villages exist like "little republics" which are self-sufficient and remain inert to warfare or devastation. While such ideal "village communities" are unlikely to have existed in the exact manner described by Metcalfe, the idea is credible in establishing that communalism was and is present in India. Hence, private property per se might have been a British institution established towards the achievement of control in India, but it did not disrupt the strong local networks inherent in the socioeconomic relationships of the Indian people.

### References

Kruger, A. : *Community Education in the Western World*, London, Routledge, 1990.  
 Kumari, R. : *Women-Headed Households in Rural India*, New Delhi, Radiant Publishing, 1989.

Lessinger, J. : *"Asian Indian Marriages: Arranged, Semi-Arranged, or Based on Love?"* Englewood Cliffs, NJ, Prentice Hall, 2002.  
 Lewis, Reina: *Gendering Orientalism: Race, Femininity and Representation*. London: Routledge, 1996.  
 McKay, George: *Senseless Acts of Beauty: Cultures of Resistance since the Sixties*. London Verso, 1996.  
 Mehta, R. : *Divorced Hindu Women*, Delhi, Vikas Publishing, 1975.  
 Melman, Billie: *Women's Orients: English Women and the Middle East, 1718-1918*. Macmillan, 1992.  
 Moon, Penderel: *The British Conquest and Dominion of India*. London: Duckworth, 1989.  
 Nelson, Elizabeth: *The British Counterculture 1966-73: A Study of the Underground Press*. London: Macmillan, 1989.  
 Pakem, B. : *Regionalism in India: With Special Reference to North-East India*, Delhi, Har-Anand, 1993.  
 Panikkar, Raimundo: *The Unknown Christ of Hinduism*, London 1964.  
 Peteet, Julie: *Gender in Crisis: Women and the Palestinian Resistance Movement*, Columbia University Press, 1995.  
 Prakasa, Rao : *Marriage, The Family and Women in India*, Printox, South Asia Books, 1982.  
 Rao, M. S. A.: *Social Movement and Social Transformation: A Study of Backward Class Movement*, New Delhi, Macmillan Press, 1978.  
 Sastri, A. Mahadeva : *The Vedic Law of Marriage or The Emancipation of Woman*, New Delhi, Asian Educational Services, 1918.  
 Sharma, K. L. : *Caste, Class and Social Movements*, Rawat Publications, Jaipur, 1986.  
 Silverberg, James: *Social Mobility in the Caste System in India*, Mouton Publishers, The Hague, 1968.  
 Singhal, D. P: *India and World Civilization*, Calcutta, 1972.  
 Thomas, M. M.: *The Acknowledged Christ of the Indian Renaissance*, Madras, 1976.  
 Vable, D.: *The Arya Samaj. Hindu without Hinduism*. Vikas Publ., Delhi, 1983.  
 Vir Bala Aggarwal: *Media and Society: Challenges and Opportunities*, Concept, Delhi, 2002.

# Western Education in Nineteenth- Century India

Ram Pravesh Singh

This page proposes to examine the history of English language and literature in colonial India in order to highlight why they should retain high cultural status in the post independence years. Inevitably this was an ongoing process when results of which reflect the fusion of a wide range of social, political, and cultural influences. However, it can be seen that certain policies and publications had a particular potency and effect. Through outlining the most influential of these it will be possible to register how their reverberations continue to impinge upon the social and cultural milieu of post independence India today. In the field of post-colonial studies the question of whether to write in the language of the former oppressor becomes a hotly debated subject giving rise to much difference of opinion.

### *Crucial Events in the Shaping of a Language Culture*

The Charter Act of 1813 decreed that English would be taught in the Indian education system although not as a replacement for indigenous languages. Instead, it was anticipated that English would co-exist with Oriental studies as a means by which moral law could be reinforced.

The 1817 publication of John Mill's *History Of British India* proved to be a defining text in the theories of how education policies should be formed (ed. Horace Hayman Wilson: London, Piper, Stephenson and Spence, 1858). Mill was situated firmly in the Enlightenment tradition and disdainful of notions that Indian culture and tradition was of relevant value for an advancing nation. He dismissed cultural history on the basis that it was not primarily motivated by reason and therefore was illogical, irrational and defunct. Relying on missionary accounts of Hindu society Mill condemned Indian behaviour as immoral in comparison to European codes of conduct. India

and Indians were deemed a childish, superstitious and backward nation with a huge potential for development. In the world view of Mill and others the crude emerging civilisation of India could be directed and moulded by the morally superior colonial power. Mill advocated the introduction of European knowledge to counter balance Indian traits judged to be irrational. Instilling ideals of reason would accordingly 'reform' Indians by the example of Western systems of thought and outlook. The ideas contained within the *History Of British India* discredited Indian culture, language and literature even as its assumptions of moral superiority authorise and justified the presence of the British in India.

In 1835 Lord William Bentinck revitalised the earlier Charter Act with his New Education Policy which determined that English should be the official language of the courts, diplomacy and administration. Prior to this Persian had been the accepted language of diplomacy. Bentinck's motive was ostensibly to "regenerate" society, but the ramifications were boundless. From this moment on only those with Western style education and a knowledge of English were eligible for government employment or for a career in public life. Thomas MacAuley's infamous 'Minute On Indian Education' (1835) encapsulates both the overt and covert agendas for such a policy. In 1854 Sir Charles Wood published his Education Dispatch which was aimed at widening the availability of Western oriented knowledge. Universities were established under the London examining model in Calcutta, Bombay, and Madras. However, in order to popularise this style of education and education in general, third level entry standards were lowered.

Lord Ripon's Hunter Commission of 1882 somewhat belatedly attempted to rectify the omissions of earlier policies through advocating that there should be increased provision of education at primary level and for women. The theory was that there would be a subsequent rise in the calibre of applicants for third level entry. The inevitable result was that an Indian-based education was viewed as being second rate in comparison to an English-based education. With

---

Teacher, Shri Ramavatar Singh Higher Secondary School, Barahia

the focus being on quantity rather than quality an Indian intellectual elite did not develop quite as intended. In the post mutiny era there was a fresh impetus toward Western style education as a means of control. This went hand-in-hand with widespread condemnation of traditional Indian beliefs which conflicted with the rationalist point of view.

Lord Ripon's Hunter Commission in 1882 advocated more primary and female education in order to raise third level entry standards.

### *The Cultural and Social Consequences of Such Policies*

For the aspirational Indian knowledge of English became a major tool for economic and social advancement. It was no longer essential to belong to a literary caste: rather, acquisition of English enabled the individual to transcend the formerly impenetrable barriers of caste and class. Although the first was admitted into the Indian civil service in 1864 it had been a technical possibility since 1833. The widespread dissemination of Western knowledge and literature created a climate of opinion wherein British ascendancy and power seemed to be a natural prerogative arising from a perceived and implied intellectual and moral refinement. Indians became increasingly motivated by the desire to emulate and acquire the body of knowledge which appeared to be at the roots of the coloniser's power. This attitude was promoted by the British tendency to imbue their national literature with a moral

imperative. By stressing an imaginary moral superiority the colonial administration managed to obscure the underlying motivation and reality of a first world power exploiting a technically inferior country for its own economic advantage. As MacAuley's 'Minute' shows, English literature was employed to prevent the risk of native insubordination under the "guise of a liberal education" (Viswanathan, Gauri. *Masks of Conquest: Literary Study And British Rule In India*. London: Faber, 1990).

The cultural consequences of the 1854 Education Dispatch were that the ease with which one could acquire an Indian contributed to its subsequent devaluation. A consensus of opinion arose which held that a truly educated Indian had received a university tuition in England. Third level education retained a Geographical elitism. With the focus being on quantity rather than quality an Indian intellectual elite did not develop quite as had been intended. However, official policies meant that, for the first time, Indians of differing caste and religious persuasions had access to a common language and pool of ideas. Similarities in education for Hindu, Muslim and Jain resulted in a fusion of social and cultural ideals. The formation of The Indian National Congress in 1885 reflected this cultural synthesis as it mainly consisted of Western educated lawyers, teachers and professionals who made a forward looking component of Indian society. It was this group which created the impulse and movement for the formation of an

independent India. In brief, while English language and literature had originally worked as strategies of containment they also played a significant role in the de colonising process. The reverberations of a colonial past continue to be felt as English became widespread and retained much of the aura of power and prestige.

### **Education**

From the beginning of the Central Provinces administration in 1861 social services received far less priority than other departments such as law and order. Policies and program for education, health and local government where highly coloured by and based mostly on English ideas and institutions. The purposes and structure of education as introduced closely followed British school models. So also with respect to health programs; British administrators promoted ideas and practices of contemporary Western medicine, while Hindu, Muslim, and other local practices and their doctors were disregarded. Local government suffered a similar treatment. The British made a little attempt to collect information about pre-British local governmental institutions or lend support to them. Instead, they established Municipal Committees, District Councils, and eventually a Provincial Council. These essentially British civil institutions were usually expected to be financially self-supporting and this severely limited their effectiveness. During the six decades from 1861 to 1921 these social and local government institutions

had checkered history, being alternately promoted and ignored as personnel in the provincial administration changed. As a result they affected the lives of only a small upper segment of the provincial population. This section examines the first of these three social service institutions-education.

In the 1880's the British made an assessment of education in the Central Provinces and considered the situation far from satisfactory. One report states that they found the people "thoroughly uneducated.... In no part of British India can there be found a population lower or darker in this respect." There were no places of Indian learning, "no educated youths anywhere." In the southern part of the province, for example, there were few educated Maratha Brahmins to fill government offices, so Indians were drawn from other provinces and these were considered "foreigners" during these early years. One of the assessments about education indicates the British were beginning to form an education policy which distinguished between different social classes.

Among the great agricultural community the complete preservation of the upper and middle classes is, perhaps, a happy circumstance. They are, indeed, rude and uninstructed, but they exist and maintain their relative position. In all districts there is a middle class, a degree below the upper class, but clearly above the mass of the rustic people. If this middle class can be gradually enlightened and civilized, it

will serve as a lever to lift up the mass of the people from the slough of ignorance and apathy. These British assessments reflect three implications which had significance for the future of education in the Central Provinces. First, educational efforts were to be directed mainly toward the agricultural "middle class," whom the British recorded as the village landlords or malguzars. Second, it was assumed and educated middle class would raise the lower classes from their uneducated state. Third, it was intended that at least some of the newly educated Indians, especially the Maratha Brahmins, would fill subordinate administrative posts.

Efforts to encourage education in the Central Provinces waxed and waned over the six decades. Already in the early 1860's an education department had been established with its inspectors, a few government schools and many aided schools. Chief Commissioner Richard Temple supported education declaring that "Commissioners, the Deputy Commissioners and their Assistants are as much responsible for the various Government schools, great and small in their charge, as they are for the Courts, the Jails, the Dispensaries and the District roads." There was an initial period of expansion. During the first decade (from 1862-1872) the number of all schools increased from 1210 to 1778, while the students quadrupled from 21,327 to 82,930. Many local British officials made extraordinary efforts to promote education in the late

1860's and early 1870's. Under the persuasion of district officers some Indians opened private schools. When, later in the 1870's, education began to decline, these same Indians refused to maintain their schools "except under compulsion." In that decade (1870's) educational institutions declined by 213 to 1565, while the number of students rose very slowly, from 82,930 to 89,506. One explanation for this lack of continual growth was said to be compulsive policy of the government.

### References

- Bohrer, Frederick N.: *Orientalism and Visual Culture: Imagining Mesopotamia in Nineteenth-Century Europe*. Cambridge: Cambridge University Press, 2003.
- Bose, Pradip Kumar: *Social Mobility and Caste Violence: A Study of the Gujarat Riots*, Delhi, Adjanta Publications, 1985.
- Brantlinger, Patrick: *Rule of Darkness: British Literature and Imperialism 1830-1914*. Ithaca, New York: Cornell University Press, 1990.
- Codwell, J. F. and D. S. Macleod: *Orientalism Transposed: the Impact of the Colonies on British Culture*. Aldershot, England: Ashgate, 1998.
- Dasgupta, Subrata : *The Bengal Renaissance : Identity and Creativity from Rammohun Roy to Rabindranath Tagore*, Delhi, Permanent Black, 2007.
- David, M. D.: *Western Colonialism in Asia and Christianity*, Bombay, 1988.
- Doniger, Wendy : *Textual Sources for the Study of Hinduism*, New Jersey, Barnes and Noble, 1988.
- Elliott, J. : *Action Research for Educational Change*, Milton Keynes, Open University, 1991.
- Evers, C. & Lakomski, G. : *Knowing Educational Administration*, Oxford, Pergamon, 1991.
- Gibson, R. : *Critical Theory and Education*, London, Hodder & Stoughton, 1986.

# Rammohan Roy and the Advent of Constitutional Liberalism in India

Rajesh Prasad

This paper seeks to situate the dramatic emergence of modern Indian liberal thought during the 1810s and 1820s in a wider Asian, European and American context, further developing the notion of a global or trans-national sphere of intellectual history. From the perspective of British and British imperial history, the paper contributes to the story of how provincial and overseas interests came together to construct an ideological challenge to the "despotism" of the Court of Directors of the East India Company. British radicals and the still small group of English-educated Indian public men gathered in Bombay and Calcutta viewed the Company as the epitome of metropolitan Toryism and a classic form of the "old corruption". The concern of the paper is not to insert the Indian political ideas of this period into broad, predetermined teleological categories such as "old patriotism", colonial modernity, nationalist modernity, multiple modernity and so on as historians of India have been inclined to do. Rather, it is to consider the political ideas in their own terms and in their own period, neither lauding a culturally authentic Indian renaissance nor simply treating the debates of these years as derivative of Western intellectual prowess.

Some contemporary theorists view liberalism as a general doctrine of absences: liberty from political, religious or intellectual oppression, but with little positive commitment to civic virtue. The early Indian and expatriate British liberals discussed here emerged out of a specific intellectual context. They feared the tyrannical features of the French Revolution as much as

Research Scholar, JPU, Chapra

those of the returning monarchical despotisms of 1815. Yet, though cautious, their liberalism was constructive. They were advocates of "mixed" constitutional government, republican in spirit, but leaving space for popular monarchies. They assigned a critical role to a free press and local forms of representation. They wished to build "a public" in India. But they were often conservative or, rather, Whiggish in their attitude to property, believing that large landed proprietors stabilized society, unlike their more radical successors of a few years later.

I begin with a description of a striking event that took place in Calcutta in August 1822 on the banks of the River Hughly and later in the Calcutta Town Hall. This was a celebration of the second anniversary of the proclamation of constitutional government in Portugal. It was recorded by two Calcutta newspapers, the *Bengal Hurkaru* (the word means "messenger"), a free-trading liberal newspaper, and the *Calcutta Journal*. The *Journal* was India's first daily newspaper, a radical publication edited by the later parliamentary reformer James Silk Buckingham, who was soon to be arrested and transported back to Britain by the Company's government. According to the *Journal* the huge crowd at the river included "the children of Lusitania" along with "those of Britain and India", government officials, ecclesiastics of the Roman church and other creeds wearing, unusually, the cockade symbol of liberty. Along with them stood "the enlightened Brahmin whose name is never mentioned without praise". This was Rammohan Roy, the main focus of the essay, and someone who is rightly regarded as India's first consciously modern political thinker. The *Calcutta Journal* demanded rhetorically, "who shall henceforth dare to say that Public Opinion is not favourable to the spread of liberal sentiments in India?"

The other main liberal publication, the *Hurkaru*, carried a long report on the subsequent dinner. "European Portuguese from Lisbon and the Brazils" hosted the dinner. But many local Portuguese and Eurasian Portuguese from Calcutta and the Bengal countryside attended as their guests. According to Messrs Pires and de Silva, Portugal had finally been delivered from the "thralldom of priest craft and the fetters of despotism". The Spanish nation had been the first to raise the standard of liberty in 1812, but soon, it was said, "the cause of liberty will be as famous and triumphant as in the days of Cato and Brutus". The speeches at the dinner illustrated the range of international constitutional

liberalism at this particular moment. The breadth of Iberian liberal connections across the world was also highlighted by a solemn act of remembrance of a Portuguese patriot in Goa who had been assassinated on the orders of the reactionary Portuguese monarchy, then installed in Rio de Janeiro. India indeed had direct experience of European revolutions. A series of liberal coups and monarchical counter-coups was taking place in what are now the major holiday venues of western India. Liberals in Goa, mainly creoles, who claimed descent from the earliest settlers (*luso descendentes*) had recently issued an official newspaper invoking Rousseau and stating that the "general wish" of the Portuguese people was invested in the Cortes which had ordained political change for the colony.

Speakers at the Calcutta dinner took up related struggles for liberty. There were toasts to "the Marquess of Hastings [the outgoing Governor General] and the Liberty of the Indian press" and "les lib'erales of France". Later speeches lauded Jeremy Bentham, the Carbonari and the reform of the British parliament. Mr. Patrick, an Irishman, raised his glass to Colonel James Young, the radical head of the agency house Alexander and Co., who was soon to return to Britain. A friend of Rammohan, Young later worked closely with Jeremy Bentham and Daniel O'Connell for the reform of Parliament and the Company's monopoly. Finally, "Ypsilanti and the Greeks" were remembered. Alexander Ypsilanti, a former Tsarist officer, had just invaded Ottoman Moldavia. The Greek merchants of the Indian cities awaited the liberation of their country. Greece was also on the

mind of Young Bengal. In the Hindu College, Calcutta, the young Eurasian poet and democrat Henry Derozio wrote on the heroic struggles of the Greeks through the ages and the equal greatness of ancient India. The distant connection between Greece and India was soon to be demonstrated anew in the career of Leicester Stanhope, a follower of Bentham, who agitated for the freedom of the Indian press and went on to found patriotic newspapers across Greece.

This surge of support for a wide range of constitutional liberal reforms in India, Britain, Iberia, Greece and Latin America explains why Bishop Reginald Heber described the small Bengali intelligentsia as "advanced Whigs" when he came to India a few years later. Overwhelmed by the return of reactionary governments throughout the world after 1815, liberals and radicals depicted despotisms, from the Bourbons to the Ottomans and the Tsars, as an international unholy alliance against the people. The directors of the East India Company were a willing component of this junta according to British and other European liberals and free-traders in the East. They deplored the Company's monopoly, high taxation and constant frontier wars. Any successful rebellion against autocracy across the world was therefore a cause for rejoicing in Calcutta. The Portuguese celebration was not unique. Rammohan Roy himself hosted several celebrations in Calcutta Town Hall for the Spanish, Portuguese and Latin American revolutions between 1820 and 1823. At a less heady time, on the fall of Neapolitan republic in 1821, Rammohan was so distressed that he was unable to visit his British radical friend,

Buckingham. India's dawning interest in European concepts of freedom and constitutional government was reciprocated. When Spanish reformers reissued the original 1812 Cadiz constitution, it was dedicated as follows: "Al liberalismo del noble, sabio, y virtuoso Brahma Ram-Mohan Roy". The Swiss political economist J. de Sismondi, writing later in the Paris *Revue encyclopédique*, remarked that reports of Rammohan's presence at events such as this clearly disproved the stereotype, purveyed by British colonialists, that India was doomed to social stagnation by caste prejudices against social mixing. What we see in this liberal constitutionalist moment, then, was the emergence of a small international public sphere — including Indians — that was unified not so much by coherent intellectual influence, but by political affect. This global imagining of constitutional liberty was made possible by the great expansion of the press and the idea of association at world level since the 1780s. Political theorists now fashioned their arguments against the background of displays of ritual emotion that purported to represent the people.

This essay seeks to provide a trans-national context for the political ideas of Rammohan and other early Indian liberals. Roy became an iconic figure to Indians and Britons very early on. Born into a Brahmin Mughal service family, he moved through an early phase of personal religious enquiry and become closely associated with a number of British scholar officials and Unitarian ministers in Bengal. He learnt several European languages and, by 1815, had become spokesman for a religious

tendency in Hinduism that rejected;

“idol worship” and asserted that true Hinduism was monotheistic and little concerned with issues of caste. He founded the Atmiya Sabha (Friendly Society) and later the Brahmo Samaj (Society for the Supreme Being). His opposition to the burning of widows on their husbands’ funeral pyres, *sati*, a relatively uncommon but ideologically charged practice, earned him the enmity of the neo-orthodox in Bengal. His insistence that modern Hinduism was a corrupt form of a pure and monotheistic ancient religion caused his mother to disown him and his relations to try to disinherit him. But the crusade against corrupt practices, especially widow-burning, led him to publish numerous pamphlets in English, Bengali and Sanskrit and to found the subcontinent’s earliest Indian-run newspapers.

In turn, what Rammohan and his British liberal friends took to be a reactionary and “Tory” turn in Indian government after the departure of Lord Hastings in 1818 drew him into sustained political comment on the policies of the East India Company and the British government, including its foreign policy in relation to Iberia, France and Greece. Indo-Islamic India had long had its moralists and its public critiques of authority, but the international range of Rammohan’s imagined political community made him, in effect, India’s first indigenous “public man”. He argued for restricted European colonization of India and for free trade to end the East India Company’s monopoly. He went to Europe in 1832, visiting England at the time of the Reform bills and France after the revolution of 1830. He died

in Bristol in 1833 when he was contemplating taking ship for the United States, at the behest of his Bostonian Unitarian friends.

This essay broadly accepts Bruce Robertson’s argument that the core of Rammohan’s political philosophy was the ideal of the virtuous householder striving for spiritual liberation (*mukti*) in this world according to the tradition of Vedanta. Rammohan’s version of enlightenment embraced Hindu, Muslim and Western notions of virtue. Yet though he undoubtedly contributed to their development, he was really neither a prophet of contemporary Indian secularism nor a modern cosmopolitan. In his English and Bengali writings he emerges very much as an exponent of a specific form of constitutional liberalism that flourished in the 1810s and 1820s.

Rammohan’s reading of European debates about constitutional government informed his construction of India’s past and its future. In 1822, at the height of the liberal euphoria over the Spanish and Portuguese revolutions, he published “Modern Encroachments on the Ancient Rights of Females According to the Hindu Law of Inheritance”. This tract aimed to show that it was the corrupt and defective understanding of Bengal’s Dayabhaga laws of inheritance that resulted in the practice of widow-burning, the abolition of which had become his major public project. Fully Benthamite in the sense that it argued that bad laws make a bad society, Rammohan’s interpretation was much more historicist and concerned with education than were the later utilitarians’ harder positions. He wished to

explain that India had once had a constitution and it was the decline of this constitution and its checks and balances that had sunk India into backwardness. Yet, equally, he implied that if the Indian mind had once managed to conceive the notion of constitutional balance and the separation of powers, it would one day do so again.

### References

- Majumdar, R. C.: *History of the Freedom Movement in India*, Calcutta, 1963.
- Mallik, Suneila: *Social Integration of the Scheduled Castes*. Abhinav, New Delhi, 1979.
- Moon, Penderel: *The British Conquest and Dominion of India*. London, 1989.
- Nag, Jamuna: *Raja Rammohun Roy*. New Delhi, 1972.
- Nagendranath Chattopadhyaya: *Mahatma Raja Rammohun Rayer Jiban Charit*, Calcutta, 1881.
- Niharranjan Ray: *Rammohun Roy: A Bi-Centenary Tribute*, New Delhi, 1974.
- Noorani, A.G. : *Indian Political Trials : 1775-1947*, New Delhi, Oxford University Press, 2005.
- Parmaji, S.: *Caste Reservations and Performance*, Mamata Publications, Warangal, 1985.
- R. C. Majumdar: *British Paramountcy and Indian Renaissance*, Bombay, 1963.
- Rammohan Ray: *The Essential Writings of Raja*, Bruce Carlisle Robertson. Delhi, 1999.
- Rao, M. S. A.: *Social Movement and Social Transformation: A Study of Backward Class Movement*, MacMillan Press, New Delhi, 1978.
- SD Collet: *Life and Letters of Raja Rammohun Roy*, Calcutta, 1914.
- Sharma, K. L.: *Caste, Class and Social Movements*, Rawat Publications, Jaipur, 1986.
- Sharma, Kusum : *Ambedkar and Indian Constitution*, New Delhi, Ashish, 1992.
- Silverberg, James: *Social Mobility in the Caste System in India*, Mouton Publishers, The Hague, 1968.
- Sivnath Sastri: *History of the Brahmo Samaj*, Calcutta, 1911.
- V. C. Joshi: *Rammohun Roy and the Process of Modernization in India*, Delhi, 1975.

# India's De-industrialisation in the 18th and 19th Centuries

Anjana Kumari

The idea that India suffered de-industrialisation during the 19th century has a long pedigree. The image of skilled weavers thrown back on the soil was a powerful metaphor for the economic stagnation Indian nationalists believed was brought on by British rule. However, whether and why de-industrialisation actually happened in India remains open to debate. Quantitative evidence on the overall level of economic activity in 18th and 19th century India is scant, let alone evidence on its breakdown between agriculture, industry, and services. Most of the existing assessments of de-industrialisation rely on very sparse data on employment and output shares. Data on prices are much more plentiful, and this paper offers a new (price dual) assessment of de-industrialisation in 18th and 19th century India supported by newly compiled evidence on relative prices. A simple model of de-industrialisation links relative prices to employment shares. We think the paper sheds new light on whether and when de-industrialisation happened, whether it was more or less dramatic in India than elsewhere, and what its likely causes were.

The existing literature primarily attributes India's de-industrialisation to Britain's productivity gains in textile manufacture and to the world transport revolution. Improved British productivity, first in cottage production and then in factory goods, led to declining world textile prices, making production in India increasingly uneconomic (Roy 2002). These forces were reinforced by declining sea freight rates which served to foster trade and specialisation for both Britain and India. As a result, Britain first won over India's export market and eventually took

over its domestic market as well. This explanation for de-industrialisation was a potent weapon in the Indian nationalists' critique of colonial rule (see *e.g.* Dutt 1906/1960, Nehru 1947). The historical literature suggests a second explanation for de-industrialisation in the economic malaise India suffered following the dissolution of Mughal hegemony in the 18th century. We believe the turmoil associated with this political realignment ultimately led to aggregate supply-side problems for Indian manufacturing, even if producers in some regions benefited from the new order. Like the first, a third explanation for India's de-industrialisation also has its roots in globalisation forces: India's commodity export sector saw its terms of trade relative to textiles improve significantly in the late 18th century and it drew workers away from textiles. We will argue that these explanations are complementary and that each makes a contribution to our overall understanding of India's de-industrialisation experience.

Before proceeding to our argument and evidence, we first offer a precise definition of de-industrialisation and elaborate on its likely causes. We develop some initial intuition using a simple 2-good 3-factor framework. Suppose an economy produces two commodities: agricultural goods, which are exported, and manufactured goods, which are imported.

Suppose it uses three factors of production: labour, which is mobile between the two sectors; land, which is used only in agriculture; and capital, which is used only in manufacturing. Further suppose that this economy is what trade economists call a "small country" that takes its terms of trade as exogenous, dictated by world markets. Given these assumptions, de-industrialisation can be defined as the movement of labour out of manufacturing and into agriculture, either measured in absolute numbers (what we call strong de-industrialisation), or as a share of total employment (what we call weak de-industrialisation). While de-industrialisation is easy enough to define, an assessment of its short and long run impact on living standards and GDP growth is more contentious and hinges on the root causes of de-industrialisation. One

---

Hotel Mithilanchal, Adampur Chowk, Bhagalpur

possibility is that a country deindustrialises because its comparative advantage in the agricultural export sector has been strengthened by productivity advance on the land at home or by increasing openness in the world economy, or both. Under this scenario, GDP increases in the short-run. If productivity advance on the land is the cause, nothing happens to the terms of trade unless the small country assumption is violated, in which case they deteriorate. If increased openness is the cause, the country enjoys an unambiguous terms of trade improvement as declining world trade barriers raise export prices and lower import prices in the home market. Whether real wages also increase depends on the direction of the terms of trade change and whether the agricultural good dominates workers' budgets. Whether GDP increases in the long run depends on whether industry generates accumulation and productivity externalities that agriculture does not. If industrialisation is a carrier of growth-as most growth theories imply-then de-industrialisation could lead to a growth slowdown and low-income equilibrium that gives the idea of de-industrialisation its power in the historical literature. A second possibility is that a country deindustrialises due to a deterioration in home manufacturing productivity and/or competitiveness. In this case, and still retaining the small country assumption, nothing happens to the terms of trade, but real wages and living standards will deteriorate, and

so will GDP. The economic impact of de-industrialisation from this source is unambiguous.

In order to make this theoretical framework flexible enough to handle the causes of de-industrialisation we believe most important, we need to add a non-tradable grain sector. The three sectors considered in the rest of the paper are: agricultural commodity exports, which are tradable on world markets and include industrial intermediates (such as raw cotton and jute) and high-value consumer goods (such as opium and tea); manufacturing, which is primarily textiles and metal products and is also tradable; and grains, which are non-tradable and include rice, wheat and other food staples.

We will build up our account of India's de-industrialisation as follows. In Section 2 we present a theoretical narrative of India's de-industrialisation experience, drawing on evidence from the historical literature. Section 3 reviews existing attempts to measure India's de-industrialisation. We then present a simple general equilibrium model of de-industrialisation in Section 4 to formalize our predictions about relative prices and their relationship to employment shares. Section 5 presents three price series-commodity agricultural exports ( $p_C$ ), manufactured textiles ( $p_T$ ) and non-tradable grains ( $p_G$ ), three intrasectoral terms of trade series- $p_C/p_T$ ,  $p_C/p_G$  and  $p_T/p_G$ , three wage series-the grain wage, the own-wage in the import competing sector, and

the own-wage in the export sector, and the external terms of trade. We will then assess this evidence in relation to the theoretical narrative and model, and also compare the relative price experience of India with its primary competitor during this period, England. Section 6 compares India's deindustrialising terms-of-trade shocks with those from other parts of the periphery, and section 7 concludes.

### *A Narrative Account of India's De-industrialisation*

Our narrative account of India's de-industrialisation embraces the three contending de-industrialisation hypothesis, and traces the roots of de-industrialisation well back into the 18th century. Two continent-wide political changes ground our understanding of India's 18th century: The dissolution of the Mughal empire into a constellation of small successor states followed after a time by the initial phase of reintegration of these states under the East India Company. Historians have long thought that India saw an overall economic decline during the 18th century, following the collapse of Mughal authority. This proposition has recently become controversial, and we will stake out our position in favour of it below.

We believe the dissolution of Mughal hegemony affected manufacturing through several channels. The first was a reduction in overall agricultural productivity. Reduced agricultural productivity would be reflected in an increase of the price of grain, the key non-tradable, and therefore

in the relative price of non-tradeables to tradables (such as textiles). To the extent that grain was the dominant consumption good for workers and that the grain wage was close to subsistence, this negative productivity shock should have put upward pressure on the nominal wage in cotton spinning and weaving. Cotton textile wages started from a low nominal but high real base in the mid-18th century (Parthasarathi 1998; Allen 2001). Competitiveness in textile manufacturing is negatively related to the own real wage  $w/pT$ , the nominal wage divided by the price of textiles. Declining textile prices and rising nominal wages put downward pressure on "profits" from both below and above. If India experienced it, an increase in the own wage in textiles would have hurt the competitive edge India had relative to its 18th century competitors in third-country export markets, such as the booming Atlantic economy. A decline in 18th century agricultural productivity in India suggests that even before factory-driven technologies appeared between 1780 and 1820, Britain was already beginning to wrest away from India its dominant grip on the world export market for textiles.

We are not the first to exploit the connection between labour productivity in pre-industrial agriculture, nominal wages in manufacturing, and the resulting competitiveness in world markets for manufactures. Alexander Gerschenkron (1962) and W. Arthur Lewis (1978: chp. 2) have both used the argument to

good effect in explaining why low productivity in agriculture helps explain the absence or delay of industrial revolutions. More recently, Prasannan Parthasarathi (1998) has argued that while low nominal wages in precolonial and early colonial India gave it the edge in world textile markets, living standards for labour in the south of India were just as high as that in the south of England. Indian productivity was higher in foodgrain production, and thus foodgrain prices were lower.

Historians have traditionally viewed India's 18th century as a dark era of warfare, political chaos, and economic decline sandwiched between stable and prosperous Mughal and British hegemonies. This view has been vigorously challenged by the most recent generation of Indian historians, who have emphasised the continuities between the earlier Mughal and later British states and the constellation of small successor states that emerged with the ebbing of Mughal power (e.g. Alam 1986, Bayly 1983, Marshall 1987). The largest of these successor states were the former Mughal provinces of Bengal, Awadh, Benaras, and Hyderabad. There were many smaller ones as well. Their rulers were former provincial governors, Mughal officials, and other men powerful enough to assert de facto sovereignty. They collected the land revenue, sometimes using a modification of the old Mughal system, but submitted less and less of it to Delhi in favour of building up their own armies and courts.

## References

- Bhagwati, Jagdish: *India in Transition: Freeing the Economy*, Oxford, Clarendon Press, 1993.
- Mehta, Uday: *Liberalism and Empire: A Study in Nineteenth-Century British Liberal Thought*, Chicago: University of Chicago Press, 1999.
- Bookman, Zarkovic: *The Political Economy of Discontinuous Development: Regional Disparities and Inter-regional Conflict*, New York, Praeger, 1991.
- Bowen, H. V.: *Business of Empire: The East India Company and Imperial Britain, 1756-1833*, Delhi, 2006.
- Burton, S.: *Thomas Munro: The Origins of the Colonial State and His Vision of Empire*, Delhi: Oxford University Press, 1989.
- C. L. Sien.: *Developing Economies and the Environment: the Southeast Asian Experience*, New York, 1979.
- Caplin, A. and Schotter, A.: *The Foundations of Positive and Normative Economics*, New York, Oxford University Press, 2008.
- Chaudhuri, Pramit: *The Indian Economy: Poverty and Development*, New York, St. Martin's Press, 1979.
- Clive W. J.: *Empirical Modeling in Economics, Specification and Evaluation*, London, Cambridge University Press, 1999.
- Das, Kishore: *Economic History of Mughal India: An Annotated Bibliography, 1526-1875*, Calcutta, Santiniketan, 1991.
- Dhingra, C.: *The Indian Economy: Resources, Planning, Development, and Problems*, Delhi, Sultan Chand, 1983.
- Edminster, R.O.: *Financial Institutions, Markets and Management*, McGraw Hill, New York 1986.
- Farquhar, J.N.: *Modern Religious Movements in India*, Munshiram, New Delhi, 1967.
- G. Balachandran: *India and the World Economy, 1850-1950*, Oxford University Press, 2005.
- Ghosh, Aruna: *Agrarian Structure and Peasant Movements in Colonial and Post-Colonial India (An Annotated Bibliography)*, Calcutta: K.P. Bagchi and Company, 1990.

## **Land Tenure System in India: A Historical Perspective**

**Dr. Pawan Kumar**

The history of mankind is intimately associated with land relationship. The role of the State had been the most controlling factor in augmenting the land resources. In agrarian economy the land is the principal source of government revenue and also the major occupation of the people for subsistence. It holds true even today in modern India. The level of Indian economy is largely decided by the status of land. Frederic Engels in his classical treatise on 'Origin of Family, Private Property and State', discussed how the land relations activated the social transformation. Individual rights on holding/ inheritance of land is a major event of social history. The kind and, the ruling elite were dependent on income from land and so controlled the entire land holding, either directly or indirectly. Sometimes the land disputes led to war on a local or regional scale.

Institutions framed rules for systematic distribution of lands. Institutional framework had been different on temporal and regional scale. Technology also played a key role in devising modalities for prospective utilisation of land initiating cascading effect for social and economic transformation.

### *Significance of Land*

Land is a fixed asset on the surface of the earth. It can neither be enlarged nor reduced under natural conditions. But the land surface, when subject to human use, may be deteriorated. The deterioration of land may lead to many maladies, including abandonment of its use for prospective agriculture and other functional uses. Being a fixed asset land deserves regulations for

optimum utilisation. The pressure on land is ever increasing. The population explosion in the later half of the twentieth century has caused several constraints for the utilisation of lands. The experts are recommending appropriate policies for scientific use of lands. For framework of such policies we require relevant information on lands, which are usually available from land records and other sources.

### *Importance of Land Records*

Land records are of great importance. Land information from the basis for assignment and settlement of land titles, which are subject to legal scrutiny. The holding of land is controlled by statutory laws by the state at a given point of time. The access to land is determined by ownership patterns, based not only on statutory laws, but also on customary laws in many cases. India has a long tradition of customary laws in diverse regions of the country.

The land tenure systems were different in different historical periods, as the form of institutions changed in the historical context. The land tenure systems laws in many cases. India has a long tradition of customary laws in diverse regions of the country. The land tenure systems were different in different historical periods, as the form of institutions changed in the historical context. The land tenure systems also differed from region to region. This holds true even today due to prevalent diversity of the country like India. The importance of land records was recognised even in the past, as it is today. The state largely depended on land revenues for administrative, military and other necessary expenditure. In a democratic polity there have been more stress in evolving a comprehensive system for land management. At various stages of history the level of technology played a significant role in devising the modalities for land records.

### *History of Land Records*

#### *Pre-British India*

We have little understanding on land records and tenure system prior to Muslim rule in India. The land belonged to "King" and the property rights of individuals were not specified. Vincent Smith observed, "The native law of India has ordinarily recognised agricultural land as being crown property". (Smith, 1924) The observation by Vincent Smith was also contested. The

---

Vill.+P.O.- Bishanpur, Dist. Muzaffarpur

Arthashastra (Kautilya) has evidence of the cultivator being able to sell and alienate his land. But it also states of the right of the king to replace him in his holding if he fails to pay the rent. This is like a double ownership, as prevalent in British India. In many cases the land also belonged to the community or headman of the village. Muslim 'rule' in India continued from the thirteenth to the eighteenth century. Exception for a few decisions concerning the giving of land as gifts to relatives, generals, or artists, the State's fundamental interest was with assessing, measuring, and collecting the Sovereign's share of the revenue generated from agricultural production. As long as this revenue was collected without much trouble most, though certainly not all, aspects of village life were left to local elites, traditions, and culture. The village had more autonomy in the Mughal period than in the British Raj. The British historian W.H. Moreland defines it as "administrative Philanthropy". (Moreland, 1929).

During the rule of Muslim the king used to collect tax from the land, but the propriety was vested to the peasant, the tiller of land. "The King's right to levy tax was justified by the fact that he gave his subjects protection: there is no suggestion here of the king's right to eject the peasant from his holding; the peasant's right is based on the same basis as the merchant's right to merchandise; as the payment of a tax did not interfere with the proprietary rights of a merchant, similarly the peasant did not lose his right over holding because he paid a tax." (Quereshi, 1956).

This attitude of the Muslim ruler towards the holding by the peasant was natural, as the Muslim legal system recognised that the cultivator was the owner of the land. The ownership of the land by the peasant was such an established principle in Muslim law that hitherto it had never been questioned. The Mughals organised that land revenue system following the footholds of Sher Shah Suri. They found the principal structure of agrarian base well established. The Mughals during the reign of Emperor Akbar, the great Mughal, moderately revised and integrated the system for efficient land revenue collection. They understood that in a dominant agrarian economy the organisation of land administration would be more effective. The Mughals introduced the systems of sharing, appraisal and measurement. Emperor Akbar considered such agrarian reforms as important task for his own reasons. The Mughal empire during his reign was expanding and he had to maintain large number of officers for military and administration. Akbar introduced the Mansabdari system and tied the system, with land revenue collections. He was compelled to initiate reforms in administration and land revenue system, otherwise the conditions threatened to be more chaotic.

Akbar's mission was fulfilled by his trusted officers like Raja Todarmal and Muzaffar Khan who effected a major change in the system of revenue collection. Raja Todarmal was instrumental in survey. A compendium of land records was prepared through collection of data from the field

and entered in a register. It was really a beginning of systematic land records in India for which the British also owe to the Mughals. The dahshala or 10 year revenue system (Census) was the contribution of Raja Todarmal, who along with Diwan Shah Mansur divided the Mughal empire into 12 provinces, each administered by a governor and a Diwan. On the basis of land survey Raja Todarmal prepared the maps showing different holdings and assessed rents, which probably were the first cadastral maps in India. In 1571 he introduced the rational revenue assessment based on intimately surveyed land holdings. It was a revolutionary task in the context of technological level, then prevalent in India. The contribution was no less worthy in the historical context, when at the same period Mercator in 1669 published his world map, using conformal projection in his chart showing 'waxing latitudes'. Mercator was endowed with expanding horizon of scientific knowledge in Europe in the late 16th century, where Raja Todarmal had many hurdles.

The Mughals applied new techniques for land survey. Firstly, they adopted standard units of measurement. A yard, called a Gaz, was introduced consisting of forty one digits. A bigha was measured as equal to an area sixty yards square. The reform was not only confined in adopting a new scale, but in standardising the existing ones. The old practice of measuring length with a rope was replaced with bamboo poles. Because the rope used to shrink when it came in contact with moisture. Instead 'Bamboo rods joined together with iron rings were used which were less affected

by moisture'. (Abul-Fazl (Ed.Beveridge), 1939).

The Mughals under the leadership of Raja Todarmal, the revenue and finance minister of Akbar, also instituted the classification of lands for assessment of revenues. The assessment of rent varied for different types of land. Basically the length of the period of cultivation was considered for a land classification. Where a land had been continuously cultivated, it was classified as Polaj land. When it was left uncultivated for a short period to regain fertility it was defined as parauti. When a land was not cultivated for a stretch of three to four years, it was categorised as Chachar. The wastelands, abandoned for cultivation for many years, were called the Banjar.

The land revenue was highest for the Polaj lands, as the yields were usually high from such lands. The parauti land when cultivated was charged the same revenue that of Polaj land. The Mughals encouraged the conversion of wastelands into cultivated lands. The Banjar lands, when brought under cultivation, used to pay nominal taxes in the initial years. The Chachar land was treated similarly like the Banjar land.

The Mughals were keen to expand cultivated area and extended special concessions to the cultivators for bringing new areas under cultivation. The new areas were shown separately in the statements submitted to the higher authorities. The authorities were vigilant to expand the cultivated land, in no case the cultivated land should be permitted for degradation into chachar and Banjar lands. The

land policy of Akbar was peasant's friendly. He introduced the quality assesment to ensure enhanced land revenue for his expanding empire. But in no case he overburdened the cultivators. The officers were given farman to protect the crops and interest of the peasants. The peasant society in pre-British India had more autonomy and was adored with respect and admiration.

### *British India*

The British domination over Indian land started in the seventeenth century and by the end of that century the British rule extended over large areas with the fall of Mughal empire, defeat of the Marathas and subjugation of local powers. The British inherited the institutional form of agrarian system from the Mughals. The British superimposed a system over the existing pattern in tune with British customs and laws relating land. Broadly three principal types of land revenue system were introduced in British India. The basic characteristic of each system was the attempt to incorporate elements of the preceding agrarian structure. The interaction of colonial policy and existing systems produced widely different local results and hybrid forms. It is interesting to note that the techniques used in land surveying in many parts of India even today remain substantially unchanged since their introduction by Raja Todarmal during the reign of Mughal Emperor Akbar. Different land revenue systems were introduced in various parts of British India, as the British annexed different parts of India in various periods. Let us have an introduction into

three broad land revenue systems introduced by the British. These land revenue systems are (1) Zamindari System, (2) Ryotwari System and (3) Mahalwari System.

### *References*

- Milica, Zarkovic: *The Political Economy of Discontinuous Development: Regional Disparities and Inter-regional Conflict*, New York, Praeger, 1991.
- Mongia, J.N.: *India's Economic Development Strategies, 1951-2000 A.D.*, New Delhi, Allied, 1986.
- Polak, J.J. : *The New International Monetary System*, New York, Columbia University Press, 1978.
- Ray, Ratnalekha : *Change in Bengal Agrarian Society, c. 1760- 1850*, New Delhi: Manohar, 1979.
- Robert Eric : *Land Control and Social Structure in Indian History*, Madison: University of Wisconsin, 1969.
- Robert Z. Aliber: *The International Market for Foreign Exchange*, New York, Praeger, 1969.
- Sankaran, S: *Indian Economy: Problems, Policies and Development*, Margham Publications, Delhi, 1994.
- Schumpeter, J. A., *The Theory of Economic Development*, Harvard University Press, Cambridge, Massachusetts, 1934.
- Silverberg, James: *Social Mobility in the Caste System in India*, Mouton Publishers, The Hague, 1968.
- Smith, V. L.: *Papers in Experimental Economics*, Cambridge, Cambridge University Press, 1991.
- Swoboda, A. : *Monetary Problems of the International Economy*, Chicago, University of Chicago Press, 1969.
- Thomas R. : *Land, Landlords and The British Raj: Northern India in the Nineteenth Century*, Berkeley: UCP, 1976.
- Tietenberg, Tom, *Environmental Economics and Policy*, New York, HarperCollins, 1994
- Tinbergen, Jan.: *On the Theory of Economic Policy*; Amsterdam, North-Holland 1952.
- Tomlinson, B. R.: *The Economy of Modern India, 1860-1970*, The New Cambridge History of India, Delhi, 1996

# Origins of Guru-Shishya Parampara in Ancient India

Dr. Chandrika Sah

Our great sanathana darma tradition has been enriched by the Guru-Sishya relationship. Lord Rama's greatness lay in His relationship with His most loyal disciple Hanuman who taught the essence of Ramanamamritim. Lord Krishna gave us the Bhagavad Gita, thanks to his devoted and most trusted disciple Arjuna. Saint Ramakrishna Paramahansa gave to the world Swami Vivekananda who in turn gave to the world the Ramakrishna Mission, embodying the soul of India. Saint Thyagaraja, an avatar of Sage Valmiki, composed hundreds of soulful Krithis in praise of God. Two Krithis, in particular, refer to the GURU'S role in guiding the seeker on the right path. Guru leka in 'Gowrimanohari' raga is a Krithi in which the Saint of Thiruvaiyar sings how one who is trapped in the jungle of desire, can come out of it with help of the right Guru. Saint Thyagaraja says however learned and good a person might be, life would be meaningless without the guidance of a Satguru. In another Krithi, Sri Naradamuni Gururaya ganti in Bhairavi raga, Thyagaraja explains how Satguru Smaranam helps one in getting rid of ignorance.

### History

Parshvanatha, the twenty-third Tirthankar, is the earliest Jain leader who can be reliably dated. As noted, however, Jain mythology asserts that the line of Tirthankars began with Rushabhdeva; moreover, Jains themselves tend to believe that Jainism has no single founder, and believe that Jainism is the one of the world's oldest religions, predating Hinduism. According to scholars, Parshvanatha probably lived in the 9th Century BCE. In the sixth century BCE, Vardhamana Mahavira became one of the most influential

Jainism teachers. He built up a large group of disciples that learned from his teachings and followed him as he taught an ascetic doctrine in order to achieve enlightenment. The disciples referred to him as Jina, which means "the conqueror" and later his followers would use this title to refer to themselves. It is generally accepted that Jainism started spreading in south India from the third century BCE. i.e. since the time when Badrabahu, a preacher of this religion and the head of the monks' community, came to Karnataka from Bihar.

Kalinga (modern Orissa and Osiaji) was home to many Jains in the past. Rushabh, the first Tirthankar, was revered and worshipped in the ancient city Pithunda. This was destroyed by Mahapadma Nanda when he conquered Kalinga and brought the statue of Rushabhanatha to his capital in Magadh. Rushabhanatha is revered as the *Kalinga Jina*. Ashoka's invasion and his Buddhist policy also subjugated Jains greatly in Kalinga. However, in the 1st century BCE Emperor Kharvela conquered Magadha and brought Rushabhnath's statue back and installed it in Udaygiri, near his capital, Shishupalgadh. The Khandagiri and Udaygiri caves near Bhubaneswar are the only surviving stone Jain monuments in Orissa. Earlier buildings were made of wood and were destroyed.

Deciphering of the Brahmi script by James Prinsep in 1788 enabled the reading of ancient inscriptions in India and established the antiquity of Jainism. The discovery of Jain manuscripts has added significantly to retracing Jain history. Archaeologists have encountered Jain remains and artifacts at Maurya, Sunga, Kishan, Gupta, Kalachuries, Rashtrakut, Chalukya, Chandel and Rajput as well as later sites. Several western and Indian scholars have contributed to the reconstruction of Jain history. Western historians like Bühler, Jacobi, and Indian scholars like Iravatham Mahadevan, worked on Tamil Brahmi inscriptions.

### Geographical Spread and Influence

Jainism has been a major cultural,

philosophical, social and political force since the dawn of civilization in Asia, and its ancient influence has been noted in other religions, including Buddhism and Hinduism. This pervasive influence of Jain culture and philosophy in ancient Bihar may have given rise to Buddhism. The Buddhists have always maintained that during the time of Buddha and Mahavira (who, according to the Pali canon, were contemporaries), Jainism was already an ancient, deeply entrenched faith and culture there. Over several thousand years, Jain influence on Hindu philosophy and religion has been considerable, while Hindu influence on Jain rituals may be observed in certain Jain sects. Certain Vedic Hindu holy books contain beautiful narrations about various Jain Tirthankaras (e.g., Lord Rushabdev). There have been no wars fought in the name of Jainism.

For instance, the concept of *puja* is Jain. The Vedic Religion prescribed *yajnas* and *havanas* for pleasing the gods. *Puja* is a specifically Jain concept, arising from the Kannada words, "pu" (flower) and "ja" (offering).

There are many Jain communities in different parts of India and around the world. They may speak local languages or follow different rituals but essentially follow the same principles.

Outside India, the United States, United Kingdom, Canada and East Africa (Kenya, Tanzania and Uganda) have large Jain communities. The first Jain temple to be built

outside India was constructed and consecrated in the 1960s in Mombasa, Kenya, although Jainism in the West mostly came about after the Oshwal and Jain diaspora spread to the West in the late 1970s and 1980s. Jainism is presently a strong faith in the United States and several dozen Jain temples have been built there. American Jainism accommodates all the sects. Smaller Jain communities exist in Nepal, South Africa, Japan, Singapore, Malaysia, Australia, Fiji, and Suriname. In Belgium the very successful Indian diamond community, almost all of whom are Jain, are also establishing a temple to strengthen Jain values in and across Western Europe.

### **Denominations**

It is generally believed that the Jain *sangha* divided into two major sects, Digambar and Svetambar, about 200 years after Mahavira's nirvana. Some historians believe there was no clear division until the 5th century. In the book *Outlines of Jainism*, it states, "It seems certain that even at the time of Mahavira the two sects were in existence, though he was able to maintain at least a semblance of unity between them. The final 'parting of ways' came much later". The best available information indicates that the chief Jain monk, Acharya Bhadrabahu, according to the Svetambara version of the split between the two sects, foresaw a 12-year famine and led about 12,000 Digambar followers to southern India. Twelve years later they returned to find the Svetambara sect, and in 453 the Valabhi council edited and

compiled the traditional Svetambara scriptures.

The differences between the two sects are primarily minor and relatively obscure. Digambar Jain monks do not wear clothes because they believe clothes, like other possessions, increase dependency and desire for material things, and desire for anything ultimately leads to sorrow. Svetambar Jain monks, on the other hand, wear white, seamless clothes for practical reasons, and believe there is nothing in Jain scripture that condemns wearing clothes. Sadhvis (nuns) of both sects wear white. In Sanskrit, *ambar* refers to a covering generally, or a garment in particular. *Dig*, an older form of *disha*, refers to the cardinal directions. *Digambar* therefore means "covered by the four directions", or "sky-clad". *Svet* means white and Svetambara wear white garments.

There is one major difference between the sects. Digambara believe that women cannot attain moksha in the same birth, while Svetambara believe that women may attain liberation and that Mallinath, a Tirthankar, was a woman. The difference is because Digambar asceticism requires nudity. As nudity is impractical for women, it follows that without it they cannot attain moksha. This is based on the belief that women cannot reach perfect purity (*yathakhyata*), "Their lack of clothes can, therefore, be a hindrance to their leading a holy life". The earliest record of this belief is contained in the Prakrit Suttapahuda of the Digambara mendicant

Kundakunda (c. second century A.D.). This of course has extreme consequences for women and effectively polarises the two sects in this regard. Digambaras believe that Mahavir was not married, whereas Svetambaras believe Mahavir was married and had a daughter. The two sects also differ on the origin of Mata Trishala, Mahavira's mother.

Digambaras believe that only the first five lines are formally part of the Namokara Mantra (the main Jain prayer), whereas Svetambaras believe all nine form the mantra. Other differences are minor and not based on major points of doctrine. Excavations at Mathura revealed many Jain statues from the Kushana period. Tirthankaras, represented without clothes, and monks with cloth wrapped around the left arm are identified as Ardhapalaka and mentioned in some texts. The Yapaniya sect, believed to have originated from the Ardhapalaka, follows Digambara nudity, along with several Svetambara beliefs.

Svetambaras are further divided into sub-sects, such as Sthanakavasi, Terapanthi and Deravasi. Some are *murtipujak* (revering statues) while non-Murtipujak Jains refuse statues or images. Svetambaras follow the 12 *agam* literature (voice of omniscient).

Most simply call themselves Jains and follow general traditions rather than specific sectarian practices. In 1974 a committee with representatives from every sect compiled a new text called the Samana Suttam.

*Digambara* is one of the two main sects of Jainism, the other being Svetambar. Until the leadership of Acharya Bhadrabahu, there was no significant division. After that some divisions gradually arose. Generally Digambar monks wear no clothes (*digambar* = sky clad) whereas Svetambar (*svetambar* = white clad) monks usually wear white clothes.

Although Senior Digambar monks wear no clothes, following the practice of Lord Mahavira, they do not consider themselves to be nude. Rather, they are wearing the environment, that is the quintessential, akasha or space. Digambaras believe that this practice represents a refusal to give in to the demands of the body for comfort and private property. Only Digambara ascetics are required to forsake clothing and not the laity. Digambara ascetics have only two possessions: a peacock feather broom and a water gourd. Conversely, Svetambara monks usually wear white maintaining that nudism is no longer practicable. While there are some differences in some practices, the main principles of each sect such as Mahavratas, Anuvratas and so forth are the same.

### References

- Nakasone, R. Y. : *Ethics of Enlightenment: Essays and Sermons in Search of a Buddhist Ethic*, Fremont, Ca.: Dharma Cloud Publishers, 1990.
- Nikam, N. A. and R. McKeon : *The Edicts of Asoka*, Chicago and London: University of Chicago Press; Reprint, Midway, 1978.
- Norman, K. R. : *The Word of the Doctrine*, London: Pali Text Society, 1998.

- Obeyesekere, G. : *Meditation on Conscience*, Social Scientists' Association of Sri Lanka, Occasional Papers, 1988.
- Pande, G. C. : *Sramana Tradition: Its History and Contribution to Indian Culture*, Ahmedabad: L.D. Institute of Indology, 1978.
- Patil, Bal : *Jaya Gommatesa*, Mumbai: Hindi Granth Karyalaya, 2006.
- Prasada, Ajit : *Purushartha Siddhyupaya of Amrtacandra*, New York, 1974.
- Prebish, C. S. : *Buddhist Monastic Discipline: The Sanskrit Pratimoksha Sutras of the Mahasanghikas and Mulasarvastivadins*, University Park and London: Pennsylvania State University Press, 1975.
- Pye, M. : *Skilful Means: A Concept in Mahayana Buddhism*, London: Duckworth, 1978.
- Saddhatissa, H. : *Buddhist Ethics: Essence of Buddhism*, London: George Allen and Unwin, 1970.
- Sanghvi, Sukhlal : *Commentary on Tattvarthasutra of Vacaka Umasvati*, Ahmedabad: L. D. Institute of Indology, 1974.
- Smart, Ninian : *Doctrine and Argument in Indian Philosophy*, London: George Allen & Unwin, 1964.
- Subhuti, Dharmacari : *Sangharakshita: A New Voice in the Buddhist Tradition*, Birmingham: Windhorse Publications, 1994.
- Swearer, D. K. : *The Buddhist World of Southeast Asia*, New York: State University of New York Press, 1995.
- Tatia, Nathmal : *Studies in Jaina Philosophy*, Fremont, CA: Jain Publishing Co, 2006.
- Thomas, Edward J. : *The Life of Buddha as Legend and History*, London: Routledge, 1975.
- Wayman, A. : *Ethics of Tibet: Bodhisattva Section of Tsong-Kha-Pa's Lam Rim Chen Mo*, Albany: State University of New York Press, 1991.
- Wijayaratna, M. : *Buddhist Monastic Life: According to the Texts of the Theravada Tradition*, Cambridge: Cambridge University Press, 1990.
- Yoe, S. : *The Burman, His Life and Notions*, London: Macmillan, 1910.

# History

## Early Buddhist Tradition on the Origin of the Mahayana Sutras

Dr. Dayanand

The various early Buddhist schools (including Theravada) declared the Mahayana sutras to be heretical, saying they are late compositions which were never proclaimed by the historical Buddha. They claimed that Mahayana sutras contain various untruths and falsifications, and therefore do not represent the life and teachings of the historical Gautama Buddha.

That the members of the Early Schools felt this way is also evident in some early Mahayana Sutras, in which “disbelieving” members of the Early schools are condemned for their rejection of the Mahayana Sutras as authentic teaching of the Buddha.

### **Mahayana Tradition on the Origin of the Mahayana Sutras**

Mahayana Buddhists traditionally believe that the Mahayana sutras, with the possible exception of those with an explicitly Chinese provenance, are an authentic account of the life and teachings of the Buddha. These sutras form the basis of the various Mahayana schools, and devotees of Mahayana Buddhism accept them as transmitting the genuine doctrines of Gautama Buddha. Mahayana Buddhists believe the Mahayana Sutras present the more profound teachings of the Buddha and the path he revealed (Buddhadharma). Mahayana Buddhists accept both the older sutras from the Tipitaka as well as the new Mahayana sutras as original teachings, even though they generally do not study the teachings of the older sutras well since the Mahayana Sutras teach that the older sutras are incomplete. The traditional telling about the

transmission of the Mahayana sutras claims that many parts were actually written down at the time of the Buddha and stored for five hundred years in the realm of the nagas (serpent like supernatural beings who dwell in another plane of being). The reason given for the late disclosure of the Mahayana teachings is that most people were initially unable to understand the Mahayana sutras at the time of the Buddha (500 BCE) and suitable recipients for these teachings had still to arise amongst humankind.

One Mahayana tradition holds (based on the Sandhinirmocana Sutra) that Gautama Buddha’s teachings may be divided into three general hierarchical categories, known as the “three turnings of the wheel of dharma” – the Hinayana turning, and two Mahayana turnings: the *Prajna Paramita* (Perfection of Wisdom), and Yogacara. The Mahayana Sutras would thus belong to the two later turnings, and not form part of the ‘Hinayana’ turning.

The Japanese scholar-monk D.T. Suzuki states that it doesn’t matter if the Mahayana Sutras can be historically linked to the Buddha or not, since Mahayana is a living tradition and its teachings are followed by millions of people.

Other teachers take the view that all teachings that stem from the fundamental insights of Gautama Buddha constitute Buddhavacana (the Buddha’s speech), whether they are explicitly the historical words of the Buddha or not. There are scriptural supports for this perspective even in the Pail Canon. There the Buddha is asked how the disciples should verify, after his death, which of the teachings circulating are his. In the Mahaparinibanna Sutta (DN 16) the Buddha is quoted as saying: “There is the case where a bhikkhu says this: ‘In the Blessed One’s presence have I heard this, in the Blessed One’s presence have I received this: This is the Dhamma, this is the Vinaya, this is the Teacher’s instruction.’

His statement is neither to be approved nor scorned. Without approval or scorn, take careful note of his words and make them stand against the Suttas (discourses) and tally them against the Vinaya (monastic rules). If, on making them stand against the Suttas and tallying them against the Vinaya, you find that they don’t stand with the Suttas or tally with the Vinaya, you may conclude: ‘This is not the word of the Blessed One; this bhikkhu has misunderstood it’ – and you should

---

Daudpur Kothi, MIT, Muzaffarpur

reject it. But if... they stand with the Suttas and tally with the Vinaya, you may conclude: 'This is the word of the Blessed One; this bhikkhu has understood it rightly.'"

The Pail Canon itself is a reconstruction of the Buddha's life, composed and organized to be easily chanted and transmitted orally, not to be a word for word record of what the Buddha said. The Pail contains a fair amount of "supernatural" and hagiographical material, and was finalized centuries after the Buddha's death. On this basis it is arguable that the "fictional" aspect of the Pail Canon versus the Mahayana scriptures is a matter of degree, and the true criteria of what counts as the Buddha's word is as said above in the Mahaparinibbana sutta: those teachings that are deemed by the inquirer to be consistent with the intention and content of the earliest records.

### *Nature of the Mahayana Sutras*

#### **Diversity**

The teachings as contained in the Mahayana Sutras as a whole have been described as a loosely bound bundle of many teachings, which was able to contain the various contradictions between the varying teachings it comprises. Because of these contradictory elements, there are very few things which can be said with certainty about Mahayana Buddhism.

#### **Polemical**

Part of many Mahayana Sutras contains a polemical section of varying length, criticizing either the earlier doctrine of the "Hinayana" for

being limited or its followers for being unable to understand or accept the Mahayana teachings due to fear, arrogance, or ignorance.

#### **Collections of Mahayana Sutras**

The Mahayana Sutras survive predominantly in primary translations in Chinese and Tibetan from original texts in Buddhist Hybrid Sanskrit or various Prakrits. From these Chinese and Tibetan texts, secondary translations were also made into Mongolian, Korean, Japanese and Sogdian.

#### **Mahayana Canon**

Although there is no definitive Mahayana canon as such, the printed or manuscript collections in Chinese and Tibetan, published through the ages, have preserved the majority of known Mahayana sutras. Many parallel translations of certain sutras exist. A handful of them, such as the Prajnaparamita sutras like Heart Sutra and the Diamond Sutra, are considered fundamental by most Mahayana traditions. The standard modern edition of the Buddhist Chinese canon is the Taisho Tripitaka, redacted during the 1920s in Japan, consisting of eighty-five volumes of writings which, in addition to numerous Mahayana texts, both canonical and not, also include Agama collections, several versions of the Vinaya, Abhidharma and Tantric writings. The first thirty-two volumes contain works of Indic origin, volumes thirty-three to fifty-five contain works of native Chinese origin, volumes fifty-six to eighty-four contain works of Japanese composition. the eighty-fifth volume contains miscellaneous

items including works found at Dunhuang. A number of apocryphal sutras composed in China are also included in the Chinese Buddhist Canon, although the spurious nature of many more was recognized, thus preventing their inclusion into the canon. The Sanskrit originals of many Mahayana texts have not survived to this day, although Sanskrit versions of the majority of the major Mahayana sutras have survived.

#### **Divisions**

Mahayana sutras are divided into a number of traditions. Some, like the Prajnaparamita sutras, are almost completely philosophical in nature. Others are texts based on lives of Bodhisattvas and Buddhas outlining their vows for sentient salvations, or are made for the benefits of suffering beings. The later two classes usually contains specific dharana and mantras.

#### **References**

- Cook, Francis H. : *Hua-yen Buddhism: The Jewel Net of Indra*, University Park, PA: Pennsylvania State University Press, 1977.
- Dutt, Nalinaksha : *Aspects of Mahayana Buddhism and its Relation to Hinayana*, London: Luzac, 1930.
- Ellen Meiksins Wood : *Peasant-Citizens and Slave: The Foundation of Athenian Democracy*, London, 1989.
- Falk, Harry : *Asokan Sites and Artefacts - A Source-book with Bibliography*, Mainz : Philipp von Zabern, 2006.
- Gimello, Robert and Peter N. Gregory : *Studies in Ch'an and Hua-yen*, Honolulu, HI: University of Hawaii Press, 1983.
- Griffiths, Paul J. : *On Being Mindless: Buddhist Meditation and the Mind-Body Problem*, La Salle, IL: Open Court, 1986.

## Economy in Sangam Age

Manish Kumar Sharma

The economy of the ancient Tamil country (Sangam era: 200 BCE – 200 CE) describes the ancient economy of a region in southern India that covers the present-day state Tamil Nadu. The main economic activities were agriculture, weaving, pearl fishery, manufacturing and construction. Paddy was the most important crop; it was the staple cereal and served as a medium of exchange for inland trade. Pepper, millets, grams and sugarcane were other commonly grown crops. Madurai and Urayur were important centers for the textile industry; Korkai was the centre of the pearl trade. Industrial activity flourished. Inland trading was conducted primarily through barter in busy market places by merchant associations and commercial lending institutions. Merchants formed associations that operated autonomously, without interference from the state.

The people of ancient Tamil country engaged in brisk overseas trade with Rome; the trade reached a peak after the discovery of a direct route for merchant ships between Tamilakam and Egypt, taking advantage of the monsoon winds. Pepper, pearls, ivory, textiles and gold ornaments were exported from Tamilakam, and the main imports were luxury goods such as glass, coral, wine and topaz. Foreign trade brought in a large amount of internationally convertible Roman currency.

The state played an important role in building and maintaining infrastructure such as roads and ports—funded through taxation—to meet the needs of economic and social activity. Wealth was unequally divided among the people, giving rise to distinct economic classes.

### Agriculture

During the Sangam age, 200 BCE-200 CE, agriculture was the main vocation of the Tamils. It was considered a necessity for life, and hence

was treated as the foremost among all occupations. The farmers or the *Ullavar* were placed right at the top of the social classification. As they were the producers of food grains, they lived with self respect. Agriculture during the early stages of Sangam period was primitive, but it progressively got more efficient with improvements in irrigation, ploughing, manuring, storage and distribution. The ancient Tamils were aware of the different varieties of soil, the kinds of crops that can be grown on them and the various irrigation schemes suitable for a given region.

### Land Classification

Among the five geographical divisions of the Tamil country in Sangam literature, the Marutam region was the most fit for cultivation, as it had the most fertile lands. The prosperity of a farmer depended on getting the necessary sunlight, seasonal rains and the fertility of the soil. Among these elements of nature, sunlight was considered indispensable by the ancient Tamils, because if rains fail other methods of irrigation could be put to use and if the soil wasn't naturally fertile, artificial manuring would enrich the soil. They differentiated the lands on the basis of fertility and accordingly cultivated the crops that were best suited for the kind of soil.

They were *Vanpulam* (hardland), *Menpulam* (fertile land), *Pinpulam* (dry land) and *Kalarnilam* or *Uvarnilam* (salty land). *Vanpulam* in Mullai and Kurinji regions did not yield rich produce, whereas in *Menpulam* the yield was very good. Dry crops were cultivated on *Pinpulam*, because of the limited irrigation facilities. The *Kalarnilam* was unfit for cultivation. Some of the types of soil known to the people of this age were the alluvial soil, red soil, black soil, laterite soil and sandy soil and they knew what crops could be grown on each type of soil.

### Land Ownership

The king owned a lot of land, but was not the sole landlord, as he had donated lands to poets, brahmins, schools, hospitals and temples. The bulk of the agriculturists were cultivators of their own plots of land. They were the tillers of the soil and were known by different names—*Ulutunbar* or *Yerivoalnar*, because they subsisted through the end of the plough, *Vellalar* because they were considered proprietors of water and *Karalar* or *Kalamar* which meant ruler of the clouds. Women

Research Scholar, BRA Bihar University, Muzaffarpur

cultivators were called *Ulathiar*. Among the *Vellalars*, the higher class people subsisted on the produce from the lands they owned whereas the lower class people had to work on the lands to earn their livelihood. The higher class *Vellalars*, besides holding the land, held high offices under the king, discharging civil and military duties, and assumed titles of *Vel*, *Arasu*, *Kavidi* and had matrimonial alliances with the royal family.

Apart from the traditional landlords and cultivators, there were absentee landlords too. There are various instances in which the kings donated tax-free lands to poets, brahmins, educational institutions and hospitals. Lands given to brahmins was known *Brahmateya*. When lands were gifted to brahmins and poets, these donees quite often left the donated lands in the hands of tenants or farm laborers.

The terms of tenancy in respect of such cultivation are not known. Sometimes independent laborers were engaged for specific purposes and were known as *Adiyor*. Regardless of the nature of ownership, ranging from great landlords who owned vast stretches of land to an ordinary cultivator who owned a tiny piece of land, there was a feeling of pride in the fact that they were the producers of food.

Land, the immobile property, and its produce were both taxable, as the king was owed a share for being the administrator of the land. Landlords and Peasants paid the tax-the land tax was known as *Irai* or *Karai* and the tax on produce was called *Vari*. It is believed that one-sixth of the

produce was collected as tax. During times of floods and famines, cultivation was much affected and the kings were known to be kind enough to make remissions.

Taxes were collected by revenue officials known as *Variya* and *Kavidi* and they were assisted by accountants called *Ayakanakkar*. There were graneries, known as *Kalanjiyam*, in public places as well as in the houses of the farmers to store excess grain so that people did not suffer in times of floods or famines. The *Manram* (council) of the village took necessary decisions to safeguard the interests of the people.

For surveys and taxation purposes, various measurements were used to measure the land and its produce. The small land was known as *Ma* and bigger one as *Veli*. One *Veli* was equal to a hundred *Kuli*. The produce was measured using cubic-measures such as *Tuni*, *Nali*, *Cher* and *Kalam* and weight-measures such as *Tulam* and *Kalanju*. Common vessels used for measuring grains were *Ambanam*, *Nazhi* and *Padakku*, which was equivalent to two *Marakkals*. The cubic measurements were of the shape of a wine cask with a broader waist and slightly narrow bottom and top. They were tightened and fixed by metallic bands. A balance known as *Tulakkol* was also in vogue.

### **Produce**

The ancient Tamils cultivated a wide range of crops such as rice, sugarcane, millets, pepper, various grams, coconuts, beans, cotton, plantain, tamarind and sandalwood. Paddy was the

main crop and different varieties of paddy such as *Vennel*, *Sennel*, *Pudunel*, *Aivananel* and *Torai* were grown in the wet land of Marutam. *Sennel* and *pudunel* were the more refined varieties. In a very fertile land, a *Veli* of land yielded 1000 *Kalam* of paddy. The peasants lived under the shady groves beyond the Marutam land. Each house had jack, coconut, palm, areca and plantain trees. Turmeric plants were grown in front of the houses and flower gardens were laid in between the houses.

The Mullai people undertook the cultivation of fruit trees and crops for cattle. The sugarcane producers even employed mechanical contrivances to extract juices from it. In some plots, rotation of crops was followed-cotton and millets were grown simultaneously on a plot and after that, beans were cultivated on the same land. There, generally, was surplus from the produce. Each village was almost self sufficient and if necessary people bought additional commodities from neighbouring villages. Such trade happened under the barter system, with paddy and salt being used as the medium of buying and selling.

The agricultural surplus produced by the villages is one of the reasons for the growth of urban centers in ancient Tamilakam. According to Dr. Venkata Subramanian, "*Towns can emerge precisely at the moment when the agriculturists start producing a surplus that can sustain basically 'Non-productive urban residents'*". The king also depended on this surplus, since the soldiers and workers were paid in kind, i.e. grains. These

factors ensured adequate demand for the produce, which in turn accelerated cultivation.

### **Techniques and Tools**

The Tamil people practiced a very systematic method of cultivation during the Sangam age. It was known that ploughing, manuring, weeding, irrigation and crop protection need to be followed in a proper way for the yield to be rich. Tiruvalluvar, in his *Tirukkural*, emphasizes the need for all of these steps to be undertaken in a careful manner in order to get a good yield.

A paddy field was also known as *Kalam* and was ploughed with the help of oxen. Ploughed lands were leveled by the peasants using their feet, followed by the planting of the paddy seeds. Once the seeds grew into saplings, they were transplanted and when the crop was mature, it was harvested. Weeds were removed periodically. Paddy was removed from the harvested stalks by beating on the ground or by getting bullocks to tread on them.

Cleared paddy was collected, measured and stored in proper containers. Millets were grown on the *Pinpulam* or the dry lands and in the Kurinji region. Crop rotation was followed - for instance, cotton and millets were grown simultaneously on the same plot and after that, beans were cultivated on it.

A wide range of tools needed for agriculture, from ploughing to harvesting, were manufactured. The basic tool was a plough also known as *meli*, *nanchil* and *kalappai*. It consists of a wooden plank to tie the oxen and an iron bar

attached to the plank, that tilled the land. This tool helped to bring the low-lying soil to the upper layer and send the top layer to the bottom, thereby aerating the land. For digging earth, a spade with wooden handle and a sharp terminal was used. A wooden leveler known as *palli* or *maram* was used to level the ploughed land. *Palliyadutal* refers to the process of removing weeds by means of a toothed implement attached to a plank and drawn by oxen. Farmers used a bullock-propelled contrivance called *Kapilai* for bailing out water from deep wells and a manual setup called *Erram*, for shallow wells. Water bales were also known as *ampi* and *kilar*. Protecting the standing crops from stray animals and birds was an important activity and was carried out by young girls and lower-class peasants.

While the young girls used rattles to scare birds away, the *Kuravan* and *Kurathi* used a stone-sling device called *Kavan* to drive away elephants and birds. It is said that an accurate shot from the sling could even kill an animal. Bugles and burning torches were other mechanisms used to keep wild animals away from the fields. Sickles were used for harvesting fully grown paddy and reaping the ripe ears of corn. The paddy grain was separated by thrashing the sheaths on the ground. Ears of millets were stamped on by farm workers and that of black gram were beaten by a stick.

### **References**

Allan, John: *Catalogue of the Coins of Ancient India*, London, 1967.  
Altekar, A.S. : *State and Government in Maurya Kingdoms*, Delhi, 1958.  
Avari, Burjor: *India: The Ancient Past*,

London: Routledge, 2007.

Barnett, L. D. : *Satavahana and Satakarni, Bulletin of the School of Oriental studies*, Cambridge University Press 1938.

Birendra Kumar: *Early Chalukyas of Vatapi, circa A.D. 500 to 757*, Delhi, Eastern Book Linkers, 1991.

Cribb, Joseph: *The Indian Coinage Tradition: Origins, Continuity & Change*, British Academy, 1991.

David F. : *Emptiness Appraised: A Critical Study of Nagarjuna's Philosophy*, New York: Routledge Curzon, 1999.

Ernst, W. and B. Pati : *India's Princely States: People, Princes and Colonialism*, London, 2007.

Franklin Edgerton : *Buddhist Hybrid Sanskrit Grammar & Dictionary*, South Asia books Delhi, 1998.

Geshe Kelsang : *The Bodhisattva Vow: The Essential Practices of Mahayana Buddhism*, London: Tharpa, 1996.

Goyal, S.R. : *Kautilya and Megasthenes*, Kusumanjali Praksshan, Meerut, 1985.

Hardaker, T.: *Ancient Indian Silver Punchmarked Coins*, Maghada-Maurya Series , London, 1985.

Huntington, Susan: *The Art of Ancient India: Buddhist, Hindu, Jain*, Boston: Weatherhill, 1985.

Jaini, P S : *Gender & Salvation: Jaina Debates on the Spiritual Liberation of Women*, University of California Press, 1991.

Jin Park : *Buddhisms and Deconstructions*, Rowman & Littlefield Publishers, 2006.

K. N. Jha, : "Chanayka: The Pioneer Economist of the World", *International Journal of Social Economics*, 1998.

Kailash Chand : *Lord Mahavira and His Times*, Delhi, 1974.

Kamaleswar, B. : *The Dialectical Method of Nagarjuna*, New Delhi: Motilal Banarsidass, 2002.

Kangle, R. P. : *The Kautiliya Arthasastra : Part H-An English Translation With Critical and Explanatory Notes*, Motilal Banarsidass Publishers Pvt Ltd, Delhi, 1972.

Koenraad, E.: *Update on the Aryan Invasion Debate*, New Delhi, Aditya Prakashan, 1999.

# Textile Industry in Gujrat under Great Mughal though the Traveller's Account

\* Dr. Ravi Shankar Kumar Choudhary

\*\* Richa Rani

Before the appearance of the Europeans, the overland and the sea born trade of the country, were carried on by the Muslim merchants. The Muslim merchants were mostly Arabs. With the coming of Europeans, the textile trade of Gujarat, particularly the textile trade and industry made a very superfluous prominence. Ovington remarked that the Surat craftsman could produce as fine specimen as imported from Europe.<sup>1</sup>

The contemporary Persian sources are quite silent about this particular industry. But the deficiency is filled up, in the accounts of the foreign travellers and the Factory Records of the different companies of India. For better treatment of the subject, the period under review may be divided into two halves; i.e. from the beginning of the 17<sup>th</sup> century to the outbreak of famine in Gujrat in 1630-1632<sup>2</sup> and from 1632 to the rest of the period.<sup>3</sup>

The sea-route that had been dominated by the Arab merchants, prior to the coming of the Portugueses in the 16<sup>th</sup> Century, the commerce between Gujrat and Europe became much more intimate. The Portugueses confined themselves only to the coastal areas of Gujrat and they had seldom penetrate into the interior parts of Gujrat, Cambay and Ahmedabad. It may be that they

were satisfied with those areas could provide their needs. They were far more satisfied in issuing passes to the other ship in lieu of money for their protection in the high sea against piracy. It may also be due to their commercial interest also. As soon as the Dutch, the English and then after the French came to India, the picture changed. Their excessive demand for cotton goods and indigo opened up many new markets and stimulated its production.<sup>4</sup> But it should be borne in mind that this intensive prosperity in the trade of textiles and indigo of Gujrat had not been caused by any innovation in technology or instrument for brisk production, but it was the outcome of the settlement of the weavers in Gujrat migrating from Sind. Weaving and not cultivation was preferred as means of profession.<sup>5</sup>

While chronicling the textile industry and consequently its trade, Moreland stated the principal centres for cotton manufacture and its trade are (I) the Indus plane with its outlet of the part of Lahri Bander, (II) the country round the Gulf of Cambay as far as Dabul, (III) the Coromandal Coast and (IV) Bengal, the second one, that is, Gujrat was the centre of the largest trade of all, drawing goods from Ahmedabad, Pattan, Baroda. Broach and Surat and many other small places and exporting largely to East as well as West.<sup>6</sup> Salbanky mentions a village Gandevi and Surat, where there was large number of weavers and spinners "manufacturing much calico cotton cloths."<sup>7</sup> He also speaks about the villages named Naben, Daytat and Natherbari, as the important producing marketing centres for cotton goods in between Agra and Surat road.<sup>8</sup> Mahmudabad, near Surat produced the cotton goods so much in abundance that it alone could meet the demand of Gujarat.<sup>9</sup> Amedabad, the provincial capital of Gujarat, was the chief textile producing centre, and it was celebrated ".....for its commerce and manufactures in cloths of gold and silver, fine silk and cotton fabrics."<sup>10</sup>....." Both narrow and long 'baftas', white and coloured are sold here, but those are "not available at all time".<sup>11</sup> The 'Cintz' produced here was also famous and the same was being

\*Guest Faculty, Deptt. of History, T.N.B. College, T.M.Bhagalpur Univ. Bhagalpur

\*\*Research Scholar, Deptt. of History, T.M.B.U., Bhagalpur

sold at Japan.<sup>12</sup> Being a halting station in between Surat and Ahmedabad, Broach was an emporium of calicos, which used to come from the neighbouring areas. It was famous for the bleaching of the cotton goods. The Gujarat bleachers, famous for this particular job, were found in existence as far as in Java in 1642. The English factors at Bombay, in 1669, asked the Surat factors to send some bleachers there. But on the ground of adequate work here at Broach and its neighboring areas, the bleachers refused to go there. Moreover, the other cause of their denial was that the water of Broach was far more suitable than that of Bombay in the act of bleaching.<sup>13</sup> The unbleached calicos of Ahmedabad and Baroda came over here to be bleached. But during the famine (1630-32), the English factors decided not to depend on Broach for "Bleaching and washing", as "sufficient workman were available there."<sup>14</sup> Apart from bleaching of calicos, Broach was also noted for coloured cloths, as there lived many dyers. Broach 'baftas' could be found both bleached and unbleached; white and coloured. According to the English factors, Broach textiles were the 'best' and were superior both in quantity and quality.<sup>15</sup> Although Hamilton (1685) and Carrie (1695) praised highly of Broach baftas and said that the country produced the best textiles in the world and it was also the best center for the production of coloured calicos, yet it could not retain its glory of the hoary past as the 'best' producing center through out

our period. Some calamities and the oppression of the feudal lords "not only depleted their numbers, but left them no incentive for producing more."<sup>16</sup>

Next to Broach, Baroda was renowned for its textiles production. The Europeans, having failed to meet craving for woven fabric goods, turned their attention towards Baroda. But according to their specification the quality brought forth here was not up to the mark.<sup>17</sup>

The piece goods manufactured at Surat and Rander were in great demand in the East India and they were easily saleable at Aching, Batavia and Bantam.<sup>18</sup>

The climatic and the nature of the soil of Gujarat was not suitable for sericultural industries. This industry found a suitable home at Kasimbazar in Bengal.<sup>19</sup> Of the total produce at Kasimbazar, nearly half or one third of the amount came to Surat and Ahmedabad for the production of finer silks.<sup>20</sup> So, Surat and Ahmedabad became the chief centres for this particular industry,<sup>21</sup> Cambay from the very ancient time was the another centre of production.<sup>22</sup>

The manufacture of silk cloth is very old in Gujarat. Duarte Barbosa referred to the weaving of silk cloths and coloured velvets in the city of Cambay.<sup>23</sup> Mendelso writing in 1658, mentions "There is not a manner any nation nor any merchandis in all Asia, which may not be had in Ahmedabad", and he continues in saying that quantity of gold

and silver brocades are made in silk and yarn"<sup>24</sup>. Taveanier writing in the 4<sup>th</sup> decade of the 17<sup>th</sup> Century, gives us a more accurate and vivid description about this particular industry in Surat and Ahmedabad. He says "All these silk (Kasimbazar) are brought to the Kingdom of Gujarat and the greater part Ahmedabad and Surat, where they are woven into fabrics. Firstly carpets of silk and silver and others altogether of silk are made in Surat. In the second place, bonds of gold and silver and others with bonds of different colours are made there and it is the same with 'taffets', Thirdly 'Patoles', which are stuffs of silk, very soft, decorated all over with flowers of different colours are manufactured at Ahmedabad."<sup>25</sup> Thevenot (1666), writing about the mid sixties of seventeenth century, does not forget to mention the silk goods, amongst other things.<sup>26</sup> Manucci, who had been in the Mughal Empire a pretty long time, while telling about other things and happenings of the century also adds "In this country there is prodigious quantity of gold and silver cloths and flowered silks."<sup>27</sup>

We may assume that there was no marked change in the handloom industry from the early time the discovery of weaving and spinning machines.<sup>28</sup> It is quite likely that the process of manufacture was quite the same in our period as it was in the past.

The raw cotton after being collected from the fields, is cleared and segregated from seeds. The same was then spun

for obtaining the yarn. The spinning was an easy job and was done by women.<sup>29</sup> These were brought to the market for sale.<sup>30</sup> A metropolitan Market, Surat had a number of weaving centers within a radius of twenty miles.<sup>31</sup> The yarn were then bought by the weavers and then woven in their cottages. Thus it shows that the weavers were not independent of the spanners and there was an intensive specialization and division of labors. The European marchants used to by these yams from the market of Broch,<sup>32</sup> Ahmedabad,<sup>33</sup> Baroda,<sup>34</sup> and from a village near Surat.<sup>35</sup> In 1630. the weavers of Broach put up a petition before the local authority against the English as they purchased all the yarns brought to the livelihood.<sup>36</sup> The same thing was also stated by the weavers at Surat, who followed suit as done by the Broch weavers.<sup>37</sup> This shows clearly the manufacture of cotton goods in Gujrat was under two distinct processes,<sup>38</sup> the artisan system and the Karkhana syste.<sup>39</sup> In the former system, the weavers procuring the yarns from the local market manufactured the cotton goods in their own looms in their own houses. Regarding this system Moreland remarked that "..... the management of the business had not been separated from the work of manufacture and the production was carried on by the craftsman without superior capitalist direction".<sup>40</sup> But for certain varieties and special size of cotton goods order was placed along with money advanced beforehand in the weavers. In August 22, 1622,

the Broach factors reported that the narrow '*baftas*' were easily available. For the broader ones money was to be advanced before hand and that the supplies were uncertain as it depended on the 'sweet will' of the weavers.<sup>41</sup> In the later system, we find that the cotton goods were supplied by the private establishments. These were supervised and maintained by the high officials and other export traders, which justifies the existences of private barchans or workshops in the Mughal period. The raw materials were supplied to these karkhanas by the private individuals and the artisans' work there was conducted as per direction of their employer. On the other hand, these individuals might have trade privately and they employed several agents or *gomosthas* to buy the finished goods from the market on their own account. Although Moreland has stated about the existence of these private workshops yet it is his half-hearted acceptance, as in another place he has stated "Our authorities say nothing about them".<sup>42</sup> But Moreland's view can not be taken for granted, as the records of the English Factors say that the goods are coming from the 'prince's Sarkar', Ishaq bag's Sarkar', etc,<sup>43</sup> and that there were these 'private karkhanas' in existence where as the weavers had to work according to the direction of their employers. The English factors, in 1664, reported that the goods exported to the markets of Persia, Bussorah and Mochas could not be sold there as those were not well starched and

glazed. In order to make the cloths sold there, the weavers were reluctant to alter their looms according to the requirements and choice of the European Companies, as they were fully employed "in weaving Sunday sorts of goods for the markets of Mocha, Bussorah, etc."<sup>44</sup>

For the bleaching of calicos, there was a particular group of workmen, who<sup>45</sup> after adding lime and some other ingredients to the cloths boiled them and washed in river of a pond, after beating it vigorously over a stone with a bettle. Broach was the famous bleaching centre, Tavernier says that the water of the river Narbada had a peculiar characteristic of bleaching calicos.<sup>46</sup> Bleaching was a profitable business too. Cotton goods from Ahmedabad used to come to Broach to be bleached there. The Governor of Broach prohibited the bleachers from enhanced rate.<sup>47</sup> The English factors at Surat, wrote in 1639 that "The town (Broach) yet retained its wanted perfection and has the preformance before all other places; although the ancient making of calicos became what adulterated".<sup>48</sup> After bleaching, the painting was done by another class of craftsmen called '*Bhadsar*'.<sup>49</sup> Mahmudabad and Amedabad were famous for printed cloths and '*chintzs*'.<sup>50</sup> But due to the repression of the local Governors, the English factories were compelled to leave Ahmedabad in 1670.<sup>51</sup> Broach was also famous for its different varieties of printed textiles till

the sixth decade of seventeenth century, when after it gave way to Surat. A special variety named '*Tapsil*' manufactured at Surat, and '*Allijah*' which had so long been the prime commodity of Broach, now became the important commodity of Surat.<sup>52</sup> The dyeing was done by another class of craftsman. We do not have reference about the name of the caste to which the dyers belonged. Ahmedabad is famous dying centre. Not being satisfied with the works of the local dyers of Ahmedabad the English factors decided to dye their clothes in their own workshops and under their own supervision. They purchased local the craftsmen used to work either in their ownhouses or in the royal Karkhanas, as Moreland remarked, "...the management of business had not been separated from the work of manufacture and the production was carried on without superior capitalist direction".<sup>53</sup> Here the artisans are not doing their job "under the compulsion" as they did in the royal Karkhanas<sup>54</sup> but they are selling their labor and skill in lieu of wages. This signifies the case of capitalist production and the process of transmission from the feudal mode of production to the capitalist made pointed out by Marx who says "The merchants establishes direct sway over production" But at the same time he also states that "...it does not by itself attain the transformation of the old mode of production, but tends rather to preserve and retain it as its precondition----- This system faces everywhere a

bottleneck to the real capitalist mode production and gives under with its development".<sup>55</sup> In defining the capitalist production Marx says "Capitalist production really begins when each individual capital employs simultaneously a comparatively large on an extensive scale and yields relatively quantities of products. A greater number of laborers working together at the same time in one place (or if you will in the same field of labour) in order to produce the same sort (commodity under the mastership of one capitalist constitutes historically and logic the starting point of capitalist production."<sup>56</sup> Thus we see that the foreign capitalistic production was emerging into the society, where the relation was not based on money or market but, "the relation is based on the realisation a particular made of production in which the producer is separated from his tools so that he himself a wage labour".<sup>57</sup> A wage labour, according to Marx, is one who sells his labour power to capital.<sup>58</sup>

The very system of production in textile at that time marks a division of labour at all stages, i.e. from the very making of the yarn to its finished stage, such as, weaving, bleaching, dyeing, printing, etc. Not more then a single operation was done by one individual craftsman. Considering the industries of the Maghal India, Orme regretted in saying "Here one man makes all parts himself; by which he becomes exceedingly viable to

oppression ; for once his single person is secured, all that is necessary is secured," yet he had to change his view as he says that "...it is contrary to a weaver: to this trade six or seven hands contribute."<sup>59</sup> There were different craftsmen who were specialized in particular job. In textile industry both the division of labour and specialization in particular job juxtaposed and there was much co-operation from each other. Mandelso states that "the finished goods must pass through three or four hands before it is finished."<sup>60</sup> In August, 1622, the Broach factors wrote that the narrow baftas were available, but for the broad baftas, money had to be advanced beforehand and the supply was made at the sweet will' of the weavers and brokers.<sup>61</sup> It shows that the specialist for a particular job did not bother for anything and they work only of their own accord causing the demand of a specialist for the particular job. In Gujarat we also find that the artisans are working under the same roof and in co-operation with others as if in according with Marx's remark "when numerous labourers work together side by side; whether is one and the same process or in a different but connected process they are gaid to co-operate or work in cooperation."<sup>62</sup>

In Mughal India, the mode of production involved, as we have already seen, many intermediate stages and the separation of function had a marked bearing on life both social and technical. Here both

system, the individual production system and the mass production system prevailed. For individual production system in Mughal India, most of the craftsman had to perform all the functions singly and so they were subject to various kinds of cruelty by the oppressive officials who lorded over them for their own interest.<sup>63</sup> Moreover, as pointed out by Bernier, "the artisans were destitute of tools".<sup>64</sup> Here the question naturally arises, then how the textile industry of Gujarat rose to prominence in those days, despite these obstacles? The only one answer to this question speaks of the migration of the other section of people to this particular trade. The Parsis who had so long been the cultivators, now 'adapted weaving as their profession' and they 'acquired great skill in it',<sup>65</sup> for which Ovington could not help praising them as the finest weavers of Gujarat.<sup>66</sup> In 1734, the weavers migrated from Ahmedabad and settled themselves at Surat, but then again we find that after three years, some of these migrated weaving families have been recruited by the English factory at their settlement in Bombay<sup>67</sup> which fact had a subsequent approval are carried on by each family as subsidiary Industries.<sup>68</sup>

Notwithstanding the development of the textile industry in Gujarat in the seventeenth century, it had suffered much due to several causes. The industry first suffered its set back in the year 1630-32, when there was a great

famine and the vast track of land from Gujarat to Golconda became 'a Charnal House.' From the eighties of the seventeenth century, there were constant Maratha raids in Gujrat and particularly on Surat, In 1772, the company's broker complained that the weavers got much disturbed due to Maratha raids and then again in 1725 they stated that the printers were escaping from village to village with their unfinished goods on their back in order to get rid of the raiders.<sup>69</sup> At their settlement in Madras, the English found that the calicos manufactured at Madras and no the East Coast of India had demand in the European markets and those were comparatively cheaper than those manufactured at Gujarat, and they began to purchase the same from there.<sup>70</sup> Moreover, in 1668-70, the Emperor increased the rate of taxes as much as 50% on the Hindus on the sale of their goods resulting in the enhancement of the general prices of all things and affecting the trade of cotton goods also.<sup>71</sup> Apart from all these there was the exploitation from the nobility also through out our period. The mughal officials were the first purchaser of these textile though they were hardly traders in right earnest. The actual profit used to be derived by these nobility and court favourit most of their income was the outcome of their exploitation and much more they earn direct trade.<sup>72</sup> The Governor of Broach had forbidden the purchase of any textiles his *torne* (rum) be served.<sup>73</sup> The officials also

wanted to squeeze as much they could from the brokers. The Governor of Combay wanted to have the half share of broke in all from purchase; and in order to get it he ordered that all the brokers there in the town should maintain an account of their daily purchase and should show the same to him; and none should be allowed to sell anything any where but in the market.<sup>74</sup> This evidence show that there was a monopoly or control over this particular trade, prohibiting the free sale of the article.

At Cambay, the Governor ordered that 'Duties' and 'Alleges' should be sold to nobody but to him, and when the weavers and local merchants protested against this nefarious practice: they were "unjustly whist and imprisoned."<sup>75</sup> In some cases, special taxes were also levied on the workers of the cotton or silken stuffs and they were at the mercy of the licensing authority; who used to issue licenses for the sale of these goods.

Tavernier stated, "these workers (Cotton and silken Stuffs) before exposing anything for sale have to go to him, who holds the contract; in order to get the king's... impressed on the pieces of calicos or silk, otherwise they are fined and flogged."<sup>76</sup> Considering all these facts, 'we may conclude that the prosperity enjoyed by the weavers of Gujarat as a result of the calico export trade much beyond the reign of Shah Jahan.'<sup>77</sup>

## Referances :-

1. Ovington, J.A. *Voyage to Surat in the year*, ed by H.C. Rawlinson, London, 1929 p.78
2. Commissariat, M.S. *History of Gujarat*, Vol. II.p.295.
3. Pires, Tome, *The same Oriental Tome Pires*, Vol. I, p.38, London 1944.
4. Pavolov, *Indian Capitalist Class*, p.78. New Delhi. 1964.
5. Enthoven, R.E : *The Tribe and Caste of Bombay*, Vol.11, p.206, Bombay 1920-1922,
6. Moreland, W.H.; *India at the Death of Akbar*, Delhi, 1962, p. 182
7. John Joyrdain, *Journal of Jourdain (1608-1617)* Ed. Foster, W.p. 128 note I., Cambridge, 1965.
8. Ibid: pp. 82-88.
9. Thevenot and Careri, *Indian Travels of Thevenot and Careri*, ed. by S.N. Sen, p.46.. New Delhi, 1949.
10. Thorton, E: *Gazetteers of the territories under the Government of the E.I. Combay*, Vol.1, p.430. London 1854.
11. William Foster, *The English Factories in India (1622-23)*, p.40, Oxford.
12. Ibid: (1668-69), pp.- 228-29.
13. E.F: (1668-69), pp. 228-29. Gopal, S., op.cit, p. 210.
14. The Famine of (1630-32) devastated a vast area from Gujarat to Golconda and the people fled away to save their lives and other so there was the scarcity of workmen.
15. Letters Received by the East India Company from it's servants in the East. Ibid : Vol. IV, p. 251.
16. Gopal, S., op. cit, p.206. Choudhury, K.N., *The Structure of India Textile Industry in the 17th and 18th Century*. IESHR. Vol.XI, No. 2-3. ^June-Sept, 1974. p. 144.
17. E.F, (1667-69), p.19.Ibid, (1678-84), p. 140.
18. Choudhury, K.N, op. cit, p. 419.
19. E.F.(1637-41), p. 225.Tavernier, *Travels in the Mughal Empire* Tr. by Ball. Vol.II p.35. Oxford, 1925.
20. Tavernier, op.cit. Vol.11, pp.2-3.
21. Tavemier, op.cit. Vol.11, pp.22, Manucci, *The Storia Do Mogor*, Tr. by W. Irvine, Vol.11, p.425, Delhi, 1993.
22. Commissariat, op.cit. Vol.11, p.297. Pires, op.cit.Vol.1, pp. 43-44.
23. Durate Burbosa, *The Book of Durate Bubosa*, Vol.1, p. 141, London, 1918.
24. Mandeleso, *Travels*, p. 31.
25. Tavernier, op.cit. Vol.11, p.3.
26. Thevenot, op.cit, p. 12.
27. Munucci, op.cit. Vol.11, p. 425.
28. Choudhury, K.N.op.cit,p. 127.
29. Orme, Robert, *Historical Fragments*, p.413, London MDCCCIII.
30. Naqvi has shown that every provincial town had a suitable population of cotton weavers. These towns are Agra, Delhi, Patna, Lahore (*Urban Centres and Industry in Upper India*) 1556-1855, p.152, Asia, 1968.
31. Fryer, John, *A New Account of East India and Persia Being nine years travels (1672-78)* Vol.III, p.159. London, 1912.
32. E.F.: (1622-23) p. 15.
33. Letteres Received, Vol. I. p.304.
34. Purchas, *Purchas and His Pilgrims*, Vol. IV. p.223, Glasgow, (1905-17).
35. Ibid : p.223. Choudhury, K.N: op. cit p. 127
36. E.F: (1630-33): p.IV.22. Gopal, S: *Form of Textile Production in Gujarat in the 17th Century*. IHC. 1965. pp.219-220.
37. Moreland : *India at the Death of Akbar*. p. 138.
38. Sarkar, lagadish Narayan : *Two years of Cotton Industry and Trade of Gujarat (1622-23)*:JBROS.1954. p.420.
39. Moreland, W.H: op. cit, p. 184.
40. E.F.: (1622-23) p.116. Sarkar, J.N: *Two years of Cotton Industry*, p.420.
41. Moreland: op.cit.pp. 186-87.
42. E.F.: (1622-23) p. 149. Sarkar, J.N: *Two years of Cotton Industry*, p.419
43. E.F.: (1661-64) p.20S. Choudhury. K.N: op. cit. p. 138.
44. Naqbi: op. cit. pp. 156, 174.
45. Trvemier: op. cit. Vol.1, p.6.
46. Gopal, S: op.pp. 220- 221.
47. E.F:(1637-41 ). P. 196.
48. *Gazetteer of Bombay Presidency 1871*. Vol. IX. pp. 177-78.
49. E.F( 1646-50 )pp 161,167. Ibid: (1637-41): pp. 232, 282.
50. Ibid: ( 1670- 74) :p.204.
51. Gopal, S: *Commrece and Crafts of Gujarat*, p. 205.
52. Gopal. S: *Textile Production*, pp. 220-221.
53. Moreland : op. cit. pp. 184-85. Sarker J.N: op. cit. p. 420.
54. Gopal: *Textile Production*, p.22 J.
55. Karl Marx: *Capital* (Berlin 1950). III, pp 366-67. Quoted from Pavolov: op. c Asia, 1963.
56. Karl Mara: *Capital*, Moscow 1974, vol.I.p. 305.
57. Habib, Irfan : *The Agrarian System of Mughal India ( 1556-1707)*. p.3. Asia, 1963
- 58 Marx : op. cit. vol. I.P. 316.
59. Orme.-op. cit. p. 411.
60. Madelso: op. cit. 64.
61. E.F: (1622-23).p. 116.
62. Marx: op. cit. vol. I.p. 306.
63. Choudhury, K.N: op. cit.p. 144.
64. Bernier. Francois *Travels in the Mughal Empire (1656-1668)*. Te. By A. Constabl Delhi, 1968 p. 254
65. Gopal, S. op. cit. pp. 208-209. Enthoven, R.E. *The tribes and castes of Bombay*, 1920-22.Vol.II. p. 138. Choudhury. K.N.op. cit. p. 138, Gopal, S. *Commerce and Crafts*, p.209
66. Ovington :op. cit. p.219.
67. Choudhury, K.N. op. cit. p. 144.
68. Mark, op.cit. Voi.I. p. 357.
69. Choudhury, K.N. op.cit.p. 144.
70. A. Ray : *Francois Martin's Account of the rising of the Matiyas*. I.H.C. 1969, p.101. note 10.
71. Commissariat: op. cit. Vol.II. p. 179.
72. I, Bruce Watson, *The Establishment of the European Commerce in North Wastem India in the early seventeenth century*. IESHR. Vol. XIII No. 3. p.375.
73. E.F. (1622-23) pp. 19-20. Gopal ,S. op. cit. p.201
74. E.F. (1622-23) pp. 169-71.
75. Ibid: p. 177. Gopal, S. op. cit p.201.
76. Tavemier: op. cit Vol.1, p. 118.
77. Commissariat: op. cit. Vol.11, p. 301.

# Public Administration in India: Evolution, Change and Reform

Dr. Anil Kumar Singh

The history of administration of a country is difficult to chronicle. What should be recorded in such an effort? It should help to facilitate the understanding of the reasons for the developments that have taken place and the forces that have combined to press for demands and push events in a certain direction. It is also necessary to register what has been planned, the structural and attitudinal changes involved, as well as the extent of actual change effected. Finally it should explain the causes and extent of partial or complete success and, of course, the ultimate impact of such changes on the system. Administrative reform is a popular area of study. Numerous dissertations and studies on administrative reform in specific countries around the globe have been produced.

Most of these studies provide a chronological overview of events and efforts that have led up to the current arrangement of administrative mechanisms and relationships. Details on the composition of reform commissions and committees, backgrounds of the members and their role in the process are highlighted. However, there have been occasional efforts to examine the nature, causes and effects of reform in depth. Studies on administrative reform continue to appear on a regular Asian Journal of Public Administration basis. Recently, there has been a spate of reforms undertaken by various governments around the globe, and the trend seems to be continuing. Faced with new challenges, including the globalization of issues, concern with democratic and human rights as well as new areas of concern such as health care and human rights, public administration has to

develop ways and means to deal with new problems. Governments are faced with the task of providing more services. As a consequence, the size and number of public organisations is increasing and the cost for their establishment and operation has continued to rise. There are elaborate efforts to trim the public sector, reduce expenses, enhance efficiency, and emphasise service to consumers. Generally, the concept of reform implies 'progress,' or change in a direction considered to be desirable. But the question of 'who' determines the desirability of direction leads to controversies. Change takes place in all societies, irrespective of efforts. Some changes lead to the improvement of conditions, while others do not. Administrative reforms can be considered as planned changes which are introduced with specific purposes in mind.

Maheshwari's overview of the system in Indian Administration-An Historical Account provides an elaborate discussion of the various changes introduced in the administrative system of India through Acts, Committees and Commissions. The book previously appeared under the title *The Evolution of Indian Administration* (1970), but has been updated for the 1994 version. Maheshwari has been careful in following the chronology of events and sought to organise the study with accounts dating from the inception of British rule in India. Efforts followed immediately after this period to consolidate the annexation, and to set up a prototype of British administration which would serve the interest of the rulers. It is pointed out that the British East India Company had more at stake in the provinces or 'presidencies' in the early years of rule in India, and the concept of a centralised system of administration evolved much later. The transformation of the Company from a trading to a ruling establishment took many by surprise, and it took the British Crown a considerable amount of time to assume and consolidate its ruling power over India. Maheshwari points out that the early members of the civil service of India were merchants who were Public Administration in India recruited on the basis of patronage and 'was in the beginning

---

Assistant Professor, Dept. of Political Science, Rajendra College, Chapra

inefficient, lazy and corrupt with low awareness of the broader social purpose, but in course of time was purged of its weaknesses and emerged as very efficient and dedicated one' (1994). Indian Administration-An Historical Account proceeds to look at the history of the civil service in India by tracing its origin and chronicling the political changes which were reflected in the declarations and the Government of India Acts. At the same time, Maheshwari provides an overview of the numerous Committees and Commissions that were constituted, made recommendations and were the principal instruments in facilitating change in the administrative system of India.

Administrative Reform in India, similar to the other study, is a revised and updated version of another of Maheshwari's earlier work published under the same title in 1981. Maheshwari considers various ways of conceptualising administrative reform and points out that it is not a static concept and should be linked to an ideology (1993). The importance of the 'political complexion' (1993) of the state in shaping public administration is underlined. This is used to explain the lack of emphasis placed on public administration in India on the basis of the 'background and life-long preoccupations' of the framers of India's constitution. 'Engaged in agitational politics, they had no extended opportunity of learning either the nuances or the details of administration or gaining an insight into its dynamics' (1993). Expanding on this

argument, Maheshwari makes painstaking efforts to list and examine the manifesto and plat form of the major political parties of India and reveals 'varying level of attention' given by the parties to the issue of administrative reform. He adds that their 'administrative formulations remain, at best, too vague, too broad, too platitudinous and didactic to be of much practical use to public policy' (1993). However, the political parties seem to agree 'that public administration is inefficient, wasteful and insensitive to the citizen's convenience'.

Hardgrave and Kochanek found additional reasons to criticize the Indian bureaucracy:

"The mistrust of the bureaucracy that characterized the nationalist movement has been perpetuated in the public mind by the rigidities of the system, impersonal treatment, the preoccupation with form and procedures, and the unwillingness of lower officials to accept responsibility."

It is evident that there has been no indication of committed efforts by the nationalist leaders or ruling political parties to tackle these problems head-on. Maheshwari finds that little progress has been achieved in implementing the 'administrative agenda' of even the Indian National Congress, the political party which has been in power for a considerable period of time.

Maheshwari identifies three sources from which the major administrative reforms in India have emanated: "It has come as a by-product of the general political process or has

emanated from bodies specifically charged with the responsibility of suggesting administrative reform. The third source has been the central reform agency which is an integral part of the machinery of government (1993)."

The process of administrative reform in India has been divided by Maheshwari into five phases. The first phase (1947-54) did not include 'any organised, sustained concern for the improvement and strengthening of public administration...', while the second phase (1954-64) witnessed the setting up of the O & M (Organization and Management) Division in 1954 as a 'much-needed standing machinery for bringing about administrative improvements in public administration on a continuous basis' (1993). The establishment of the Indian Institute of Public Administration in the same year for promoting public administration as a professional field was a positive development. The creation of the Committee on Plan Projects (1956) and the Committee on Administration (1961) were other notable developments in this phase.

In the third phase (1964-66), the most significant feature was the assertion of political leadership in the process of administrative reform. However, this seems to be inconsistent with claims that the administrative agenda of political parties went largely unimplemented. In the same phase, the O & M Division was upgraded to become a full-fledged Department of

Administrative Reform under the Ministry of Home Affairs in 1964. 'It began to examine the organisation and procedures of selected departments primarily with the object of eliminating corruption at different points of the administrative hierarchy' (1993). The fourth phase (1966-70) was marked by a 'comprehensive examination of India's public administration and bedevilled Centre-state relations...' (1993), while the fifth phase (1970-present) witnessed the emergence of a number of new ideas and concepts in public administration reform. The concept of management has been receiving increased attention and institutional training was strongly advocated. However, the 'conspicuous absence of apolitical leadership in matters of administrative reform' (1993) has hindered the effective implementation of the new ideas. Maheshwari detects many problems in the way of implementation of administrative reform proposals in India. He describes the process of implementation as 'sporadic and hesitant, and a perennial despair of reformers and society' (1993). Along with the commonplace explanations-bureaucratic resistance and the lack of a 'successor organisation' to follow up on the recommendations of the reform body-Maheshwari also identifies 'the effect of pre-empting the Executive initiative,' the limited life span of reform bodies, and a lack of 'corresponding strength of parliamentary determination to put through a scheme of reform.' The Indian trait of 'lack of action-mindedness,'

identified earlier by Paul Appleby, is also cited as a possible reason for the failure at the implementation stage.

Maheshwari's books bring to the fore a number of interesting issues relevant to the system of administration in India. These observations are also pertinent to the process of administrative reform in many countries of the developing world. The size of the bureaucracy has proliferated rapidly, but defects in the system have not been corrected as the growth continues. The concern of political parties over the need and strategies of administrative reform can be better understood by considering the sources which initiate such moves. The problems of implementation of recommendations for reform in most countries is a fascinating area of study.

It is interesting to note that the number of departments in the central government of India grew from three (Public, Secret, and Revenue) in 1774 to eight in 1833, while the central secretariat was reorganised into four departments, namely, Home, Foreign, Finance, and Military in 1843 (1994). The number of departments rose to 10 in 1919, and 18 in 1947. These were subsequently redesignated as ministries. There were 20 ministries and departments in India in 1952, 54 in 1978, and 70 in 1993 (1994). This is not unusual in developing countries as the public sector takes on more responsibilities. New areas of activities must be covered, and existing departments are divided up or reorganised to make the procedures and arrangements more efficient.

## References:

- Brecher, Michael: *The Politics of Succession in India*, Connecticut, Greenwood, 1976.
- Carl J. Friedrich: *Constitutional Government and Democracy*, Boston, Ginn, 1950.
- Chellaney, Brahma: *Nuclear Proliferation: The U.S.-Indian Conflict*, New Delhi, Orient Longman, 1993.
- Cooper, T. L. : *The Responsible Administrator: An Approach to Ethics for Administrative Role*, New York, Kennikat Press, 1982.
- Dennis, L.: *Public Policy Management and Public Policy*, New York, Longman, 1999.
- Dwight Waldo: *Study of Public Administration*, New York, Random House, 1955.
- Ezra, N.: *Bureaucrats and Policy Making*, New York, Holmes & Meier, 1984.
- Feit, Edward: *The Armed Bureaucrats: Military-Administrative Regimes and Political Development*, Boston, Houghton Mifflin, 1972.
- Francis, E.: *Bureaucratic Power in National Politics*, Boston, Little Brown and Company, 1978.
- Hans J. Morgenthau: *Politics Among Nations: The Struggle for Power and Peace*, New York, Knopf, 1960.
- Jack Peltason: *Federal Courts in the Political Process*, New York, Random House, 1955.
- Jalal, A.: *Nationalism, Democracy, and Development: State and Politics in India*, Delhi; New York: Oxford University Press, 1997.
- Jenkins, Rob: *Democratic Politics and Economic Reform in India*, New York, Cambridge University Press, 1999.
- Jones, W.H.: *The Government and Politics of India*, London, Hutchinson, 1971.
- Kranz, Harry: *The Participatory Bureaucracy: Women and Minorities in a More Representative Public Service*, Lexington, Lexington Books, 1976.
- Luthra, P. N.: *Constitutional and Administrative Growth of the Arunachal Pradesh*, Itanagar, Directorate of Research, Government of Arunachal Pradesh, 1993.
- Marcia, L. : *Handbook of Research Methods in Public Administration*, New York, Marcel Dekker, 1999.

# Bureaucracy and Development: The Indian Scenario

Dr. Ganesh Prasad

In India, development and local self-government have a long history. The Indian society which we find today is definitely not the same as it was during the British rule. It is not easy that the areas which remained sick for such a long period should regain their health so soon. All the same, the change that has taken place with in a period of 60 years is highly encouraging and laudable.

Majority of the people live in rural areas in developing countries, Therefore, any attempt at bringing overall development must lay greater emphasis on rural development which is sought to be brought about through planning. The government in such countries is facing the problem of initiating and accelerating the pace of development to enhance the standard of living of the people. Bureaucracy occupies an important position in the formulation and implementation of these plans. Hence, the success or failure of development efforts to a larger extent depends upon the role performed by bureaucracy in developing countries.

After Second World War, interest in development had been witnessed not only in the third world but all over the world. Development has affected every branch of knowledge like industry, technology, education and agriculture. Naturally, much of the leadership in development has come from governmental agencies, be they international, national, State regional or local also.

Perhaps the most important problem of India in particular is that of improving the economic and social conditions of people who live below

poverty line. They include our society's landless labourers, small and marginal farmers, artisans and other weaker sections. In fact there are no two opinions about the need of development wherein the role of bureaucracy is both important as well as essential. But there is no empirical evidence to highlight the deficiencies which creep into any system or every system despite the best efforts of all concerned. The fact that nearly 75 per cent of the total population of India dwells in the villages, it would be worthwhile to focus attention on the role of bureaucracy in the development.. The proposed study is one of the first of its kind as an appraisal of the role of bureaucracy in the development.

This research study concerns with the structural and behavioural aspects of bureaucracy in rural development. The major focus of attention of researchers of Indian bureaucracy had been on the Indian Civil Services and its successors i.e. the Indian Administrative Services. Lower ranks of bureaucracy had received scant attention.

We acknowledge its (IAS) importance in the total political system but we feel it is more important to turn our attention to those bureaucrats who are easily identified with development efforts of the State and are actively involved in eliciting public cooperation for development tasks.

In this research study, efforts are directed towards not only the bureaucracy at secretariat and district levels but also at the block level which is engaged in implementing the rural development programmes. This section of bureaucracy has certainly a great contemporary relevance in the overall development of India in general and Bihar in particular. The functionaries at the lower level is the Block Development Officers, Extension Officers and Village level Workers (VLW). They are the government officials who interact with the people, mould and influence public attitudes towards development in a significant way. It is also at the local level that the hardest core of traditions and beliefs are found and policies undergo their most severe test for implementation

---

Vill.- Bhodasa, P.O.-Balua, Dist. Saran

Therefore, to provide immediate relevance and a contemporary understanding in the context of development, State level bureaucracy for policy making and District and Block level Bureaucracy for implementing the policy and programmes has been selected. Rural development programme is the single most of important vehicle of government, initiated for purpose of socio-economic uplift. The government has devoted great attention to this aspect of change. The present study focuses its attention on the bureaucratic behaviour and its performance in the execution of development projects. After the initiation of community development and Panchayati Raj, the development scene tended to highlight the relations between political leaders and administrators also. It was argued that the successor of local institutions as instruments of development rested on the ability of the political and administrative leadership to cooperate with one another and resolve the tensions and conflicts arising from the social environment. The administrative machinery set up for community development programme soon gave way to the three-tier Panchayati Raj system in order to make rural development administration responsive to the elected representatives of the people.

The block was recognised as the focal point of planning and administration and it became the single most important unit of both community development as well as Panchayati Raj. It is

because of this reason that the study of bureaucracy both at the secretariat and grass root level has been taken up. There is abundant literature on "Bureaucracy and Development". A large number of studies have been conducted pertaining to the various aspects of bureaucracy and development in India and other countries of the world. Other than the Indian Scholars on bureaucracy, there are some foreign observers on the subject who had studied the bureaucracy in depth.

Paul Appleby, F.W. Riggs, Ralph Brainbanti, La Palombara, Hugh Tinker, Uraula Hicls, and David Potter are some of them. Some of the notable Indian Scholars who have done researches on Bureaucracy and Development are Kudeep Mathur (Bureaucratic Response to development 1973), (Bureaucracy and New Agricultural strategy 1983). C.P. Bhambhri (Bureaucracy and Politics in India 1971). R. B. Jain and P. N. Chaudhuri (Bureaucratic values in Development 1982). G. Mare Gopal (Administrative leadership and Rural Development in India 1980). H. R. Chaturvedi (Bureaucracy and local Community Dynamics of Rural Development 1977). A. Avasthi and Romesh Arora (Bureaucracy and Development: Indian Perspectives 1978). P. R. Dubhashi: (Rural Development Administration in India). S. R. Maheshwari (Rural Development in India 1985). L.

C. Jain & B. V. Krishnamurthy, P. M. Tripathi (Grass without Roots: Rural Development Under Government Auspices 1985). After mentioning the various studies on this aspect, it can be said that lot of studies in this field have been done in various States of the country but very little has been done in Bihar.

### *Bureaucracy and Development: Conceptual Framework:*

The developing countries directed their efforts towards economic, social and political development after attaining independence from colonial rule. In the modern age every democratic government has to face gigantic task of all round development. Though the concept of development administration is of recent origin but has become quite popular and a fashionable expression in administrative parlance. Development needed to be conceived as a dynamic process directed towards transforming the entire society-embarking together its economic, social, political and administrative aspects for an all around balance upward change. Development administration is thus that aspect of public administration that focuses on government influenced change towards progressive political, economic and social objectives According to Weinder, development is a State of mind, a tendency, a direction, rather than a fixed goal, it is a rate of change in a particular direction. The task of nation 'building and bringing

about major socio-economic changes in the under developed and developing world is the main theme behind the concept of development administration.

Again the importance of development within the broad framework of development administration is of utmost necessity in the modern world. The concept of development was viewed differently by different scholars as it was completely a new concept for third world countries. But as a whole development is not a new concept.

Several pioneering experiments have been made in this direction by many eminent scholars and practitioners.. The concept of what is known as development was born in the context of agriculture, and it remained for long time, coterminus with agriculture development in India The Royal Commission on Agriculture (1928), for instance provides this kind of interpretation to rural development Agriculture is at the heart but not the whole development., Planning Commission Task Force on Integrated Rural Development observed in 1972 also observed likewise.

Now we have decided to take what might be considered a rather restricted view of the expression 'development'. We have chosen to equate it with agricultural development in the widest sense so as to embrace, besides crop husbandry, all the allied activities. Development has meant the extension of irrigation facilities, expansion of

electricity, improvement in the techniques of cultivation, construction of school buildings and the provision of educational facilities, health care etc.

Development since seventies in general has began to be viewed in terms of the contribution it makes to the reduction of poverty, inequality and exploitation. Development reflects these concerns and is manifested in special programmes for the weaker sections of the community and backward areas. Developments in content and form is concerned with multi sectoral programmes involving development in productive agriculture and its related services, industrial activities, transportation, communication and infrastructures, health and education services etc.

### References

- Barill, C.: *Social and Political Ideas of B.R. Ambedkar*, Jaipur, Aalekh Publishers, 1977.
- Basu, Prahlad K.: *Governance and Public Administration for Poverty Reduction*, Salvador, Brazil, 1997.
- Benjamin, Joseph: *Scheduled Castes in Indian Politics and Society*, New Delhi, Ess Ess Publications, 1989.
- Bhuyan, B. C.: *Political Development of the North East*, New Delhi, Omsons Publications, 1989.
- Blau, M.: *Bureaucracy in Modern Society*, New York, Random House, 1956.
- Brierly, L.: *The Law of Nations*, New York, Oxford University Press, 1955.
- Carl J. Friedrich: *Constitutional Government and Democracy*, Boston, Ginn, 1950.
- Conway, Margaret : *Political Analysis: An Introduction*, Boston, Allyn and Bacon, 1972.

- Cooper, T. L. : *The Responsible Administrator: An Approach to Ethics for Administrative Role*, New York, Kennikat Press, 1982.
- Dennis, L.: *Public Policy Management and Public Policy*, New York, Longman, 1999.
- Dipak, K.: *Administration Report of the Political Agency*, Agartala, Tripura State Cultural Research Institute & Museum, 1995.
- Eldridge, P.J.: *The Politics of Foreign Aid in India*, New York, Schocken, 1970.
- Ezra, N.: *Bureaucrats and Policy Making*, New York, Holmes & Meier, 1984.
- Francis, E.: *Bureaucratic Power in National Politics*, Boston, Little Brown and Company, 1978.
- Gargan, J.: *Handbook of Local Government Administration*, New York, Marcel Dekker, 1997.
- Hans J. Morgenthau: *Politics Among Nations: The Struggle for Power and Peace*, New York, Knopf, 1960.
- Jack Peltason: *Federal Courts in the Political Process*, New York, Random House, 1955.
- John, J.: *Handbook of Local Government Administration*, New York, Marcel Dekker, 1997.
- Kenneth C. Wheare: *Federal Government*, New York, Oxford University Press, 1953.
- Marcia, L. : *Handbook of Research Methods in Public Administration*, New York, Marcel Dekker, 1999.
- Max Beloff: *Foreign Policy and the Democratic Process*, Baltimore, Johns Hopkins University Press, 1955.
- Morris, W.H.: *The Government and Politics of India*, London, Hutchinson, 1971.
- Paul, H.: *Policy and Administration*, Birmingham, AL: University of Alabama Press, 1949.
- Richard A. : *Power and Society*, New York, Random House, Studies in Sociology, 1960.
- Selden, S.: *The Promise of Representative Bureaucracy: Diversity and Responsiveness in a Government Agency*, New York, M. E. Sharpe, 1997.

# The Implications of Political Corruption for India's Economic Development

Princy Priya Roy

### *Fundamental Problems with the Indian "Democracy"*

Although India is the largest democracy in the world, it continues to struggle on a daily basis to fight corruption in politics at both the national and local levels. In a nation with such a rich diversity of languages, cultures, and traditions, nothing is more important to reconciling all the differences than the right to vote. However, the democratically elected government seemingly does nothing to bridge the enormous gap between the rich and the poor and to make the lives of the 300 million people living below the poverty line any better (Roy, 1). While India has more people living in poverty than any other nation, finding a solution to these basic issues of human rights has recently taken a backseat to nuclear weapons testing and other extravagant nationalist issues on the Indian political agenda. Furthermore, the instability and corruption of the government since India won its independence in 1947 has discouraged the long-term investments that are needed to drive economic growth.

The fact of the matter is that India is on par with the United States as one of the models of democracy in the world; yet, India is far behind the United States in its economic development. There can only be one explanation for India's unimpressive economic record and the plight of its 300 million citizens living in poverty — the unprecedented political corruption and instability

Research Scholar, JP University, Chapra

that can so easily be seen at all levels of government. Unfortunately, there are very few means for the citizens to fight the corruption in the current system. The only power they have is through the vote, and yet many Indian citizens are denied the opportunity to vote. Although the recent administration of Prime Minister Narasimha Rao in the 1990's took the first steps towards putting an end to political corruption and tried to make all government officials more accountable for their actions, there is still much work that needs to be done to reform the roots of political corruption in India.

### *A History of Political Instability and Party Conflict*

Part of India's problems with corruption can be explained by its tumultuous history of conflicts between political parties. After India won its independence, it was ruled by the Congress Party, led by Mahatma Gandhi and Jawharlal Nehru. Nehru's daughter, Indira Gandhi, then took over office as Prime Minister until 1977. As political and economic problems worsened, she declared a state of emergency and proposed reforms to remedy some of these problems. She called for elections in 1977, seeking to mandate her policies at the polls. Ironically, she lost these elections to Moraji Desai, who headed the Janata Party, a coalition of five opposition parties ("India", 2).

These were some of the earliest indications of political corruption in post-independence India. While Indira Gandhi was reasonably confident about victory at the polls, corruption at the local levels of government led to the majority of India's poor citizens in villages being unable to vote. Following a short stint under Desai's government, Indira Gandhi returned to power in 1980. However, she was assassinated in 1984, and her son, Rajiv Gandhi, was chosen to take her place as the leader of the new "Indira" Party, which still had its roots in the Congress Party.

The "Indira" Party was forced to step down in 1989, however, due to allegations of corruption.

The government was then controlled for a year by the Janata Dal, a union of opposition parties that was able to draw support from the Bharatiya Janata Party (BJP) on the right and the communists on the left. This was a very loose political marriage that had been in place for the sole purpose of overthrowing Rajiv Gandhi's "Indira" Party. They were as corrupt, if not more corrupt, than the "Indira" Party, and were unable to hold the support of the populace; they were ousted from power in 1991 without having accomplished any significant reforms.

In 1991, Rajiv Gandhi was assassinated by extremists while campaigning for the election. His Congress Party was nevertheless able to win the election, and party leader Narasimha Rao became the Prime Minister of India. After India had seen much political instability, Prime Minister Rao's administration finally served the full 5-year term, and the period was generally prosperous relative to the old days: This period marked the beginning of a gradual process of economic liberalization and reform, which opened the Indian economy to the globe. India's domestic politics also took a new shape, as divisions of caste, creed, and ethnicity gave rise to a plethora of small, regionally based political parties.

Unfortunately, Prime Minister Rao's government officials became involved in a series of scandals that contributed to the plummeting of public approval for the

administration. In 1996, the Hindu-nationalist Bharatiya Janata Party (BJP) took over for several weeks, followed by a fourteen party coalition called the "United Front" led by the Janata Dal for a year. Finally, in 1998, the Bharatiya Janata Party (BJP) took control under the leadership of new Prime Minister Atal Behari Vajpayee.

Unfortunately, the current Indian administration under Vajpayee is more concerned with asserting India's military and technological superiority, as evidenced by the underground nuclear tests, than with sponsoring programs to aid economic growth and recovery. This administration has failed to stay the successful course of reform initiated by Prime Minister Rao in the 1990's.

### *The Hindu-Nationalist Agenda: Nuclear Testing and Military Spending*

Since 1998, when the Hindu-Nationalist BJP Party came to power, Indian politics has changed its focus from staying the course of economic liberalization and reform begun by Prime Minister Rao to asserting its supremacy as a world power. The BJP Party ran for office with nuclear weapons development and military spending at the top of its agenda, and to its credit, it has stuck to its promise.

Unfortunately, for the huge fraction of India that is living in poverty, this has meant reduced economic assistance at a time when they need it most. Heavy government spending

on nuclear weapons development, military spending, and atomic energy and space programs has come at the expense of other promising areas of investment as well, such as biotechnology and energy conservation programs; the government has largely abandoned investment in these areas, making investors averse to long-term investments there as well.

For over a century, India has been stuck with an image of being a poor, helpless third-world country, and much of this has been brought about by the imperialist rule of Great Britain in India until the latter half of the twentieth century. To a large extent, this has caused the people of India to get carried away by the BJP Party's nationalist agenda and its idealistic goals. The poorest citizens are often uneducated and illiterate, and they fail to realize the consequences of nationalist policies, namely significant cuts in spending on issues of humanitarian aid and economic growth.

In 1998, after refusing to sign the CTBT, or the Comprehensive Test and Ban Treaty, Prime Minister Vajpayee conducted at least five underground nuclear tests. This prompted Pakistan to conduct tests of their own, and the fighting between the two nations has intensified since the tests. The nuclear testing and increased military activity have drained away India's economic resources in the last four years.

The BJP Party ran under the promise of national security

and a world-class military, and they are keeping their promise by spending lavishly on such issues. Recently, military spending has grown by about 14 percent each year, and last year alone, over 20 billion dollars was spent on the military. They have also greatly expanded spending on the atomic energy and space program in New Delhi.

The administration claims that the budget "aims to initiate the process of creating a more nationalized and self sufficient economy". It intends to keep the domestic economy closed to investment from foreign sectors in the hope of shielding it from competition and making it more self-sufficient.

However, there has been no evidence of economic growth and self-sufficiency yet, as the annual growth rate dropped from 7.5% in 1997 to 5% in 1998. As a journalist points out, "experts have predicted a continuation of this decline with the drying up of foreign investment...given the economic slowdown, how New Delhi hopes to pay for the higher defence spending is a mystery". Indian Finance Minister, Yaswant Sinha, claims that "there can be no compromise in (India's) defence preparedness" during the current times, and even proposes to get additional funding. With the tit-for-tat arms race between India and Pakistan, India's increased military spending will surely cause Pakistan to respond with more military spending on their part, and the cycle will most likely continue as long as India

continues to spend dangerously on the military and nuclear weapons development.

Needless to say, there is no immediate threat to India's national security, and the billions of dollars spent on the nationalist agenda have proved to be an expensive waste of India's economic resources.

To put things in context, about three dollars is enough to keep a person out of poverty for one day; India could have easily kept the entire 300 million people out of poverty if they had committed their resources to this cause instead. So, India is very close to solving some of its biggest economic problems if the politicians make the right decisions in the interest of the Indian people.

### References

- Asha, K. : *Globalization, Democracy and Culture : Situating Gandhian Alternatives*, Jaipur, Pointer, 2002.
- Beccaria, Cesare: *On Crimes and Punishments*, Bobbs-Merrill, Indianapolis, 1963.
- Bhambhri, C.P. : *Indian Caste Politics Since Independence*, Delhi, 1999.
- Bose, Pradip Kumar: *Social Mobility and Caste Violence: A Study of the Gujarat Riots*, Delhi, Adjanta Publications, 1985.
- Deulkar, Sita : *Caste and Communities in Conflict of Modernisation, Dominant*, Delhi, 2005.
- Devetak, Richard : *Critical Theory, in Burchill, Theories of International Relations*, Palgrave MacMillan, London, 2005.
- Dumont, Louis: *The Caste System and Its Implications*, London, Granada Pub. Ltd., 1970.
- Erik Neveu : *Political Journalism*, Routledge, New York, 2002.
- Goswami, B: *Constitutional Safeguards for Scheduled Castes and Scheduled Tribes*, Rawat, Delhi, 2003.

- Granville, A.: *The Indian Constitution: Cornerstone of a Nation*, Oxford, Clarendon Press, 1966.
- Hunt, R. N.: *The Theory and Practice of Communism*. London: Penguin, 1963.
- Ian Copland: *Hindu Nationalism and Governance*, Oxford University Press, Delhi, 2007.
- Jamieson, Kathleen Hall : *Dirty Politics, Deception, Distraction and Democracy*, Oxford University Press, New York, 1992.
- Johari, J.C. : *Indian Political System : A Critical Study of the Constitutional Structure and the Emerging Trends of Indian Politics*, 1996.
- Kamble, N. D.: *Deprived Castes and their Struggle for Equality*, Ashish Publishing House, New Delhi, 1983.
- Lal, Shyam: *Caste and Political Mobilisation: The Bhangis*, Jaipur, Panchsheel Prakashan, 1981.
- Mishra, J.: *Equality vs Justice. The Problem of Reservations for Backward Classes*, New Delhi, Deep & Deep, 1996.
- Mukherjee, Rila: *Merchants and Companies in Bengal: Kasimbazar and Jugdia in the Eighteenth Century* New Delhi, Pragati Publications, 2006.
- Morris, W.H.: *The Government and Politics of India*, London, Hutchinson, 1971.
- Nancy M. Henley: *Body Politics: Power, Sex, and Nonverbal Communication*, Englewood Cliffs, N.J.: Prentice-Hall, 1977.
- Nath, Trilok: *Politics of the Depressed Classes*, Delhi, Deputy Publications, 1987.
- Omvedt, Gail: *Land, Caste and Politics in Indian States*, Authors Guild Publications, Delhi, 1982.
- Parmaji, S.: *Caste Reservations and Performance*, Mamata Publications, Warangal, 1985.
- Prahlad K.: *Governance and Public Administration for Poverty Reduction*, Salvador, Brazil, 1997.
- Ram, Jagivan: *Caste Challenge in India*, New Delhi, Vision Books, 1980.
- Riggs, Fred: *Administrative Reform and Political Responsiveness*, Beverly Hills, Sage Publications, 1970.

# Globalization and the De-nationalization of Indian Middle Class

Dr. Arvind Kumar

The most remarkable feature of the Indian middle class (IMC) today is that it has become extremely self-absorbed. There was a time, before and immediately after independence, when the English knowing people in the country saw themselves as a bridge between their less fortunate brethren on the one hand and scientifically and economically -advanced countries on the other. Not anymore. Globalization has provided the IMC with an opportunity and a pretext to decouple itself from the rest of the country. The decoupling however is not complete. The onus of propelling Upper India into a global orbit still rests on the emaciated shoulders of the Lower India. As the irrepressible American film-maker Sam Goldwyn would have put it, IMC has opted to include itself out.

In the early days of the British rule over India, the number of British officers was small and they had a genuine interest in, and desire to interact with, the natives. However, as the British grew in number and power, their attitude changed to that of contempt and aloofness. Evolution of IMC has proceeded along similar lines. In the years immediately after independence, the middle class was still compact, its cultural distance from the elected representatives was small, and there was idealism in the air. The middle class considered itself to be duty bound to use its privileged position for the common good. Over the decades, as the middle class numbers have swelled, it has

become more and more self-centred. Caste constitutes the single most important factor in all aspects of Indian life. Caste situation is far more complex in North India than in South India. There are three major caste ensembles among the Hindus: Upper or forward Castes; Other Backward Classes (OBCs); and Scheduled Castes (SCs). (Use of terms like Upper and Lower is merely indicative; that is why they are written with the initial capital letter) These groupings are not monolithic. Within them there are structures, hierarchies and rivalries. Authentic break-up data in general is not available.

The only complete data comes from the 1931 census. In the post-independence censuses so far only SCs (and Scheduled Tribes, STs) have been enumerated. According to the latest (2001) figures, SCs are 16 % of the total population (and STs 8%). Since the Hindus constitute 80% of total population, this means that 20 % of Hindu population is SC. The percentages of Upper Castes and OBCs are anybody's guess. Figures of 30% for the Upper Castes and 50% for OBCs have been quoted, but many maintain that OBC numbers are not that high.

The British were able to rule over India for close to two centuries with relative ease because they forged an alliance with the Upper Castes, especially the Brahmins. Consequently, the Upper Castes came to occupy dominant position in education and (modern) employment as well as in public life.

The spirit of the times is summed up in a popular award-winning 1954 Hindi film *Jagriti* (Awakening) where a poor (low-caste?) physically handicapped boy lays down his life to reform a rich spoilt boy who is the son of a *zamindar* (landlord). There has been steady erosion of the Upper Caste dominance in public life and education since then, though through different trajectories.

Normal electoral dynamics has politically empowered castes which though numerically strong were marginalized earlier. It has now become extremely profitable to have a caste vote bank - based political outfit, led by a caste man.

---

Lecturer, VPS College, Desari, Vaishali

Such outfits are not sensitive to issues of governance the way big parties are and therefore enjoy great bargaining power.

India enjoyed a long spell of political stability because Indian National Congress could forge a coalition of three distinct vote banks: BBC (Brahmin-Bania Combine), SCs and Muslims. It was of course led by the Upper castes.

After many elections, the populous North Indian state of Uttar Pradesh again has a single party government. It is a development of historical significance. The recipe is the old Congress one except that the coalition is now led by a Dalit rather than a Brahmin. Adjusting to new realities, the Brahmins have reluctantly joined in a subordinate position to enjoy fruits of power and to protect the interests of their caste brethren who dominate government service.

Political emergence of the OBCs in North India is a new phenomenon. Loss of political clout by the Upper Castes is made the more unpalatable by the deliberately offensive posturing by the OBCs and SCs. To make the situation more complex, the recently aroused OBCs maintain an uneasy relationship with those above and below them in the traditional hierarchy. The dominant castes among the OBCs have a clash of ego with the Upper Castes and conflict of agro-economic interests with the SCs. In fact it is the historical failure of OBCs and SCs to share political power in North India that even now gives the Upper

Castes a role bigger than their actual numbers would suggest.

It is easier to tolerate a kick in the posterior than on the stomach. The Upper Castes would have reconciled to the loss of political power had it not been accompanied by shrinkage of educational and employment space for the benefit of the OBCs. This process is known as Mandalization, after the caste surname of Bindeshwari Prasad Mandal who chaired the Second Backward Class Commission, which submitted its report in 1980. The report was precipitously implemented in 1990.

The Constitution of India (1950) provided for 22.5% reservation for SCs (15%) and STs (7.5%). Now, another 27.5% reservation has been added for OBCs. Thus only half the seats are available in the general quota. What makes the matters worse for the Upper castes is that candidates from the reserved categories are eligible for a general merit seat if they qualify, without eating into the quota which others can use. Thus space available to the Upper Caste youth in the classroom has drastically shrunk. While the Upper Castes in the past were rightly made to feel guilty for the maltreatment of the SCs over the millennia and to atone for it to the extent possible, reservation for OBCs is seen as usurpation.

An outcome of the OBC onslaught is that the Upper Castes have clubbed all reserved categories together and desensitised themselves to

the needs of first-generation learners from among the hitherto marginalised classes. The government has balked at excluding the creamy layers from both the OBC and SC categories, even though it is a well established fact that within these groups some castes have prospered at the cost of others.

Coincidentally or otherwise, the socially significant process of Mandalization began about the same time as globalization in India. If globalization had not taken place, it is very likely that Mandalization would have eventually produced a new equilibrium state in which the Upper Castes would have willy nilly accepted a diminished role consistent with their actual numbers. Globalization has disrupted this social process in the sense that the Upper-Caste dominated IMC has opted to effectively distance itself from the new mainstream and attach itself to the West. No wonder then that of all the aspects of globalization the ones that have appealed the most to the IMC are a West-inspired life style and education unencumbered by considerations of social justice.

As long as the students and teachers both were drawn from the same social segment, namely Upper Castes, state education was extremely good value for money. The classroom today is more representative of the population in general. As a consequence, the state has retreated from education,

leaving no hope for first-generation learners of today except for the brightest. More seriously, the state has also abandoned agricultural education which does not attract private funding. The consequences of this are all too obvious. Large numbers have made the education system rejectionist rather than enhancing. Good quality education is now in the private sector meaning, more expensive than before, but still the preserve of Upper Castes. As a first step, students can go abroad. The next stage will be to invite foreign universities to set up campuses in India. You often hear talk of Harvard and MIT's being brought to India are often mentioned. Nobody talks of the success of American state universities and the need to emulate them.

The number of Indian students abroad has increased significantly. In 1998-99, a total of 37842 students enrolled in US. Five years later, in 2002-03, the number stood at 74603, an increase of 100%. The figure for 2008-09 stood at 103260. As the executive director of US educational foundation explained in the pre-meltdown era, "Students who do not gain admission in India's premier institutions see the US as an alternative". Unlike the situation a generation ago when students went abroad for post-graduate and doctoral studies on scholarship, Indians are now enrolling in foreign countries for basic degrees and diplomas and are being financed by their parents back home. The

economic melt down and the consequent small dose of protectionism have arrested the trend to an extent.

The number of Indian students in Australia went up from 30,000 in 2004 to 97,000 in 2009. In UK the number doubled in the ten year period 1999-2009, figure for 2009 being 19,205. These countries however stand apart from US. The main attraction for most students going to UK and Australia is not the degree but the possibility of working. Having cheap labour on student visa, rather than on work permit, suited the host country during boom times.

Today's Indian economy is intrinsically not strong enough to maintain its ever-expanding ambitious middle class at high consumption levels. This can be done only through the services sector, where the money flows in from abroad, mainly USA. While it is a welcome addition to Indian economy, the fact remains that it benefits only the English-knowing young men and women, mostly drawn from the existing middle class. The service sector does not provide a passport to first generation learners to enter middle class the way manufacturing and government service sectors did or the former can still do. India TV these days is showing an interesting commercial. A girl from a lower middle class aspires to become a cyclist champion and promises her mother a big house. Her kid brother tells her: There is no money in cycling. If you want

money, play tennis. The girl does not give up and fulfils her dream. She starts using a skin-whitening cream. Prettier, she is hired by a big company as a brand ambassador!!

### Referenes

- Deulkar, Sita : *Caste and Communities in Conflict of Modernisation, Dominant*, Delhi, 2005.
- Dumont, Louis: *The Caste System and Its Implications*, London, Granada Pub. Ltd., 1970.
- Erik Neveu : *Political Journalism*, Routledge, New York, 2002.
- Goswami, B: *Constitutional Safeguards for Scheduled Castes and Scheduled Tribes*, Rawat, Delhi, 2003.
- Granville, A.: *The Indian Constitution: Cornerstone of a Nation*, Oxford, Clarendon Press, 1966.
- Ian Copland: *Hindu Nationalism and Governance*, Oxford University Press, Delhi, 2007.
- Johari, J.C. : *Indian Political System : A Critical Study of the Constitutional Structure and the Emerging Trends of Indian Politics*, 1996.
- Kamble, N. D.: *Deprived Castes and their Struggle for Equality*, Ashish Publishing House, New Delhi, 1983.
- Lal, Shyam: *Caste and Political Mobilisation: The Bhangis*, Jaipur, Panchsheel Prakashan, 1981.
- Mukherjee, Rila: *Merchants and Companies in Bengal: Kasimbazar and Jugdia in the Eighteenth Century* New Delhi, Pragati Publications, 2006.
- Nath, Trilok: *Politics of the Depressed Classes*, Delhi, Deputy Publications, 1987.
- Omvedt, Gail: *Land, Caste and Politics in Indian States*, Authors Guild Publications, Delhi, 1982.
- Parmaji, S.: *Caste Reservations and Performance*, Mamata Publications, Warangal, 1985.
- Ram, Jagivan: *Caste Challenge in India*, New Delhi, Vision Books, 1980.
- Rishiraj Singh: *Arms Control : The Politics of Disarmament, Dominant*, Delhi, 2004.

# The Challenge of Good Governance in India: Need for Innovative Approaches

Dr. Sudhir Kumar Singh

As a student of political science, one was taught that the essential features of the State included: (i) a definite territory; (ii) population; (iii) government; and (iv) sovereignty. The government is viewed as an agency or machinery through which the will of the State is formulated, expressed and realised. While this traditional distinction between the state and the government holds, the role of the government and nature of governance have been changing from time to time and even at a given point of time there is considerable variation when the form of government is a democracy or otherwise.

1 There is no accepted definition of governance. There is divergence of opinion about the meaning of governance between the conservatives and the liberals, between socialists and the communists. The World Bank, for example, has sought to take a middle position by defining governance particularly as the traditions and the institutions by which authority in a country is exercised. This includes (i) the process by which governments are selected, monitored and replaced; (ii) the capacity of the government to effectively formulate and implement sound policies; and (iii) the respect of citizens and the state for the institutions that govern economic and social communications among them.

In recent years the word governance has become a very fashionable term and is being used in a variety of ways and that covers a large number of organizations both in public and private domains. For our purposes, however, we

are confining governance only to public domain. We are concerned here with that form of governance which serves the citizens by safeguarding territorial integrity of the State and securing individual security, rule of law and the delivery of services ranging from education, health to livelihood and food security.

### Context

No theory of governance would be intelligible unless it is seen in the context of its time. In the beginning of the 21st century, it has become evident that those who want minimal government are having an upper hand against the advocates of the paternalist welfare state. But there is no runaway success in sight. One thing has emerged clearly.

An efficient, effective and democratic government is the best guarantor of social justice as well as an orderly society. Similarly, there is also emphasis on the fact that the administrative system has to be country specific and area specific taking in view not only the institutions of governance and its legal and regulatory mechanisms but also its market, its civil society and cultural values of the people. The government would, therefore, have the singular responsibility to create an enabling environment where development programmes get properly implemented and that creative minds do not get stifled or their energies diverted from undertaking new initiatives or enterprises. The principal response of the state, therefore, would be to facilitate, to enable, and to coordinate. Neither the market nor the civil society can perform this role as effectively as the government and thus they cannot become substitutes for the government.

India is not excluded from this global debate or transition from socialist order to capitalist growth models. Fortunately, the Indian State does not have the monopoly of the public sphere. The civil society is increasingly more concerned with public sphere issues and government intervention is considered necessary to provide welfare schemes to cover social safety needs, upgrade health-care to protect children, and help provide opportunities for women and the minorities.

Marwari College, Bhagalpur

India's political leadership, policy makers and business brains are actuated by a strong desire to make the country an economic super-power in the 21st Century. The high rate of economic growth coupled with comfortable foreign exchange reserves and rising sex figures have imparted in them a growing confidence. The world is also looking at India with respect and considers India and China as ideal economic growth models. India is aiming to have a high growth rate with focus on equity. Although these two objectives are not always contradictory but the conflict arises when scarce resources are diverted to meet the demands of the growing middle class or business houses by ignoring the needs of the poor. The imperatives of democracy, however, are forcing Indian political leadership to look deeper into the causes of poverty, inequality and suffering of the common man. In this on-going debate, major shifts in national value system has somewhat gone unnoticed and/or under-emphasised by academicians, media commentators and India-watchers.

### *National Values*

The concept of governance was decisively shaped by the freedom movement led by Mahatma Gandhi and the aspirations of founding fathers of the Constitution. Every nation is guided by certain values which are shared by the people and the government. National commitment to such values greatly influence the content and the quality of governance. These values in the

Indian context at the time of the inauguration of the Republic were those of nationalism, democracy, secularism, non-alignment and mixed economy.

It may be recalled that these core values of nationalism, democracy, secularism, non-alignment and mixed economy were forcefully articulated by national and state level political leaders, academicians and journalists in the context of building a new India. The most eloquent expression of these values were made in debates in Parliament and legislative assemblies, in periodic letters to CMs from India's first Prime Minister Jawaharlal Nehru, in academic journals of politics, economics and history, in newspapers and at times through statements of business captains, and occasionally in judicial pronouncements.

The meaning and context of nationalism that had flourished during the freedom struggle got narrowed down in physical terms as a result of the partition of India at the time of independence. The meaning of nationalism today relates more to further strengthening of a trillion dollar gross domestic product economy and less to cohesion among states or integration of princely order that Sardar Patel so magnificently accomplished.

Another historic decision was taken to make India a secular state notwithstanding the partition of India on religious lines based on the two-nation theory. Though there is no State religion, the Constitution went on to make a special provision to protect religious and educational institutions of minorities. A

uniform civil code became a directive principle for the State in order that minorities could pursue their religious codes in respect of marriage, inheritance and other property rights in the meanwhile. Religion always had a major place in our private lives. Politicisation of religious, ethnic and caste ties have reached unprecedented levels. Today communal and sectarian approaches are more prominent in our polity and also in public policy at national and state levels.

India decided to take an independent stand between the two super-powers i.e. the United States and the Soviet Union, and provided leadership to the non-aligned movement. However, India gradually tilted towards the Soviet Union. In today's unipolar world, India has moved towards the United States. In fact, the meaning of nonalignment has undergone such changes that it is no longer recognizable in its old form.

For the last sixty years, our ideological frame of reference was determined by public choice. It is another matter that it was not always real. But it was fashionable to be left or left of the centre rather than being a rightist or a conservative. Socialism was preferred over capitalism and minimal state. The mixed economy which in ideal terms would have meant an equal role for the private sector and the public sector overwhelmingly yielded in favour of the latter. The belief in the state apparatus as a major instrument of social and economic change gave the public sector the primacy of position and placed it at what

was picturesquely described as "commanding heights of the economy". Since 1991 we have slowly moved towards the capitalist path.

A bold and magnificent decision was taken to introduce one person one vote system in the country. The universal suffrage paid rich dividends and the subsequent devolution of power to grassroots levels has helped consolidate the gains. Democracy is at the heart of governance in India. However, in its working, democracy has revealed several inadequacies. The chain of accountability from the civil service to legislature and political authority is weak; follow-through at higher levels of administration is poor; and limited oversight by Parliamentary committees is part of the problem. Criminalisation of politics and increasing role of caste and religion in electoral politics are major concerns. The performance of the civil service, the primary agency of implementing development is often undermined by overstaffing, low salaries, graft and political interference. Many people wonder as to whether it was appropriate to expect that a constitution largely based on the colonial model of Government of India Act of 1935 would ensure good governance in a democratic set-up?

In the initial years of the Republic, the executive functioned with considerable autonomy in as much as district officers regularly heard petitions and grievances, intervened in the maintenance of public order particularly in

case of ethnic and communal disturbances and enjoyed considerable discretion in implementation of land reforms and community development projects. The hold of politicians and specially ministers began with demands for allocation of scarce resources in favour of ruling elites and powerful interest groups. The State gradually started shedding its neutral stance in favour of the demands of the ruling party or coalition groups. The 'neutrality' of the civil service came under stress with ministerial instability since 1960s in the states. The fragmentation of the authority at centre characterised by coalition governments since the late 1980s has only deepened and extended this process.

But election after election common people are asserting their voice, changing their representatives in a manner that has ensured change in government in the states and also at the Centre. This phenomenon supported by the civil society groups, the media and an active judiciary has ushered in demands for accountability of the executive.

Democracy has really moved beyond periodic elections towards 'good' governance.

### References

- Ashton, S.R.: *British Policy Towards the Indian States, 1905-1939*, London, Curzon, 1982.
- Basu, Prahlad K.: *Governance and Public Administration for Poverty Reduction*, Salvador, Brazil, 1997.
- Brecher, Michael: *The Politics of Succession in India*, Connecticut, Greenwood, 1976.
- Bhuyan, B. C.: *Political Development of the North East*, New Delhi, Omsons Publications, 1989.

- Carl J. Friedrich: *Constitutional Government and Democracy*, Boston, Ginn, 1950.
- Cooper, T. L. : *The Responsible Administrator: An Approach to Ethics for Administrative Role*, New York, Kennikat Press, 1982.
- Chellaney, Brahma: *Nuclear Proliferation: The U.S.-Indian Conflict*, New Delhi, Orient Longman, 1993.
- Dennis, L.: *Public Policy Management and Public Policy*, New York, Longman, 1999.
- Dwight Waldo: *Study of Public Administration*, New York, Random House, 1955.
- Ezra, N.: *Bureaucrats and Policy Making*, New York, Holmes & Meier, 1984.
- Francis, E.: *Bureaucratic Power in National Politics*, Boston, Little Brown and Company, 1978.
- Feit, Edward: *The Armed Bureaucrats: Military-Administrative Regimes and Political Development*, Boston, Houghton Mifflin, 1972.
- Ganggopadhyay, D. K.: *Revenue Administration in Assam*, Assam, Revenue Department, Government of Assam, 1990.
- Hans J. Morgenthau: *Politics Among Nations: The Struggle for Power and Peace*, New York, Knopf, 1960.
- Jack Peltason: *Federal Courts in the Political Process*, New York, Random House, 1955.
- Jalal, A.: *Nationalism, Democracy, and Development: State and Politics in India*, Delhi; New York: Oxford University Press, 1997.
- Jenkins, Rob: *Democratic Politics and Economic Reform in India*, New York, Cambridge University Press, 1999.
- Jones, W.H.: *The Government and Politics of India*, London, Hutchinson, 1971.
- Kranz, Harry: *The Participatory Bureaucracy: Women and Minorities in a More Representative Public Service*, Lexington, Lexington Books, 1976.
- Luthra, P. N.: *Constitutional and Administrative Growth of the Arunachal Pradesh*, Itanagar, Directorate of Research, Government of Arunachal Pradesh, 1993.

# Modernity as a Vision of Conquest: Development and Culture in India

Dr. Narendra Pathak

Despite its image as a culturally diverse land, contemporary India is in fact a nation-state in conflict with its own people. It is engaged in a process of development that, far from enriching the lives of its myriad indigenous cultures, threatens them with disruption, domination and destruction. With a state-oriented notion of culture, the Indian development process has become increasingly associated with state authoritarianism and repression. This has been met with popular dissent, expressed in the emergence of social movements.

### *Development and the State*

The development process in India has been influenced, in part, by the transnationalization of capital within the world economy, which has enabled both international funding agencies (e.g., the World Bank) and private multinational corporations (e.g., Union Carbide) to deploy capital and labour within India. The Indian economy depends on foreign technology and finance in order to support capital-intensive modes of industrial and agricultural development. For example, between 1964 and 1970 India paid Rs 742 million (US \$62 million) for foreign technology; in 1979/1980 \$1 billion was borrowed from the World Bank in order to support rural and urban development and industrialization by dominant Indian corporations such as the Birlas and the Tatas. As

a result, the Indian state has massed a sizeable foreign debt with both the US and USSR and has furthered a development process that greatly influences the relationship between the state and the various indigenous cultures within its boundaries. The state, of course, is not an independent reality. It is made up of the institutions that are, in turn, related to the international economy. Hence, despite certain external financial and technological dependence, indigenous development in India is directed by the dominant classes of India's state capitalist system, namely the bureaucratic elite and a ruling coalition of the national bourgeoisie (large private business), the army, wealthy peasant farmers, small traders and money lenders.

The ideological model of development adopted by the state has been greatly influenced by Western modes of development, growth and modernization, which, in part, perceive rural development as a problem of sectoral development, dependent upon an industrial urban economy. Indian development has, therefore, followed a path of capitalist industrialization that has concentrated employment, manufacturing and construction within India's largest cities and exacerbated rural poverty, leading to mass migration to the cities. For example, Bombay's immigration accounts for 35-40 percent of its annual population growth. Regional imbalances have thus been created by the dominance of the Indian metropolis over the region or state in which each is located.

Due to its dependency on foreign technology and finance and its adoption of Western development models, India has become (like so much of the Third World) the object of a modernization process that has already unfolded in the West. The unequal economic exchange that exists between the advanced capitalist nations and the developing nations has been accompanied by an uneven cultural exchange that emphasizes Western values and devalues indigenous systems of knowledge. This Western bias is evident in the importance placed upon modernity within the development process in India; it equates modern scientific rationality and technology with a successful development process and devalues non-modern cultures and

---

Vill.-Kusurupa, Dist. Buxar

their traditional systems of knowledge.

State-sponsored and-directed development and state-owned scientific knowledge and technology are seen as opposed to “unscientific” and “irrational” lifestyles of the traditional cultures of India. Indeed, according to Nandy (1984), the three primary reasons for the existence of the modern state in India have become the maintenance of national security, the implementation of development and the acquisition of and subsequent management of modern science and technology. Together, these functions have modernized and transformed the Indian economy and society. They have also facilitated the state’s securing control over natural and financial resources; consolidated the power of those directing and benefiting from the state apparatus; and callously destroyed indigenous cultures with their own ethnic science and technology, defining resistance to development as “cultural lag” or “false consciousness.”

The Indian development process reflects, in part, the relationship between state and culture. Culture is made to contribute to the sustenance and growth of the state rather than the state being made to meet the needs of the survival and enrichment of culture. This process has been accentuated as elite Indian society has become increasingly Westernized, and as a highly centralized, modern nation-state with a Brahmanic idiom, has sought to impose its vision of modernity and development upon the

diversity of Indian culture. Such a process has marginalized great numbers of people who interpret their predicament in terms foreign to the modern world and the state-centred culture. Cultural survival has become the defence of native theories of science, education and social change and as this defence has become increasingly articulated through their rebellion, social movements have been accompanied by an increasingly oppressive state machinery.

In what has been termed the “Backdoor Emergency” the Indian state has, over the past decade, increasingly employed the politics of repression to uphold its control, power and dominance. Through the political manipulation of social division (e.g., communalism); through the introduction of “Black Laws” such as the Preventative Detention Act, the Anti-Encroachment Bills, the Terrorist Act and the Special Powers Act; and through the forcible relocation and cultural disruption of countless rural and urban communities, the Indian state moves inexorably toward the Bureaucratic-Authoritarian model as posed by O’Donnell and given such grim expression in the dictatorships of Latin America.

### *Development as Cultural Ethnocide*

The map of India provides grim testament to the assault on traditional communities that the development process has engendered. The Narmada River Valley Project—a scheme to build 30 major dams, 135 medium dams and 3,000 minor

irrigation schemes, stretching from the Sardar Sarovar Dam in Gujarat to the Narmada Sagar in Madhya Pradesh—will entail the submergence of 375,000 ha of forests and about 80,000 ha of fertile agricultural and grazing lands. Not only will this lead to an irreversible loss of rare wild flora and fauna but due to the project more than 1 million people will be displaced. In Orissa, the Balipal National Missile Testing Range will displace an estimated 40,000 people. The Rengali Dam has already uprooted more than 11,000 people. In Bihar, the Koel Karo hydroelectric project threatens the livelihood of approximately 15,000 Adivasi families in about 100 villages. In order to fully comprehend the environmental and cultural impact on local communities of such displacement, I will consider in detail the Inchampalli-Bhopalapatnam Dam project, which spans the states of Andhra Pradesh, Maharashtra and Madhya Pradesh, and the Singrauli industrial development program in Madhya Pradesh.

Located in the Gadchiroli district of eastern Maharashtra, the Inchampalli Dam project has been undertaken by both the central and the state governments of Andhra Pradesh, Maharashtra and Madhya Pradesh. This hilly, dry, heavily forested area is inhabited by tribal cultures—according to the 1981 census, 41.5 percent (250,000) of the total population is comprised of scheduled tribes. There is no industrialization in this district and the majority of the population is dependent on subsistence agriculture and the

forest for its livelihood. The building of the dam and irrigation project (plus the feeder dam at Bhopalapatnam) will necessitate the submergence of 100,858 ha of land (including 40,000 ha of forest) and 143 villages in the three states, will provide irrigation facilities for 131,400 ha and generate approximately 1,885 megawatts of power.

The irrigation facilities will only economically benefit those who own land. The tribes in this region have neither large holdings to profit from the use of the irrigation facilities nor the capacity to pay for them. Most of the skilled and unskilled labour for the dam's construction is being brought in from outside the region to prevent unionization. Local tribals have only been casually and temporarily employed.

Ecologically and culturally, the project will cause the loss of great expanses of forest and its associated flora and fauna, the traditional habitat of the tribal communities. The forests are inhabited by various tribes—Madias, Raj Gonds, Parshans and Kolam. Most of them practice settled cultivation, but a section of the Madias, inhabiting the remote tracts of the Bhamragadh area, still practice shifting cultivation in spite of government schemes to force them to practice plow cultivation. They are all, however, forest dwellers who have inhabited the forests for centuries, their economic and cultural life being inextricably linked to the forest.

Development and modernization has affected the tribal culture in two ways. First, the activities of commercial

enterprises such as the Maharashtra Forest Development Corporation and Ballarpur Paper Mills have brought the tribals into contact with a cash economy and exploitative relationships. Increased forest regulations have curtailed their earlier access to the forest and its products; their culture, based on settled cultivation in relative isolation, has become increasingly marginalized, controlled by outsiders and the dictates of a wage-labour economy. Second, the estimated displacement of 66,000 people by the development schemes will necessitate the uprooting of the tribal communities and their rehabilitation outside their traditional homelands into a non-forest area such as the Nanded district.

Such displacement raises serious questions concerning the future maintenance, growth and enrichment of the Gadchiroli tribal cultures. Whether the new environment will provide them with a sufficient livelihood and whether they will be able to culturally and socially adjust to nonforest environments are questions that have received insufficient consideration from the central and state government planners. Proposals to compensate the tribals for the land under cultivation (at a rate of Rs. 4,000 per ha) are dependent on the tribal cultures owning registered pattas for that land. Although they have cultivated the land for generations, many of the tribals do not own such titles and are unlikely to receive compensation. Furthermore their removal from an economy

in which internal class relations and class structures are developed to only a limited extent, to a semifeudal economy with a well-defined network of class relations and a rigid caste hierarchy is likely to seriously disrupt the tribal values of communal social life that flourish in Gond culture. Their removal from a forest habitat to the drought-prone plains of Nanded is certain to destroy that delicate interplay between culture and environment.

### References

- Asha, K. : *Globalization, Democracy and Culture : Situating Gandhian Alternatives*, Jaipur, Pointer, 2002.
- Bhambhri, C.P. : *Indian Politics Since Independence*, Delhi, 1999.
- Butalia, Urvashi: *The Other Side of Silence: Voices from the Partition of India*, New Delhi, Penguin, 1998.
- Datar, Chhaya : *The Struggle against Violence*. Calcutta: Stree, 1993.
- Dhanagare, D N: *Agrarian Movements and Gandhian Politics*, Agra University, Agra, 1975.
- Flavia Agnes: *Law and Gender Inequality : The Politics of Women's Rights in India*, Oxford University Press, 1999,
- Granville, A.: *The Indian Constitution: Cornerstone of a Nation*, Oxford, Clarendon Press, 1966.
- Ian Copland: *Hindu Nationalism and Governance*, Oxford University Press, Delhi, 2007.
- Johari, J.C. : *Indian Political System : A Critical Study of the Constitutional Structure and the Emerging Trends of Indian Politics*, 1996.
- Kuthiala, B.K. : *Hindu Nationalism : A Contemporary Perspective*, Shree Natraj Prakashan, Delhi, 2009.
- Levinson, D.: *Family Violence in Cross Cultural Perspective*, Newbury Park, Sage, 1989.
- Noorani, A.G. : *Indian Political Trials : 1775-1947*, New Delhi, Oxford University Press, 2005.
- Panda, P. P. : *Awareness of Women's Rights : Projection in Mass Media*, Dominant, 2005.

# Land Acquisition: Its Legal and Constitutional Implications

Animesh Chandra Jha

Property is the most ancient, the most vital institution, with which man became concerned. Its original function is to secure physical existence. It is a social concept and being a social concept is a creation of law. According to Bentham, Property and law are born together and die together. He felt that before laws were made there was no property and that if the laws were taken away property would cease. If the definition of property is examined from the Anglo-American Jurisprudence and from the Russian Jurisprudence, they apparently reflect the contradictory views.

The 5th and 14th Amendment to the Constitution of the United States of America says that, "No person shall be deprived of his life, liberty or property, without due process of law". According to it, property, the term in its broader sense, is the right of dominion, possession, and power of dispossession which may be acquired over a physical thing, and not the thing itself.

Property, in a sense, is the projection outside, of a man's personality. Man is identified by his physical and mental characteristics. And in the image of the person must be included not only his tastes, preferences, but also the objects of personal possession indissolubly associated with him. These things achieve an immortality of their own.

The Indian view has always been that property, or at any rate, the right to the possession of it, belonged to the person who put the land first to beneficial use. There is nothing anti-social in the concept of personal possession. Even in socialistic countries, the private ownership of articles that are manufactured by the persons

themselves is recognized. Ownership of property was an item in the Declaration of Human Rights. In the American Constitution, the importance of this aspect was recognized to the extent that it was said that the guarantee of liberty of a person by itself included protection of the rights of property and it was not necessary to have word 'property' included in the amendment to the constitution. A citizen of India has the right to acquire, hold and disposed of the property. The ownership and control of the material resources of the community are so distributed as best to subserve the common good.

In India, during Ancient times, when men were few on the face of the earth, they generally led a nomadic life and moved with their herds from place to place. Their agricultural labors were limited. At this stage, the flocks and herds were more important than agriculture and land was unassigned and unbounded. But as number of communities increased, the production of a large quantity of food became necessary and the nomadic life was found unsuitable. Agriculture attained greater importance than the mere ownership of flocks and herds. Land had to be assigned to the cultivator and occupation and continued possession of land gave rise to the concept of property in land. The proprietary right at first resided in the community rather than the individual and there were frequent skirmishes to determine the boundary between the territory of the community and another. But the common property soon developed into separate property in obedience to an irresistible tendency of social progress. As the time passed, communities soon began to associate, either willingly for purposes of protection or unwillingly as the result of subjugation by those whom superior physical strength inclined to the pursuit of arms, and the governing paramount authority had to be maintained by the contribution of its subjections. The judicial committee of the Privy Council observed in the case of *Adusumilli Suryanarayana v. Achuta Pothana* that the ownership of the soil in land in India has always been in the sovereign or ruler for the time being.

During the debates of the constituent Assembly, the abolition of the Zamindari system

---

JET Qualified

was advocated by some, as being the only thing which was consistent with the principles of socialism upon which Indian Independence was going to be based. However, it was forgotten that the basic principles of land-holding in India was more socialistic than any brand of socialism which might be imported from foreign sources.

To the founding fathers of the constitution, the institution of property was fundamental. The inviolability of private property has been recognized not merely in the municipal law of the great majority of civilized states, but also by international law both in the time of peace and in war. Art 545 of the French civil code declared that no one may be deprived of his property except for purposes of public utility and for adequate compensation. The Spanish code is much to the same effect. Art 438 of the Italian code states that no one shall be constrained to surrender his property except for purposes of public utility and subject to previous payment of just indemnity. The Belgian constitution of 1893 provides for such the same. The protection of private property is secured by several provisions of the constitution of South American Republics; and Art 153 of the constitution of German federation guarantees private property. Expropriation is conditioned by compensation, and same principles are recognized by Act 80 of the Danish Constitution, Act 625 of the Netherlands civil code and articles 104 and 105 of the constitution of Norway. The fifth amendment of the United States constitution providing that no person shall be deprived

of life, liberty or property without due process of law, and that private property shall not be taken for public use without just compensation is familiar to Indian lawyer; nor can it be forgotten that the Magna Carta which declared that no free man shall be deprived of his free hold. Indeed, Art 17 of the United Nations Declaration of human Rights has made it a universal rule "that everyone has the right to own property alone, as well as in association with others", and that "no one shall be arbitrarily deprived of his property". In strong contrast with the constitution of the majority of the countries in the world is the provision in Art 4 of the constitution of USSR which firmly established the abolition of private ownership of the instruments and means of production.

The makers of the Indian constitution who had before them the constitution of the USSR as also several other leading constitutions of the world, abandoned the provisions of USSR and ensured the inviolability of private property by several articles such as Art 19 (1) (f) and Art 31(1) & (2) (they were later omitted & repealed by the 44th Amendment Act, 1978 respectively). After independence, all the Zamindari Abolition Laws came within the scope of either clause 4 or 6 of Art 32 and thus it was thought that Art 31 (4) and Art 31(6) would secure complete immunity to the Zamindari laws from attack under the constitution. Therefore, Zamindari abolition and land reforms laws were passed as a move towards more egalitarian society. Nevertheless, when the

Bihar Land Reforms Act abolishing Zamindari was impugned, the High Court of Patna in *Kameshwar Singh v. State of Bihar*, struck down the Act as contravening the equality clause under Art 14 of the Constitution in the matter of compensation. The State filed an appeal to the Supreme Court, but even before the appeal came up for hearing the first amendment to the constitution was passed by the parliament, introducing Art 31 A which forbade any challenge to such acts under any provision of Part III.

Art 31 A brings within its purview Acts relating to Estates which at the time was intended to include Zamindari Estate and Art 31 B validated all Acts included in Schedule IX to the constitution and Schedule IX included at the time 13 Acts all of which related to Zamindari abolition. Thereafter, the 1st Amendment Act, 1951 was challenged before the Supreme Court in *Shankari Prasad v. Union of India*, and the amendment was upheld by the Supreme Court. The appeal from the decision of Patna HC was heard thereafter and it was allowed on the basis of the first amendment. This decision was reported in *State of Bihar v. Kameshwar Singh*.

The fourth Amendment Act further enlarged Art 31 A by adding several clauses. It covered not merely the acquisition of estates but also taking over of management of any property for a limited period in public interest or to secure proper management of the property in public interest. No such law was deemed to be void on the ground of inconsistency with Art 14, 19 &

31. To schedule IX, seven more Acts were added with the 4th Amendment to the constitution; Art 31 B extending protection to them against attack based on any fundamental right. Now the jurisdiction of the courts for enforcement of fundamental rights was taken away. The constitution had made the Supreme Court Supreme. The right to move to the court for the enforcement of the rights conferred by Part III had been granted. The constitution gave the power of amendment to parliament to be made by a 2/3rd majority. Fundamental rights which parliament could not even by unanimous vote abrogate or abridge now could by over-borne by a two-thirds majority under the name of an amendment. Such a provision could immunize any act from judicial interference or review. Then Art 31 A & Art 31 B became independent of one another. Art 31 A to meet the challenge of an Act under Art 14, 19 & 31 alone; while Art 31 B provided an umbrella to all the acts included in the schedule IX against all the fundamental rights in Part III; both articles 31 A and 31 B were deemed to be retrospective in operation commencing from the date of the constitution itself. While legislation in respect of estates as defined alone were saved by Art 31 A, any legislation whatever its subject matter could be brought into the schedule IX, and could thus obtain immunity against challenge in respect of any rights in Part III.

The legislative entries in respect of acquisition and requisition had been distributed between the three lists, in the original constitution. The Seventh Amendment to the

constitution in 1956, omitted item 33 from list I, item 36 from List II, item 42 from list III and substituted for item 42 in the list III a new entry 'Acquisition and requisitioning of property'.

Acquisition is not the equivalent of confiscation; and it was held in Kameshwar Singh's case that the acquisition under the Indian constitution included public purpose as part of the content of the entry itself, though attempts were made to show that public purpose was merely a requirement of the fundamental right in Art 31 (2) and not an integral part of the legislative power. But later in State of Bihar v. Rameshwar Pratab, the Supreme Court went to the extent of stating that public purpose was not included in the legislative entry of acquisition and that it was competent for a legislature to pass a law empowering acquisition even without any public purpose.

### *Purpose of Land Acquisition*

The land acquisition Act of 1894 was created with the purpose of facilitating the government's acquisition of privately held land for public purposes. The word "public purpose", as defined in the act, refers to the acquisition of land for putting up educational institutions or schemes such as housing, health or slum clearance, apart from the projects for rural planning or formation of sites. The word "government" refers to the central government if the purpose for acquisition is for the union and for all other purposes it refers to the state government. It is not necessary that all the acquisition has to be initiated by the government

alone. Local authorities, societies registered under the societies registered Act, 1860 and co-operative societies established under the co-operative societies Act can also acquire the land for developmental activities through the government

### *References*

- Brij K. Taimni: *Food Security in 21 Century : Perspective and Vision*, Konark, Delhi, 2001.
- Chaturvedi, Pradeep : *Food Security and Panchayati Raj*, Concept, Delhi, 1997.
- Debashis Basu; B Francis Kulirani and B Datta Ray: *Agriculture Food Security Nutrition and Health in North East India*, Mittal Pub, Delhi, 2006.
- Herring, R. J. : *Land To the Tiller: the Political Economy off Agrarian Reorm in South Asia*, New Haven: Yale University Press, 1983.
- Ghose, Arpita : *Globalization, Agricultural Growth and Food Security in India*, Deep and Deep, Delhi, 2011.
- Hanumantha Rao, C.H. : *Agriculture, Food Security, Poverty and Environment*, Oxford University Press, Delhi, 2006.
- John A, Marcell, *Handbook of Small Business Valuation Formulas and Rules of Thumb*, Valuation Press, 1993.
- Kulkarni, G.K. and B.N. Pandey: *Bioresources for Food Security and Rural Livelihood*, Narendra Pub, Delhi, 2010.
- Kumar, Shashi : *Biodiversity and Food Security*, Atlantic, Delhi, 2002.
- Mrinmoy Datta; Narendra Pratap Singh and Er Dhiman Daschaudhuri: *Climate Change and Food Security*, New India Pub Agency, Delhi, 2008.
- Neelima Jerath, Ram Boojh and Gurharminder Singh: *Climate Change, Biodiversity and Food Security in the South Asian Region*, Macmillan Publishers India, Delhi, 2010.
- Pradeep Chaturvedi: *Food Security in South Asia*, Concept, Delhi, 2002.
- Shukla, N. : *Textbook of Dairy Chemistry*, Discovery Pub, Delhi 2010.

## Central Nervous System Volumes: Contribution to Motor Function and Working Deficits in Alcoholism

Basant Lal Sharma

Generally alcohol is a family of organic chemicals with common properties. Members of this family include ethanol, methanol, isopropanol, and others. Commonly the physical, chemical and physiological aspects of the ethanol is known as Alcohol. It is a clear volatile liquid that burns easily. It has a slight, characteristic odor and is very soluble in water. Alcohol is an organic compound composed of carbon, oxygen, and hydrogen. It is important to know about effects of alcohol on human mind and body. Not only alcohol but any kind of intoxication flouncing memory and many abnormalities would come to harm our day to day life and a person may be unable to perform his work normally what is intoxication, how a patient may across it, it as there any social, environmental, economical, political courses in responsible for or only psychological reason is considerably responsible. These are mostly escape same psychological cause which is influencing the whole terms the present research work is based on these important matter. Mainly alcohol effects the memory of a patient and therefore the main oblige to are concentrated at the effect of alcohol. It is a central nervous system depressant and it is the central nervous system which is the bodily system that is most severely affected by alcohol.

### Stages of alcohol intoxication

BAC (g/100 ml of blood or g/210 ltr of breath)	Stage	Clinical symptoms
0.01 - 0.05	Sub-clinical	Behavior nearly normal by ordinary observation
0.03 - 0.12	Euphoria	Mild euphoria, sociability, talkativeness Increased self-confidence; decreased inhibitions Diminution of attention, judgment and control Beginning of sensory-motor impairment Loss of efficiency in finer performance tests
0.09 - 0.25	Excitement	Emotional instability; loss of critical judgment Impairment of perception, memory and comprehension Decreased sensory response; increased reaction time Reduced visual acuity; peripheral vision and glare recovery Sensory-motor in coordination; impaired balance Drowsiness
0.18 - 0.30	Confusion	Disorientation, mental confusion; dizziness Exaggerated emotional states Disturbances of vision and of perception of color, form, motion and dimensions Increased pain threshold Increased muscular in coordination; staggering gait; slurred speech Apathy, lethargy
0.25 - 0.40	Stupor	General inertia; approaching loss of motor functions Markedly decreased response to stimuli Marked muscular in coordination; inability to stand or walk Vomiting; incontinence Impaired consciousness; sleep or stupor
0.35 - 0.50	Coma	Complete unconsciousness Depressed or abolished reflexes Subnormal body temperature Incontinence Impairment of circulation and respiration Possible death
0.45 +	Death	Death from respiratory arrest

Research Scholar, Dept. of Psychology, M.U. Bodh Gaya

The following is a generally accepted guide to the effects of alcohol. Effects of alcohol is divided into two categories.

- (a) Short-term effects of alcohol : Unconsciousness, Asphyxiation, Hangovers, etc.
- (b) Long-term effects of alcohol : Brain damage, Cancer, Lungs, Stomach, Pancreas, Intestine, Kidneys, Bones, Weight gain, Skin, Sexual health, Heart and Circulation, etc.

Alcohol misuse affects the parts of your brain that control judgment, concentration, coordination, behaviour and emotions. It is not only harms the individual but is damaging to relationships and becoming a victim of crime, accident too. Actually different types of drugs are available in the market, which are known as Sedative, Narcotics, Stimulant, Hallucinogens. Alcohol comes under the Sedative drugs. Sedatives are central nervous system depressants, so they slow down the body's functions. They are usually used as tranquilizers or sleeping pills to calm anxiety or cause sleep. Sedatives are classified into two categories. These are barbiturates and benzodiazepines and the different types are Liquor (made from various staples - broomcorn, corn, rice, and wheat), Yellow Wine (made from rice and sticky rice), Fruit Wine (made from grapes, pears, oranges, litchis, sugarcane, hawthorn berries, and waxberries), Integrated Alcoholic Beverages (made from wine and spirits to which has been added the zest or fragrances from fruits, herbs or flowers), Beer (commonly made from barley and hops).

DSM IV define different stage of substance :

*Abuse of harmful use* : Refers

to maladaptive patterns of substance use that impair health in a broad sense.

*Dependence* : Refers to certain Physiological and Psychology Phenomena induced by repeated taking of a substance and include a strong desire to take the substance progressive neglect of alternative source of satisfaction the development of tolerance and physical withdrawal state.

*Tolerance* : It is a state in which after repeated administration a drug produces a decreased effect or increasing doses are required to produce the same effect.

*Withdrawal State* : It state is a group of symptoms and signs occurring when a drug is reduced in amount or withdrawn, which last for a limited time.

*Classification of Alcoholism* :  
 (a) Excessive consumption of alcohol (b) Alcohol abuse (c) Alcohol dependence.

According to ICD10 A cluster of Physiological, behavioural and cognitive phenomena in which the use of a substance takes on a much higher. Data from a 1988 survey on United States drinking practices and related problems was used to derive the prevalence and population estimates of harmful use of alcohol and the alcohol dependence syndrome as defined in the ICD10 Clinical Descriptions and Diagnostic Guidelines Version (ICD10-CDDG). Corresponding estimates were also presented for ICD10-CDDG diagnoses that incorporated the duration criterion of the ICD10-Diagnostic Criteria for Research Version (ICD10-DCR). The prevalence of ICD10 harmful use and dependence combined, with and without the duration criterion, were 5.2% and 7.1%,

respectively. Corresponding harmful use rates were negligible (0.27%). Implications of the extremely low prevalence of harmful use in the US population and the impact of the duration criterion on the rates are discussed in terms of the fundamental nature of alcohol use disorders as syndromes and the viability of the harmful use of alcohol category as originally conceptualized.

*Diagnostic Guidelines* : A definite diagnosis of dependence should usually be made only if three or more of the following have been experienced or exhibited at sometime during the previous year.

- (1) A strong desire or sense of compulsion to take the substance.
- (2) Difficulty in controlling substance taking behavior in term of its onset, termination of levels of use.
- (3) Physiological withdrawal state when substance use has ceased or been reduced evidenced by the characteristic withdrawal syndrome for the substance or use of the same substance with the intention of relieving or avoiding withdrawal symptoms.
- (4) Evidence of tolerance, such that increased doses of the Psychoactive substance are required in order to achieve effects originally produced by lower doses.
- (5) Persisting with substance use despite clear evidence of overtly harmful consequences, such as harm to the liver through excessive drinking, depressive mood states consequent to periods of heavy substance use or drug related impairment

of cognitive functioning should be made to determine that the user was actually or could be expected to be aware of the nature and extent of the harm.

Motor function and working deficits in alcoholism:

**Purpose :** The major purpose of this topic is to compare the performance of normal control and alcohol patient on Digit Span Test.

**Hypothesis :** There will be no significant difference between normal control and alcohol dependence patient in working memory as measured by Digit Span Test.

**Sample :** Examine on thirty male patients with alcohol dependence between the age range twenty to fifty years, based on Purposive Sampling. All are selected from Nasha Vimukti Kendra, Nai-Disha, Lakshya De-addiction Centre, Patna and 30 normal control will be selected from Malsalami, Nooruddhinganj, Alamganj, Rajabazar Mansa Ram Ka Akhara and Makhanpur Idgah.

A control group of thirty normal individuals will be also included in the study. The Subject who will takes have no history of alcohol or other substance abuse. Normal control will be selected from different locality of Patna, who will be matched in terms of age, education and handedness with the alcoholic patient group. General Health Questionnaire twelve will administered on them and score of more than two will be considered as cut off point for control group.

#### **Tools of Assessments:**

*Socio-demographic and Clinical Data sheet:* A semi-structured performa will be use for recording details about the patients. It contains information about the socio-demographic

variables like age, sex, education, marital status, religion, socio-economic status and domicile of the patients. It also includes information about history of alcohol or substance use, family history of mental illness, any history of significant head injury, seizure, mental retardation any other significant physical or psychiatric illness.

*Handedness Preference Schedule (Mandal et al. 1992):* A cross-sectional design was used to examine the relationship among handedness, self-reported symptoms and accident susceptibility in a non-clinical sample (N=285). To determine the handedness of the Subject's Hindi version of handedness preference schedule will be use. It has items mainly based as culturally acquainted hand activities. The schedule consists of fifteen items and subject are asked to indicate their hand preference for an activity on Point Rating Scale (1-never, 2-rarely, 3-occasionally, 4-frequently and 5-always).

*Brief Psychiatric Rating Scale (BPRS, Overall & Gorham, 1998):* This scale will be use to assess the general Psychopathology. It is rating scale which a clinician or researcher may use to measure psychiatric symptoms such as depression, anxiety, hallucinations and unusual behaviour. Each symptom is rated 1-7 and depending on the version between a total of 18-24 symptoms are scored.

*General Health Questionnaire (GHQ12):* The GHQ12 is a standardized, self administered screening test designed for a quick and easy identification of possible psychiatric cases in the target population. Although the GHQ12 was designed as a uni-dimensional scale, two and three factor models have been frequently reported. The purposes of this study are:

- (a) To examine whether wording effects play a role in the multi-dimensionality of the GHQ12
- (b) To explore the substantive meaning of wording effects.

*Esynek Digit Span Test:* In a typical test of memory span, a list of random numbers or letters or letters is read out loud or presented on a computer screen at the rate of one per second. The test begins with two to three numbers, increasing until the person commits errors. On the basis of Digit Forward (DF) and Digit Backward (DB) we can comment on working memory as well as attention and concentration. Digit span test has been found to be reliable and valid tools in several research study.

#### *References*

- (1) Baddely, A.(1986): A working memory, Oxford England; Oxford: Clarendon press.
- (2) Sayeed, O.B.(1980):Correlates of Organisational Health, Bombay; Himalaya pub. house
- (3) American Psychiatric Association Diagnostic and Statistical manual and mental disorder: 4 America; American Psychiatric Association, 1994.
- (4) Gorham, D.R.(1988): The Brief Psychiatric Rating Scale (BPRS) Recent development in ascertaining and scaling Psychopharmacological Bulletin.
- (5) Goldberg, David & William, Paul (1991): General Health Questionnaire (GHQ12) Pub. The Nfer Nelson Publishing Company Ltd. UK.
- (6) Mandal,K.M.; Pandey, G.; Singh, K.S.et al.(1992): Handedness preference in India. Inter national Journal of Psychology.
- (7) Kolb, B. & Whishaw, I.Q.(1983): Performance of Schnizophrenic patients on test sensitive to left or right frontal, temporal or Parietal function in neurological patients. Journal of Nervous and Mental Disease.
- (8) Singh, V.K.(2007): Working memory in patients with alcohol dependence, Thesis.M.U.

## ***Nexus between Unemployment, Stress and Social Capital***

**Dr. Asha Rani**

### *Meaning and Nature of Unemployment*

The term unemployment may be interpreted in many different ways. The most acceptable is in the form of engagement in any economic activity on a permanent basis. While measuring unemployment time dimension is crucial. An individual is said to be unemployed if he / she works for less than a pre determined working hours measured per week, month or year. For individuals who lose their jobs, it is not just the loss income that matters, it is also the individual's sense of self and it is the latter that is more damaging for the individual. What we want to emphasize is that unemployment is a major stressor among the working population particularly youths, and it is this unemployment born stress which adversely deteriorates them physiological, mentally and finally degrades their well being. For a large of the world's population, work- employment - is important.

When someone is unemployed he has to suffer loss of the psychological benefits that are associated with 'work'. In particular, having a job is a source of prestige and social recognition, providing self- respect and self- worth, and employment activity gives structure to the day, maintains a sense of purpose and creates opportunities for social interaction (Gore, W. 1978). Work is central to our lives. When we meet new people, one of the first things we ask is "What do you do?" Our occupation is an important part or our self- concept. When we lose our jobs, we lose touch with that valuable part of ourselves. We lose a place to go every day, our "workplace"

family. We often lose our self- esteem, and our self - confidence (Bandura, 1997; 2001). When we lose our jobs we lose our two main roles: worker and provider. We feel betrayed and abandoned when plants close or long- term layoffs wipe out years of our daily work without so much as a "thank- you". It is the most stressful moment for an individual when he comes to know that now he/ she is not needed by his/ her employer. Our jobs are much more than just the way we make a living. They influence how we see ourselves, as well as the way others see us. Our jobs give us structure, purpose, and meaning. That is why job loss and unemployment is one of the most stressful things one can experience.

### *Unemployment as direct and indirect stressor*

Unemployment creates stress in many ways. Below are some of the common ones:

- Loss of wages and benefits;
- Loss of a work family, leading to isolation and lack of social support;
- Lack of control over one's life
- Lack of a daily routine;
- Feeling abandoned, let down and worthless
- Facing daily rejections when looking for new work;
- Not knowing what to expect next;
- Adjusting to new roles at home (this is a big problem for many men workers, who may not be used to being "house husbands").
- Hassles with employment insurance or welfare bureaucracies.

One of the greatest workplace stressors of all is not having any work. We know that among the working age population, one of the most damaging individual experiences is unemployment, but unemployment also continues to be a threat to many smaller communities and to workers employed in industrial jobs. Moreover, with unemployment rates remaining at unacceptably high level, the individual continue to attach low probability of getting a job. The job environment is subject to rapid changes and uncertainties of international

---

Asstt. Professor, P.G. Department of Psychology, Jai Prakash University, Chapra

economic decision-making over which national governments seem powerless to influence make the future prospect gloomy (Rowley and feather, 1987).

One point to be noted this context is that the stress experienced by an individual is conditioned by the nature and duration of unemployment itself. Not all forms of unemployment are equally stressful. In case of disguised unemployment an individual is expected to encounter the least amount of stress as compared to seasonal workers who experience annual bouts of unemployment (War and Feather; 1987). Furthermore, the laid off workers experience less than stress than the seasonal ones and finally the permanently unemployed ones face the most severe form of stress ( Elgar, J. F. Arlett Christine, & Groves Renee, 2003 ). In stress general what we can summarize is that the more permanent the job loss seems, and the more uncertain the future for the worker, the greater the stress (Cohen, S. & Wills, T. A. 1985).

The duration of unemployment is one important variable that affects the satisfaction levels among the unemployed. How does the satisfaction level change the longer one remains unemployed? The theory of adaptation and habituation, proposed mostly by psychologists, suggest a recuperation of satisfaction over unemployment spells as one adapts to the situation (Bourne E. lyle, Jr & Yarosh Rita; 2003). Stone w. Gray Mathews & Hughes Jody; (2003) distinguishes some life events

such as income changes in which adaptation operates. Lack of adaptation or habituation is also found with respect to unemployment in some studies that use panel data (Winkelmann R. 1998; Shields A. Michael & Price W. S.; 2005). Last but not the least, those who are having a good job too face stress which is mostly the result of incapability of the individual to meet with the requirements of the job. These requirements are termed as job stressors and have serious consequences. But it is productive too in the sense that a moderate level of stress improves an individual performance on the job. Hence it is different from the stress experienced by an individual who is unemployed.

From the foregoing analysis (Hammarstrom A. & Janlert U. 2003) what we conclude is that the major stress hazards associated with higher rates of unemployment are under - employment, lower wages ( inadequate pay), poorer workplace benefits and chronic uncertainty about the economic future. This research paper aims to provide a picture of how the stress on the unemployed individual, the sources and consequences of stress specifically behaviourally ones and how social institutions may act as the most effective coping strategies to be undertaken by the unemployed individual and to determine what factors are affecting the condition of stress on unemployed ones and the role of social capital as major coping strategy.

### **Consequences**

There are various techniques to measure stress

effect of which self-report and neuro-physiological are most widely used. But since there is no single universally agreed to definition of stress and consequently no single measure that will tell us when a person is stressed or operating under stressful conditions (Eckenrode, J. & Gore S. L.; 1981, Smith R. 1987, & Atkinson, T. Liem, R., & Liem, J.H.; 1986) contend that, rather than either self-report or physiological measures, task performance level should be the primary criterion for determining the effects of exposure to stress. They argue that change in behavioural performance efficiency is the most sensitive reflection on human response to stress. What we want to stress is that similarly in case of unemployment related stress too, behavioural consequences are far more important than other ones.

Many previous studies have confirmed the devastating effects of unemployment on individual well-being, both pecuniary and non- pecuniary, Economics have emphasized income and consumption (Kong Fannin, Perucci, C. Carolyn, & Perucci Robert; 1983) other research papers have emphasized the physical, mental and emotional damage of unemployment (Creed P. A. & Evans, B.M.; 2002). Extreme effort over time in response to chronic stress can result in either mental or physical exhaustion or injury. Researchers have found strong relationships between unemployment rates and increased mental hospital admissions, suicide, homicide, total mortality, and cardiovascular- renal disease

mortality (Brenner, 1973, 1976, 1977). Unemployment also contributes to greater depression and lower self-esteem (Paul & Moser, 2006) and to family instability, decreased family relations, and family violence (Jahoda, 1982) and these relationships are not just a correlation: there is a causal connection.

The stress can manifest itself physically, emotionally or mentally, and psychologically as reflected in behaviour and attitude alteration. The effects are summarized in the following table.

### *Effects of Stress*

<i>On body</i>	<i>Thoughts and feelings</i>	<i>Behaviour</i>
Heart palpitations	Anxiety	Eating disorder
Headache	Restlessness	Anger outburst
Chest pain	Irritability	Social Withdrawal
Heart disease	Depression	Crying spells
Heart palpitations	Sadness	Relationship conflicts
High blood pressure	Anger	Sexual dysfunction
Decreased Immunity	Feeling insecure	OCD
Stomach upset	Lack of focus	Onychophagia
Sleep problems	Burnout	Forgetfulness

Why so much emphasis is laid on behavioural outcomes of unemployment can be understood in terms of its relationship with the well being of the individual and the capability of the individual to find job. Some behavioural outcomes directly lower the financial well being of the unemployed individual such as drug addiction entails a heavy on the financial resources of the individual. Secondly, it degrades the individual mentally and physiological there by reducing the probability of getting a job.

### *Defining and measuring social capital*

Social capital is multi-dimensional concept that emphasizes both the quality and structure of social relationships. While the term "social capital" has been used in varied ways, it can be defined as networks of social relations which are characterized by norms of trust and reciprocity and which lead to outcomes of mutual benefit (Barrera, M.Jr. & Ainlay, S.; 1983). Social support may best be understood as a met construct, referring to three subsidiary constructs: support network resources supportive behaviours, and subjective appraisals of support ( Vinokur & Caplan, 1987). Social support may be for individuals; this can mean access to social connections that help the processes of getting by or getting ahead. Social capital can be measured at the community and at the individual level.

### *Role of social capital*

Normally, human beings respond to stressors either through extraordinary mental or physical effort or by exhibiting behavioural alterations. Coping is generally defined as constantly changing

cognitive and behavioural effort to manage the internal and external demands of transactions that tax or exceeds personal resources . Coping with job loss and unemployment therefore refers to the cognitive and behavioural efforts to manage the demands faced by an individual as result of their situation.

The process of coping with stressful events such as unemployment is complex and highly dynamic and is directed towards moderating the impacts of such events on an individual's physical social and emotional functioning. The coping strategy adopted by the individuals is determined by a number of factors: personality variables (personal control and type A and B behaviour patterns), demographic facts (age, gender), socio demographic factors (education and income) and availability of coping recourses (self esteem and experience). In this context the role of social capital which includes social cohesion, social interactions, social inclusion and social institutions as a coping strategy for the unemployed individuals becomes quite important given the collectivist character of Indian society and culture.

Empirical studies of labour markets show that social contacts are an important source of job- related (Stiglitz , 2002). The importance of social networks for finding jobs has been recognized by the economics literature at least since the pioneering work of Rees and Schultz et al. (1970), also summarized in Rees (1996), and by the sociology literature

at least since Granovetter (1973,1995). More recently, formal models have been developed that aim at illuminating relationships between network formation, social network structure, and the workings of the labour market. On the basis of a priori reasoning we can say that worker with more social contacts are on average more likely to be employed and be better paid when employed.

### Conclusion

Obviously, more work-needs to be done on the question of how unemployment stress, social capital and well-being interact. Neither the presence nor the absence of a causal effect of a social capital regarding the size of the well-being loss due to unemployment could be definitely established. The hypothesis that social capital reduces the harmful effect of unemployment related stress on well-being needs to be more vigorously examined particularly for India.

### References

1. Atkinson, T., Liem, R., & Liem, J.H. (1986). The social costs of unemployment: implications for social support, *Journal of Health and Social Behaviour*, 27, 317-331.
2. Bandura, (1997) A. Bandura, *Self- efficacy: The exercise of control*, Freeman, New York (1997).
3. Bandura, (2001), *Social cognitive theory: An agentic Perspective*, *Annual Review of psychology* 52 (2001), pp. 1-26. Full Text via CrossRef / View Record in Scopus/ Cited By in Scopus (660).
4. Barrera, M.Jr., & Ainlay, S.(1983). The structure of social support: a conceptual and empirical analysis, *Journal of*

- Community Psychology*, 11, 133-143
5. Bourne E lyle, Jr and Yaroash Rita, (2003). Stress and cognition: a cognitive psychology perspective, Feb 2003.
6. Brenner, M.H. (1977). Personal stability and economic security, *Social Policy*, 8, 2-4.
7. Cohen S. & Wills, T.A. (1985). Stress, Social support, and the buffering hypothesis. *Psychological Bulletin*, 98, 310-357.
8. Creed and Evans, 2002 P.A. Creed and B.M. Evans, (2002). Personality, well-being and deprivation theory, *Personality and Individual Differences* 33 (2002), pp. 1045-1054.
9. Eckenrode, J. & Gore, S.L. (1981). Stressfull events and social supports: The significance of context.
10. Elgar J.F, Arlett Christine, Grovs Rence, (2003), Stress, coping and behavioural problems among rural urban adolescents; *journal of adolescence*, vol 26, 2003, pp 574-85
11. Gore, W. (1978). The effect of social support in moderating the health consequences of unemployment. *Journal of Health and Social Behaviour*, 19,157-165.
12. Hammarstrom A, Janlert U. (2003). Unemployment: an important predictor for future smoking: a 14- year follow up study of school leavers. *Scand J Public Health* 2003; 31:229-32.
13. Heimpel et al. (2002). Do people with low self-esteem really want to feel better? Self- esteem differences in motivation to repair negative moods, *Journal of Personality and Social Psychology* 82 (2002), pp. 128-147.
14. Jahoda, 1982 M. Jahoda, (1982). *Employment and unemployment: A social - psychological analysis*, Cambridge University Press, New York (1982).
15. Kong Fanning, Perucci C. Carolyn, and Perucci Robert, (1993).The impact of unemployment and economic stress on social support,

- Community of mental Health journal*, Vol.29, june1993.
16. Leana, C.R., Feladman, D.C, & Tan, G.Y. (1998). Research predictors of coping behaviour after a layoff. *Journal of Organization Behaviour*, 19, 85-97.
17. Paul and Moser, 2006 K.I. Paul and K. Moser, *Incongruence as an explanation for the negative mental health effects of unemployment: Meta- analytic evidence*, *Journal of Occupational and Organizational Psychology* 79 (2006),pp 595-621.
18. Rowley and Feather, (1987) . The Impact of unemployment in relation to age length of unemployment, *Journal of Occupational Psychology* 60 (1987), pp .323-332.
19. Smith, R, (1987), *Unemployment and health: a disaster and a challenge*, Oxford Press London.
20. Stiglitz E Joseph, (2002). Employment social justice and social well being *journal of labour review*, Vol 141 (2002) No 1-2.
21. Shields A Michel and Price W.S.(2005). Exploring the economic and social determinants of psychological well being and perceived social support in England, *journal of Statistical society, A* (2005), part 3 pp 513-537.
22. Stone W, Gray Mathew and Hughes,(2003). Social capital at work: how family friends, and civic ties relate to labour market outcome, *Australian Institute of Family Studies*, 2003.
23. Vinokur and Caplan, (1987). A. Vinokour and R.D. Caplan, *Attitudes and social support: Determinants of Job- seeking behaviour and well- being among the unemployed*, *Journal of Applied Social psychology* 17 (1987), pp.1007-1024.
24. Warr and Jackson, 1987 P.B. Warr and P.R. Jackson, (1987). *Adapting to the unemployed role: A longitudinal investigations*, *Social Science and Medicine* 25 (1987), pp.1219-1224.
25. Winklemann R, (1998). Unemployment social capital and subjective well being 12 A, DP No 2346

## Home and Community Influences in Social Development

Dr. A.N. Pathak

Community, home, school, peers, and media exert a greater or lesser influence on children's learning, depending on the age of the children concerned. Many theorists have described the stages in children's development from dependency to independence and have theorized how children learn. In practice, parents, teachers, and community people rarely subscribe to one particular theory, but the decisions they make about children's learning will reflect a stronger belief in one viewpoint. As you develop strategies to promote partnerships for children's education, it is helpful to keep in mind that the perspective others may have on development may differ from your own.

### *The Early Years-Strong Home Influence*

Early researchers such as Maslow (1970), Erikson (1963), and Piaget (1967) all emphasize the strong need for attachment and environmental support of infants and toddlers. Developing children require a physically and emotionally supportive environment in which their basic needs can be met. Infants must first develop trust in others so that they can explore their surroundings. According to Piaget, it is this exploration that enables them to construct knowledge about themselves and their world (Piaget, 1967). Neuroscientists have discovered links between brain structure and brain activity, and brain research substantiates the notion that a child's knowledge develops because of an

interactive process, beginning even as the brain develops before birth. Heredity may determine the framework of a developing child's brain, but researchers point out the many ways in which genes, environment, and infant responses interact to develop the connections between the brain cells that account for learning. Because of this brain-environment interactive development, we can see that myriad events will affect growth, some positively and some negatively.

Type of housing, presence of caregivers, and lifestyles associated with different homes influence children's lives in profound and dramatic ways. Some environments are extremely supportive and nurturing, whereas others are dominating, negligent, and even dysfunctional.

For example, affectionate interactions, consistent practices, organized schedules, and high-quality nourishment bring support and security to young children. Such nurturing environments have secure caregivers who respond to their children by touching, cuddling, talking to, and reading with them. Most authorities agree that emotional support and interactions with the child provide building blocks for intellectual competence and language comprehension.

On the other hand, the trials of homelessness, highly mobile families, absentee parents, and poverty often mean that parents are unable to provide positive and secure environments. The lack of a responsive environment, which stems from the parents' own life experience, will affect a child's intellectual, social, and emotional competence. The young brain is quite resilient, however, and later stimulation or strong emotional bonds can help many children overcome some of the negative results of early deprivation.

Regardless of family configuration, American society expects all families to provide economic and emotional support for infants and toddlers. With more single-parent and dual-income parents, and fewer extended family members available to support them, families face many challenges in providing optimal care for their children.

---

Associate Professor, S.K.M. University, Dumka

### *Preschool and Kindergarten Years- Increasing School Influence*

As children develop a sense of autonomy, they need to learn the boundaries within which they can operate, and they must learn to identify new ones they will encounter as they separate from home. Bronfenbrenner's (1979, 1993) bioecological model accurately explains the transitions from the intimate microsystem of home to the mesosystem of outer linkages that come to bear on the developing child's perceptions and behaviour. As parents give their children necessary support, they must also give them freedom to try things on their own. As we noted, one's sense of self first develops in the home and then extends into the neighbourhood, child-care center, and larger community. At school, the teacher and the children's peers begin to alter or reinforce this sense. Children modify their behaviour in school in response to various rules and regulations and to perceived teacher and peer expectations. At the same time, significant others in the home setting continue to influence development as the early schoolers move from basic trust to autonomy and independence.

Many children have school-like experiences in their preschool years. For other children, school as a culture first comes into focus when they enter formal public or private elementary school. In the preschool years, children may encounter several different types of school-like experiences. Head Start programs, child-care centres, and nursery schools all

demonstrate somewhat different philosophical orientations. Some programs seek to introduce children to school through a more structured curriculum, others try to extend the nurturance of the home, and still others combine facets of both. The current movement toward universal preschool for children is an indication of the growing awareness of the importance of this developmental stage.

Although it is difficult to conduct rigorous studies to determine the influence of different programs on developing children, we have evidence that quality preschool programs do have a lasting, positive effect on children's academic growth and on subsequent life-skill development.

### *Primary Years- Growing Community Influence*

Community influence appears early in children's lives and progresses steadily as children mature. The effect of community depends, however, on how families use neighbourhood resources. The nature of that effect is not simple; it derives from the many subsystems within the community. For example, the family may live in a neighbourhood that provides positive social and physical support or in an area where parents are afraid to take their children outside.

As children expand their horizons, the living conditions of the neighbourhood and community give them experiences on which to build their linguistic, kinesthetic, artistic, spatial, and

interpersonal skills. Children who can visit zoos, museums, libraries, business establishments, parks, and other natural settings are better equipped to deal with the many mathematical, scientific, social, and language concepts discussed in schools than are children who can't. Recent decades have produced a rich mix of cultural and ethnic diversity in many American communities which contrasts starkly with the situation that existed in the mid-20th century. Inclusive schools, ethnically diverse neighborhoods, and transcultural events in most vicinities all produce a positive effect on young children.

Traditions, cultural values, community mores, opportunities for recreation, and other social and cultural activities all play a part in children's development. Experiences interacting with adults in clubs, sports, and art and music activities open up children to differences in communication styles and offer them a range of experiences. Coleman (1991) called this type of involvement with adults a child's social capital and stressed that this capital is as important as financial capital in determining school performance. Maeroff (1999) pointed out how children living in poverty may have fewer opportunities to participate in interactive incidents with different adults than those children who do not. Although socialization practices are learned at home, children who participate in community activities have greater opportunities to practice their negotiating, problem-solving, and intellectual skills. Positive

interactions between community and family give a sense of security and well-being to all. This situation helps families provide the kind of nurturing that children need. Regrettably, not all communities provide healthy conditions for children. Community tolerance for gangs, illicit activities, or establishments with erotic content will have unhealthy and negative influences on children's growth and the experiences they have. Violence in the streets limits everyone's sense of security. Yet, even in neighborhoods besieged by poverty, extended family, churches, social and service organizations, and neighbourhood groups can make a positive difference in children's lives and support and extend the work of families and schools

### *Emotional Development*

Emotion is the complex psychophysiological experience of an individual's state of mind as interacting with biochemical and environmental influences. In humans, emotion fundamentally involves "physiological arousal, expressive behaviours, and conscious experience". Emotion is associated with mood, temperament, personality and disposition, and motivation. The English word 'emotion' is derived from the French word *émouvoir*. This is based on the Latin *emovere*, where *e-* (variant of *ex-*) means 'out' and *movere* means 'move'. The related term "motivation" is also derived from the word *movere*. No definitive taxonomy of emotions exists, though numerous taxonomies have

been proposed. Some categorizations include:

- 'Cognitive' versus 'non-cognitive' emotions
- Instinctual emotions (from the amygdala), versus cognitive emotions (from the prefrontal cortex).
- Categorization based on duration: Some emotions occur over a period of seconds (for example, surprise), whereas others can last years (for example, love).

A related distinction is between the emotion and the results of the emotion, principally behaviours and emotional expressions. People often behave in certain ways as a direct result of their emotional state, such as crying, fighting or fleeing. If one can have the emotion without the corresponding behaviour, then we may consider the behaviour not to be essential to the emotion. Neuroscientific research suggests there is a "magic quarter second" during which it's possible to catch a thought before it becomes an emotional reaction. In that instant, one can catch a feeling before allowing it to take hold. The James-Lange theory posits that emotional experience is largely due to the experience of bodily changes. The functionalist approach to emotions (for example, Nico Frijda and Freitas-Magalhaes) holds that emotions have evolved for a particular function, such as to keep the subject safe.

### *References*

- Allport, Gordon : *Pattern and Growth in Personality*, Holt, Rinehart and Winston, New York, 1961.  
 Angell, J. R.: *The Evolution of*

- Intelligence*. New Haven, CT: Yale University Press, 1922.  
 Arndt, William B. Jr. : *Theories of Personality*, Macmillan, New York, 1974.  
 Asch, M. : *Abnormal and Developmental Psychology*, Ivy Pub, Delhi, 2003.  
 Baldwin, J.M.: *Social and Ethical Interpretations of Mental Development*. New York: Macmillan, 1897.  
 Blumenthal, A.: *Language and Psychology: Historical aspects of psycholinguistics*. New York: John Wiley, 1970.  
 Boring, E.G.: *A History of Experimental Psychology*. New York: The Century Company, 1929.  
 Burgess, R. L. & MacDonald: *Evolutionary Perspectives on Human Development*, Thousand Oaks, CA: Sage Publications, 2004.  
 Damon, William : *Social and Personality Development, Infancy through Adolescence*, New York: Norton, 1983.  
 Dubey, K.C. : *Experimental and Developmental Psychology*, Omega Pub, Delhi, 2009.  
 Eysenck, Hans : *Psychoticism as a Dimension of Personality*, Pergamon, Elsevier Science Inc, Amsterdam, 1997.  
 Grace, G. : *School Leadership: Beyond Educational Development*, London, Falmer, 1995.  
 Hurt, K. F. : *The Quest of the Psychological Jesus, Unitarian Universalist Christian*, 1982.  
 Kaur, Rajpal : *Developmental Psychology : New Trends and Innovations*, Deep and Deep, Delhi, 2006.  
 Keen, E. A. : *Primer in Phenomenological Psychology*, Holt, Rinehart, & Winston, New York, 1975.  
 Laub, D. : *Testimony, Crises of Witnessing in Literature, Psychoanalysis and History*, Routledge, New York, 1992.  
 MacDonald, K. : *Evolutionary Perspectives on Human Development*, Thousand Oaks, CA: Sage, 2004.  
 Maslow, A. H. : *Motivation and Personality*, Harper & Bros, New York, 1954.  
 Sen, Anuradha : *An Introduction to Developmental Psychology*, Indian Pub, Delhi, 2010.

## Psychology of Advertisement and Selling

Dr. Umapati Singh

Advertising is a form of communication intended to persuade an audience (viewers, readers or listeners) to purchase or take some action upon products, ideals, or services. It includes the name of a product or service and how that product or service could benefit the consumer, to persuade a target market to purchase or to consume that particular brand. These brands are usually paid for or identified through sponsors and viewed via various media. Advertising can also serve to communicate an idea to a large number of people in an attempt to convince them to take a certain action.

Commercial advertisers often seek to generate increased consumption of their products or services through branding, which involves the repetition of an image or product name in an effort to associate related qualities with the brand in the minds of consumers. Non-commercial advertisers that spend money to advertise items other than a consumer product or service include political parties, interest groups, religious organizations and governmental agencies. Nonprofit organizations may rely on free modes of persuasion, such as a public service announcement. Modern advertising developed with the rise of mass production in the late 19th and early 20th centuries. Mass media can be defined as any media meant to reach a mass amount of people. Different types of media can be used to deliver these messages, including traditional media such as newspapers, magazines, television, radio, outdoor or direct mail; or new media such as websites and text messages. Advertising may be placed by an advertising agency on behalf of a company or other organization.

---

Professor, Magadh University, Bodh Gaya

### Industry

In 2010, spending on advertising was estimated at more than \$300 billion in the United States and \$500 billion worldwide.

Internationally, the largest ("big four") advertising conglomerates are Interpublic, Omnicom, Publicis, and WPP.

### History

Egyptians used papyrus to make sales messages and wall posters. Commercial messages and political campaign displays have been found in the ruins of Pompeii and ancient Arabia. Lost and found advertising on papyrus was common in Ancient Greece and Ancient Rome. Wall or rock painting for commercial advertising is another manifestation of an ancient advertising form, which is present to this day in many parts of Asia, Africa, and South America. The tradition of wall painting can be traced back to Indian rock art paintings that date back to 4000 BC. History tells us that Out-of-home advertising and billboards are the oldest forms of advertising.

As the towns and cities of the Middle Ages began to grow, and the general populace was unable to read, signs that today would say cobbler, miller, tailor or blacksmith would use an image associated with their trade such as a boot, a suit, a hat, a clock, a diamond, a horse shoe, a candle or even a bag of flour. Fruits and vegetables were sold in the city square from the backs of carts and wagons and their proprietors used street callers (town criers) to announce their whereabouts for the convenience of the customers. As education became an apparent need and reading, as well as printing, developed advertising expanded to include handbills. In the 17th century advertisements started to appear in weekly newspapers in England. These early print advertisements were used mainly to promote books and newspapers, which became increasingly affordable with advances in the printing press; and medicines, which were increasingly sought after as disease ravaged Europe. However, false advertising and so-called "quack" advertisements became a problem, which ushered in the regulation of advertising content.

As the economy expanded during the 19th century, advertising grew alongside. In the United States, the success of this advertising format eventually led to the growth of mail-order advertising.

In June 1836, French newspaper *La Presse* was the first to include paid advertising in its pages, allowing it to lower its price, extend its readership and increase its profitability and the formula was soon copied by all titles. Around 1840, Volney B. Palmer established a predecessor to advertising agencies in Boston. Around the same time, in France, Charles-Louis Havas extended the services of his news agency, Havas to include advertisement brokerage, making it the first French group to organize. At first, agencies were brokers for advertisement space in newspapers. N. W. Ayer & Son was the first full-service agency to assume responsibility for advertising content. N.W. Ayer opened in 1869, and was located in Philadelphia.

At the turn of the century, there were few career choices for women in business; however, advertising was one of the few. Since women were responsible for most of the purchasing done in their household, advertisers and agencies recognized the value of women's insight during the creative process. In fact, the first American advertising to use a sexual sell was created by a woman - for a soap product. Although tame by today's standards, the advertisement featured a couple with the message "The skin you love to

touch". In the early 1920s, the first radio stations were established by radio equipment manufacturers and retailers who offered programs in order to sell more radios to consumers. As time passed, many non-profit organizations followed suit in setting up their own radio stations, and included: schools, clubs and civic groups. When the practice of sponsoring programs was popularised, each individual radio program was usually sponsored by a single business in exchange for a brief mention of the business' name at the beginning and end of the sponsored shows. However, radio station owners soon realised they could earn more money by selling sponsorship rights in small time allocations to multiple businesses throughout their radio station's broadcasts, rather than selling the sponsorship rights to single businesses per show.

This practice was carried over to television in the late 1940s and early 1950s. A fierce battle was fought between those seeking to commercialise the radio and people who argued that the radio spectrum should be considered a part of the commons - to be used only non-commercially and for the public good. The United Kingdom pursued a public funding model for the BBC, originally a private company, the British Broadcasting Company, but incorporated as a public body by Royal Charter in 1927. In Canada, advocates like Graham Spry were likewise able to persuade the federal government to adopt a public funding model, creating the

Canadian Broadcasting Corporation. However, in the United States, the capitalist model prevailed with the passage of the Communications Act of 1934 which created the Federal Communications Commission. To placate the socialists, the U.S. Congress did require commercial broadcasters to operate in the "public interest, convenience, and necessity". Public broadcasting now exists in the United States due to the 1967 Public Broadcasting Act which led to the Public Broadcasting Service and National Public Radio.

In the early 1950s, the DuMont Television Network began the modern practice of selling advertisement time to multiple sponsors. Previously, DuMont had trouble finding sponsors for many of their programs and compensated by selling smaller blocks of advertising time to several businesses. This eventually became the standard for the commercial television industry in the United States. However, it was still a common practice to have single sponsor shows, such as *The United States Steel Hour*. In some instances the sponsors exercised great control over the content of the show - up to and including having one's advertising agency actually writing the show. The single sponsor model is much less prevalent now, a notable exception being the *Hallmark Hall of Fame*.

The 1960s saw advertising transform into a modern approach in which creativity was allowed to shine, producing unexpected

messages that made advertisements more tempting to consumers' eyes. The Volkswagen ad campaign—featuring such headlines as “Think Small” and “Lemon” (which were used to describe the appearance of the car)—ushered in the era of modern advertising by promoting a “position” or “unique selling proposition” designed to associate each brand with a specific idea in the reader or viewer's mind. This period of American advertising is called the Creative Revolution and its archetype was William Bernbach who helped create the revolutionary Volkswagen ads among others. Some of the most creative and long-standing American advertising dates to this period.

The late 1980s and early 1990s saw the introduction of cable television and particularly MTV. Pioneering the concept of the music video, MTV ushered in a new type of advertising: the consumer tunes in *for* the advertising message, rather than it being a by-product or afterthought. As cable and satellite television became increasingly prevalent, specialty channels emerged, including channels entirely devoted to advertising, such as QVC, Home Shopping Network, and ShopTV Canada.

Marketing through the Internet opened new frontiers for advertisers and contributed to the “dot-com” boom of the 1990s. Entire corporations operated solely on advertising revenue, offering everything from coupons to free Internet access. At the turn of the 21st century, a number of websites

including the search engine Google, started a change in online advertising by emphasizing contextually relevant, unobtrusive ads intended to help, rather than inundate, users. This has led to a plethora of similar efforts and an increasing trend of interactive advertising.

The share of advertising spending relative to GDP has changed little across large changes in media. For example, in the US in 1925, the main advertising media were newspapers, magazines, signs on streetcars, and outdoor posters. Advertising spending as a share of GDP was about 2.9 percent. By 1998, television and radio had become major advertising media. Nonetheless, advertising spending as a share of GDP was slightly lower—about 2.4 percent.

A recent advertising innovation is “guerrilla marketing”, which involve unusual approaches such as staged encounters in public places, giveaways of products such as cars that are covered with brand messages, and interactive advertising where the viewer can respond to become part of the advertising message. Guerrilla advertising is becoming increasing more popular with a lot of companies. This type of advertising is unpredictable and innovative, which causes consumers to buy the product or idea. This reflects an increasing trend of interactive and “embedded” ads, such as via product placement, having consumers vote through text messages, and various

innovations utilizing social network services such as Facebook.

## References

- Asch, M: *Abnormal and Developmental Psychology*, Ivy Pub, Delhi, 2003.
- Boring, E.G.: *A History of Experimental Psychology*. New York: The Century Company, 1929.
- Dubey, K.C. : *Experimental and Developmental Psychology*, Omega Pub, Delhi, 2009.
- Ellis, A. : *Humanistic Psychology, The Rational-emotive Approach*, Julian Press, New York, 1973.
- Georgi, A. : *Psychology as a Human Science*, Harper & Row, New York, 1970.
- Ginsburgh, Victor A. : *Economics of Art and Culture, Contributions to Economic Analysis*, Elsevier, 2004.
- Gregory, S. : *Getting around Brown: Desegregation, Development, and the Columbus Public Schools*, Columbus, Ohio State University Press, 1998.
- Grace, G. : *School Leadership: Beyond Educational Development*, London, Falmer, 1995.
- Harvey, Francis : *A Primer of GIS, Fundamental Geographic and Cartographic Concepts*, The Guilford Press, 2008.
- Hoy, W.K. : *Instructional Leadership: A Learning-centered Guide*, Boston, Allyn & Bacon/Longman, 2003.
- Laub, D. : *Testimony, Crises of Witnessing in Literature, Psychoanalysis and History*, Routledge, New York, 1992.
- Millican, J. : *Adult Literacy, A Handbook for Development Education*, Oxford, Oxfam, 1995.
- Moustakas, S.: *Existential Psychotherapy and the Interpretation of Dreams*, J. Aronson, C., Northvale, NJ, 1994.
- Rathod, P B : *Dynamics of Political Psychology*, ABD Pub, Delhi, 2008.
- Sagar, G. Vidya : *Pharmaceutical Industrial Management*, Pharma Book Syndicate, Delhi, 2005.
- Sharma, Ram Nath : *Advanced Industrial Psychology*, Atlantic, Delhi, 2004.

## Nature of Psychology and Learners

Akshay Kumar

Educational psychology is the study of how humans learn in educational settings, the effectiveness of educational interventions, the psychology of teaching, and the social psychology of schools as organizations. Educational psychology is concerned with how students learn and develop, often focusing on subgroups such as gifted children and those subject to specific disabilities. Although the terms “educational psychology” and “school psychology” are often used interchangeably, researchers and theorists are likely to be identified in the US and Canada as educational psychologists, whereas practitioners in schools or school-related settings are identified as school psychologists. This distinction is however not made in the UK, where the generic term for practitioners is “educational psychologist”. Educational psychology can in part be understood through its relationship with other disciplines. It is informed primarily by psychology, bearing a relationship to that discipline analogous to the relationship between medicine and biology. Educational psychology in turn informs a wide range of specialities within educational studies, including instructional design, educational technology, curriculum development, organizational learning, special education and classroom management. Educational psychology both draws from and contributes to cognitive science and the learning sciences. In universities, departments of educational psychology are usually housed within faculties of education, possibly accounting for the lack of representation of educational psychology content in introductory psychology textbooks.

### *Social, Moral and Cognitive Development*

To understand the characteristics of learners

in childhood, adolescence, adulthood, and old age, educational psychology develops and applies theories of human development. Often represented as stages through which people pass as they mature, developmental theories describe changes in mental abilities (cognition), social roles, moral reasoning, and beliefs about the nature of knowledge.

For example, educational psychologists have researched the instructional applicability of Jean Piaget’s theory of development, according to which children mature through four stages of cognitive capability. Piaget hypothesized that children are not capable of abstract logical thought until they are older than about 11 years, and therefore younger children need to be taught using concrete objects and examples. Researchers have found that transitions, such as from concrete to abstract logical thought, do not occur at the same time in all domains. A child may be able to think abstractly about mathematics, but remain limited to concrete thought when reasoning about human relationships. Perhaps Piaget’s most enduring contribution is his insight that people actively construct their understanding through a self-regulatory process.

Piaget proposed a developmental theory of moral reasoning in which children progress from a naïve understanding of morality based on behaviour and outcomes to a more advanced understanding based on intentions. Piaget’s views of moral development were elaborated by Kohlberg into a stage theory of moral development. There is evidence that the moral reasoning described in stage theories is not sufficient to account for moral behaviour. For example, other factors such as modeling (as described by the social cognitive theory of morality) are required to explain bullying.

Rudolf Steiner’s model of child development interrelates physical, emotional, cognitive, and moral development in developmental stages similar to those later described by Piaget.

Developmental theories are sometimes presented not as shifts between qualitatively different stages, but as gradual increments on separate dimensions. Development of

---

Teacher, Ambika High School, Dhekhan, Sirsa, Motihari

epistemological beliefs (beliefs about knowledge) have been described in terms of gradual changes in people's belief in: certainty and permanence of knowledge, fixedness of ability, and credibility of authorities such as teachers and experts. People develop more sophisticated beliefs about knowledge as they gain in education and maturity.

### *Individual Differences and Disabilities*

Each person has an individual profile of characteristics, abilities and challenges that result from predisposition, learning and development. These manifest as individual differences in intelligence, creativity, cognitive style, motivation and the capacity to process information, communicate, and relate to others.

The most prevalent disabilities found among school age children are attention-deficit hyperactivity disorder (ADHD), learning disability, dyslexia, and speech disorder. Less common disabilities include mental retardation, hearing impairment, cerebral palsy, epilepsy, and blindness.

Although theories of intelligence have been discussed by philosophers since Plato, intelligence testing is an invention of educational psychology, and is coincident with the development of that discipline. Continuing debates about the nature of intelligence revolve on whether intelligence can be characterized by a single factor known as general intelligence, multiple factors (e.g., Gardner's theory of multiple intelligences), or

whether it can be measured at all. In practice, standardized instruments such as the Stanford-Binet IQ test and the WISC are widely used in economically developed countries to identify children in need of individualized educational treatment. Children classified as gifted are often provided with accelerated or enriched programs. Children with identified deficits may be provided with enhanced education in specific skills such as phonological awareness. In addition to basic abilities, the individual's personality traits are also important, with people higher in conscientiousness and hope attaining superior academic achievements, even after controlling for intelligence and past performance.

### **Learning and Cognition**

Two fundamental assumptions that underlie formal education systems are that students (a) retain knowledge and skills they acquire in school, and (b) can apply them in situations outside the classroom. But are these assumptions accurate? Research has found that, even when students report not using the knowledge acquired in school, a considerable portion is retained for many years and long term retention is strongly dependent on the initial level of mastery. One study found that university students who took a child development course and attained high grades showed, when tested 10 years later, average retention scores of about 30%, whereas those who obtained moderate or lower grades showed average retention scores of about 20%. There is much less consensus on

the crucial question of how much knowledge acquired in school transfers to tasks encountered outside formal educational settings, and how such transfer occurs. Some psychologists claim that research evidence for this type of *far transfer* is scarce, while others claim there is abundant evidence of far transfer in specific domains. Several perspectives have been established within which the theories of learning used in educational psychology are formed and contested. These include behaviourism, cognitivism, social cognitive theory, and constructivism. This section summarizes how educational psychology has researched and applied theories within each of these perspectives.

### **Behavioural Perspective**

Applied behaviour analysis, a set of techniques based on the behavioural principles of operant conditioning, is effective in a range of educational settings. For example, teachers can alter student behaviour by systematically rewarding students who follow classroom rules with praise, stars, or tokens exchangeable for sundry items.

Despite the demonstrated efficacy of awards in changing behaviour, their use in education has been criticized by proponents of self-determination theory, who claim that praise and other rewards undermine intrinsic motivation. There is evidence that tangible rewards decrease intrinsic motivation in specific situations, such as when the student already has a high level

of intrinsic motivation to perform the goal behaviour. But the results showing detrimental effects are counterbalanced by evidence that, in other situations, such as when rewards are given for attaining a gradually increasing standard of performance, rewards enhance intrinsic motivation. Many effective therapies have been based on the principles of applied behaviour analysis, including pivotal response therapy which is used to treat autism spectrum disorders.

### **Cognitive Perspective**

Among current educational psychologists, the cognitive perspective is more widely held than the behavioural perspective, perhaps because it admits causally related mental constructs such as traits, beliefs, memories, motivations and emotions. Cognitive theories claim that memory structures determine how information is perceived, processed, stored, retrieved and forgotten. Among the memory structures theorized by cognitive psychologists are separate but linked visual and verbal systems described by Allan Paivio's dual coding theory. Educational psychologists have used dual coding theory and cognitive load theory to explain how people learn from multimedia presentations.

The spaced learning effect, a cognitive phenomenon strongly supported by psychological research, has broad applicability within education. For example, students have been found to perform better on a test of knowledge about a text passage when a second reading of the passage is delayed rather than

immediate. Educational psychology research has confirmed the applicability to education of other findings from cognitive psychology, such as the benefits of using mnemonics for immediate and delayed retention of information.

Problem solving, regarded by many cognitive psychologists as fundamental to learning, is an important research topic in educational psychology. A student is thought to interpret a problem by assigning it to a schema retrieved from long term memory. When the problem is assigned to the wrong schema, the student's attention is subsequently directed away from features of the problem that are inconsistent with the assigned schema. The critical step of finding a mapping between the problem and a pre-existing schema is often cited as supporting the centrality of analogical thinking to problem solving.

### **References**

- Blumenthal, A.: *Language and Psychology: Historical aspects of psycholinguistics*. New York: John Wiley, 1970.
- Boud, D., Feletti, G.: *The Challenge of Problem-based Learning*, London, Kogan, 1991.
- Boring, E.G.: *A History of Experimental Psychology*. New York: The Century Company, 1929.
- Bridges, E., Hallenger, P.: *Problem-based Learning for Educational Administrators*, Oregon, ERIC Clearinghouse on Educational Management, 1992.
- Burgess, R. L. : *Evolutionary Perspectives on Human Development*, Thousand Oaks, CA: Sage, 2004.
- Damon, William : *Social and Personality Development, Infancy through Adolescence*, New York: Norton, 1983.
- Dubey, K.C. : *Experimental and Developmental Psychology*, Omega Pub, Delhi, 2009.
- Ellis, B.J., & Bjorklund, D.F.: *Origins of the Social Mind: Evolutionary Psychology and Child Development*, New York, Guilford Press, 2005.
- Georgi, A. : *Psychology as a Human Science*, Harper & Row, New York, 1970.
- Eysenck, Hans : *Psychoticism as a Dimension of Personality*, Pergamon, Elsevier Science Inc, Amsterdam, 1997.
- Gregory, S. : *Getting around Brown: Desegregation, Development, and the Columbus Public Schools*, Columbus, Ohio State University Press, 1998.
- Hoy, W.K. : *Instructional Leadership: A Learning-centered Guide*, Boston, Allyn & Bacon/ Longman, 2003.
- Laub, D. : *Testimony, Crises of Witnessing in Literature, Psychoanalysis and History*, Routledge, New York, 1992.
- Millican, J. : *Adult Literacy, A Handbook for Development Education*, Oxford, Oxfam, 1995.
- Moustakas, S. : *Existential Psychotherapy and the Interpretation of Dreams*, J. Aronson, C., Northvale, NJ, 1994.
- Rastogi, P.N. : *Management of Technology and Innovation : Competing Through Technological Excellence*, Response, Delhi, 2009.
- Rogers, A. : *Adults Learning for Development*, London, Cassell, 1992.
- Rathod, P B : *Dynamics of Political Psychology*, ABD Pub, Delhi, 2008.
- Sagar, G. Vidya : *Pharmaceutical Industrial Management*, Pharma Book Syndicate, Delhi, 2005.
- Sen, Anuradha : *An Introduction to Developmental Psychology*, Indian Pub, Delhi, 2010.
- Shen, Zheng : *Organizational Psychology: Foundations and Applications*. New York: Oxford University Press, 1998.
- Smith, M.K. : *Local Education, Community, Conversation, Action*, Buckingham, Open University Press, 1994.

# A Healthy Relationship between “Doctor and Patient”

**\*Dr. Anjana Singh and \*\*Dr. Malini Verma**

The doctor-patient relationship is one of the most unique and privileged relations. The only relation, which stands above this, is the mother-child bond. A patient to a doctor is at once a dependent child, an eager student, a friend and a person needing advice, help, sympathy, understanding and hope. It is built on a solid foundation of ‘trust’ and ‘empathy’. Trust and empathy that comes from effective communication and interaction between doctors and patients. Patients, as human beings, come to health facilities with their own expectation for care. Care of not only their “body”, but also their “mind” and “soul”.

In our own culture, the ancient physician, Charaka, said a physician must be fearless, merciful and tolerant. “A good physician nurtures affection for his patients exactly like the mother, father, brothers and kinds. The physician having such qualities gives life to the patients and cures their diseases he said.

The famous physician and teacher, Sir William Osler, who worked in Canada, the USA and Oxford, was an exemplary doctor when it came to treating a patient and teaching a student. He wanted the doctor not only to give him his best but employ sense of humour, cheer his patients when everything looked bleak and dark. His famous quote, “Not to take the hope away from the patient under any circumstances ...eternal hope which comes to us all”, should be remembered by all.

---

\*Senior Lecturer, J.D. Women’s College, Patna (MU)

\*\*Senior Lecturer, J.D. Womens College, Patna (MU)

What then has changed the scene? There are a number of factors. The introduction of technology has changed the image of the doctor for the patient. The institutional and group practices have further blurred the individual doctor-patient relationship. Mobility of the patients from place to place and continent to continent has added to this. Worse still is commercialisation of medicine because of various reasons, particularly the high cost technology, and the general societal trend of consumerism has certainly affected doctors as well.

What rules, if at all rules can laid down, should govern the doctor-patient relation? There are a large number of legal regulations. A lot is available in the legal form as defined under Tort’s law, Helsinki Code of the World Medical Associations of 1964 and revised in 1975, the Nuremberg Code of 1945, Code of Medical Ethics of the Medical Council of India of 1970 in our own country, the Guidelines by the Council for the International Organisation of Medical Sciences of 1984 and now the Consumer Protection Act. To my mind, it is the ethical behaviour both on the part of the doctor as well as the patient which should govern this very pleasant and fruitful relationship.

The breakdown of doctor-patient relationship, any reasons, will lead to “mistrust” between them. This mistrust can lead to patient “dissatisfaction” and “resentment” that may cause “medical litigation” against doctors. In this situation, it is natural that doctors have to protect themselves, among other things they do is to secure “malpractice insurance”. Doctors become more careful in their practice. Doctors may not rely much on “clinical approach” in dealing with patients - the approach that can strengthen and maintain good relationship between doctor and patient. Doctors will use more sophisticated tools for investigating the causes of illness. Doctors use newer medicines to ensure full expectation of cure of the disease. This phenomenon certainly will lead to, among other things, high, and eventually skyrocketing of health care cost the situation whereby a vicious cycle is formed between

- PATIENT DISSATISFACTION

- MISTRUST
- MEDICAL LITIGATION
- OVER INVESTIGATION WELL OVER TREATMENT, AND HIGH HEALTH CARE COST

Communication between doctors and patients must be adequately effective. Interaction between doctor and patient must be appropriate enough to create better understanding on both sides. To ensure such a communication and such an interaction, doctors need to have and spend enough time with patients. It is difficult indeed for doctors to have enough time for all these aspects. Doctors today are overburdened with the huge number of patients coming for care. This situation will never end.

People will continue getting sick and they will keep coming to get help from doctors. One of the important contributions to this situation is the design of our health care services delivery systems, the systems that are mainly designed to wait for people to get sick and come for treatment in spite of the prevailing national health policy on "health promotion" and "disease prevention", whereby people can be kept healthy as much as possible, not to fall sick easily or often; and not to overburden the treatment facilities.

The governments' investment still too heavy in the development of infrastructure that in favor of "treatment" at the cost of "prevention". Furthermore, the failure of referral systems of health care

that leads to bypassing of patients in particular, to secondary and tertiary levels without proper reasons.

Attention also needs to be paid to the ethical code of medical practice. We may need to see how this ethical code is implemented to ensure positive relationship between doctors and patients. This is primarily the role of medical councils and medical professional bodies, such as medical associations. Fairness for all in medical practice must be ensured by medical/health care service facilities. As much as it can be done, it has to be ensured that doctors have enough time with their patients by:

- REDUCING DOCTORS WORKLOAD
- PROMOTING PREVENTIVE CARE BY OTHER PROFESSIONS
- DELEGATING SIMPLE MEDICAL TREATMENTS TO OTHERS

On the other hand, for the patients they need adequately educated to clearly understand the functioning of health care systems; to understand the roles of various professions; including doctors, who provide public health and medical services; to understand when and where to go for care, and at what level of the health services delivery system.

And, very importantly, the patients or people generally have to be educated and empowered to be able to take effective care of their own health. This is self-care - self-care at individual, family and community levels. Educating people to be functionally literate in self-care

is an essential element for strengthening doctor-patient relationship.

We need to keep in mind so that all patients basically love, and highly respect their doctors. And they expect doctors to love them and respect them also. Doctors too need to better understand their patients, to understand not only the patients' sickness; but also their social, cultural and economic profiles, not less important, to understand the patients' expectations. And, if needed, try to help reconcile such expectations - expectations of patients and expectations of doctors.

The doctor's role:

- The doctor needs to pay full attention towards patient's symptoms, his story and above all his anguish and sufferings.
- Listening to the patient is very important even if the diagnosis is written on his face. This is one of the failings which a doctor should avoid as this would leave the patient dissatisfied. After his clinical examination and required investigations, the doctor should spend time in analysing his problems and come to a tentative or definite diagnosis depending upon the situation.
- Maintenance of patient's confidentiality absolutely essential and should never be breached except by court of law.
- Maintaining of a good record is very good both for the doctor and the patient perhaps even

more for the doctor, This often is the saving grace for a doctor under some kind of blame.

- Patient should be offered choice and alternative not in 'a superficial manner but in a very formal manner so that the patient has the feeling of participation in the decision making. This will to some extent depend upon the patient's intellectual capacity and social background.
- Refer the patient to a colleague time and doctor should never sit on prestige or hold on the patient longer than required. In an institute particularly this is of great help in handling a complex problem or a VIP patient.
- In my personal experience even if something has gone wrong, taking the patient into confidence would help in most of the circumstances unless there is an ulterior motive.
- Whereas the patient or the family need informed about the nature of the disease which is not always optimistic or hopeful, but need not be traumatic. Somebody has said, "The truth may be brutal but the telling of 'need not be'".
- The consent taken for any procedure should not be a mere formality but should be explained to the patient fully in his own language and his own level.
- Doctor should not be judgemental about

patient's personal habits or attitudes

Roles of the Patient:

- Should choose his doctor or hospital carefully and with awareness. Having done this, full trust and faith should be reposed in the doctor.
- Should provide full information about the illness and all the relevant social and family background.
- Should not hesitate to ask as much information as he wants and clarify the instructions without any hesitation.
- Reports in case of any drug reaction or other adverse happening.
- Should understand the risk involved in a procedure or operation.
- Should know that medical science biological science and lot of decisions are made on the basis of experience and personal judgement. Many things cannot be fully explained or predicted.
- Avoid shopping around with multiple doctors and alternative systems.
- Avoid believing in heresay, rumours and not readily believe the facts printed in non-professional publications.
- Carefully read the consent for any procedure, try to understand its implications and ask for clarifications, if required.
- Should differentiate between a complication or mishap and negligence and not blame the doctor

for every thing that goes wrong.

However, any member of dos and don'ts cannot fully describe the doctor-patient relationship, which is ultimately defined by trust, compassion, empathy and goodwill. These are some well defined roles of doctors and patients. The more they implement the roles accordingly the more it will help them to build a healthy relation.

I personally believe that doctor should not look at his patient as a bundle of complaints. A patient should look at his doctor with trust and hope but should understand the limitations both of the doctor as well 'a medical science.

#### *References:*

1. Ethics, Law, and Medical Practice (Part A "The Doctor-Patient Relationship by Kerry J. Breen, Vernon D. Plueckhahn, Stephen M. Cordner.
2. The Management of the Doctor-Patient Relationship (1960) by Richard H. Blum.
3. Handbook of Health Communication (Part I "Provider-Patient Interaction Issues") by Teresa L. Thompson Alicia M. Dorsey, Katherine I. Mille Roxanne Parrott.
4. Communication Skills for Medicine (Chap. 10 Challenging Consultations: Special Problems in Doctor-Patient communication) by Margaret Lloyd, Robert Bor, Geraldine Blache, Zack Eleftheriadou David Weatherall.
5. Patient-Doctor relationship: changing perspectives and medical litigation (journal of post graduate medicine) year: 2009, volume: 25, issue: 3, page: 356-360: K Ganesh, Directorate general- medical services (Army), Adjutant General's Branch, L Block, New Delhi 110 001, India.

# Role of Academic Library in/for Information Literacy

Parveen Kumar

This paper presents the role of academic library in information literacy in the present time. Information is the very important aspect for the growth of any country. In this context information literacy is an essential tool in the development of various fields. Academic library is an essential part of university as well as of an institution. In Academic library we can include university library, college library as well as school library. Academic libraries are playing an important role for information literacy. Academic libraries provide excellent services for the benefit of students, teachers, researchers, and all those who are interested in education. All over the world many of the schemes, policies and services provide for information literacy. Keyword: Information literacy, Academic library, tool literacy

### Introduction

Information is the very important aspect for the growth of any country. Those countries where people are illiterate they call us undeveloped & backward countries. In this concept, Education plays an important role in the development of any society as well country.<sup>1</sup>

Information is the way to reach right place "It's essential to our survival as water, food, shelter and clothing. Information is, however, much more than a survival tool. Information unleashes our imagination and challenges our preconceptions and thereby provides us with a pathway to personal growth and fulfillment."<sup>2</sup>

In a digital world where the amount of

information doubles every two years, students need to evaluate resources carefully and determine how to use relevant information to solve problems and make wise decisions.<sup>3</sup>

Information is seen as a facilitator of change, a disturber of traditional relationships and alignments and as the future basis of financial, political and societal power. Information has been called a commodity, one of the few things that do not diminish in value in proportion to the number of people who use it. Even so, the global distribution, access, and use of information are complicated by many factors such as language, politics, economics, and culture. The information and communication system will be the parameter of a country's development. No country or individual can continue to offer to remain in isolation and ignore rapid development in the field of information and communication technology. The term information literacy was introduced in 1974 by Zurkowski who was the president of the US information industry Association to refer to people who knew how to apply information resources to their work. Even after three decades of its first use, information literacy as a concept is still evolving. Various attempts have been made by experts to explain this concept of information literacy. Often information literacy, library literacy, media literacy, computer literacy, network literacy and digital literacy are erroneously used as synonymous terms. Library literacy relates to the competency in the use of library resources and services.

Media literacy refers to the ability to evaluate the information received from different mass media of information. Computer literacy denotes the skills in manipulating the computer hardware and software. Network literacy refers to the ability to navigate the Internet and digital literacy refers to the ability to explore the digital information. Whereas information literacy is a wider concept that encompasses all of the above mentioned literacies and goes much beyond. It is about using information effectively and

---

Librarian, R.K.S.D College of Education, Kaithal (Haryana)

intelligently. Often some librarians find it difficult to differentiate between library instruction and information literacy. Library instruction is about teaching the use of the library. Information literacy, on the other hand, focuses on student empowerment to do independent and self-directed research. According to the American Library Association to be information literate, a person must be able to recognize when information is needed and have the ability to locate, evaluate and use effectively the information needed. Information literacy is the ability to access, evaluate and use information from a variety of sources.

### **Academic Library**

Academic libraries include college, university and school libraries, serving the teaching and research need of students and staff. Academic libraries are those which support the educational system and promote the research and higher education of a country. Academic libraries are natural for house experts for teaching both students and faculty colleagues, how to find, evaluate and use information effectively.

Academic library is expected to fulfill the objective of the institute and thus the basic function of the academic library is to assist its parent body to carry out its programme. This means that the academic library must adequately serve the needs and requirements of its clientele towards information services for reading, study and research.

Academic library must become a positive influence in society for the expansion of information literacy and helping men and women in their quest after truth.

### **Definition**

The libraries are the heart of the university institution. An academic library is a library that is attached to academic institutions above the secondary level, serving the teaching and research needs of students and staff.

### **Information Literacy**

The definition of an information literate person extends beyond school and application to academic problems—such as writing a research paper—and reaches right into the workplace. Information literacy is also important to effective and enlightened citizenry, and has implications that can impact the lives of many people around the globe.

The ability to use information technologies effectively to find and manage information, and the ability to critically evaluate and ethically apply that information to solve a problem are some of the hallmarks of an information literate individual. Other characteristics of an information literate individual include the spirit of inquiry and perseverance to find out what is necessary to get the job done.

We live in the Information Age, and “information” is increasing at a rapid pace. We have the Internet, television, radio, and other information

resources available to us 24 hours a day, 7 days a week. However, just because so much information is so easily and quickly available does not mean that all of it is worthwhile or even true.

### **Roll of Academic Library for Information Literacy**

Academic library plays a nominative role in the field of information literacy. Many users are not aware of the different types of resources and services available in the academic libraries. It provides type of resources to the user through different types of medium, which are helpful in improving information literacy. The university, college and school libraries are the main part of the academic libraries, when the child enters in the academic sector such as school level the school library provides the direction to the student like how to use literacy resources. It's also generating the user's reading habit. Academic libraries such as college and university libraries increase the information literacy through various aspects likewise newspaper section, subjective section where different types of books are available related to different subjects, IT section, research article section, periodical section etc. through news paper section academic library provides general information, current awareness through news papers, magazines etc. Through subjective section academic libraries provide deeply the information related to different

subjects which are helpful in educational growth. The modern age is computer age. Information technology is an essential factor in the development of all fields. Academic libraries provide computer facilities to the user, by which the user can access important information in a few seconds through various channels. Academic libraries also have research publications, journals, periodicals, articles etc by which the user can be made aware about research work and also helpful in R&D. In this context, time to time academic libraries are also organizing the orientation programmes, seminars, workshops, conferences for resource awareness as well as promoting the information literacy. So it can be said that academic libraries are helpful in the development of educational system as well as information literacy.

#### Conclusion

The information is a very essential factor in social, economical, educational and cultural development. Progress of any country is based on information literacy. The technology is changing day by day. People should be enabled to access the information and use it. Library is a very important source of information storage. An academic library plays a vital role in the context of information storage and promoting educational system as well as R& D. Information literacy is a type of ability which provides a direction to use of various resources. An

Academic library is characterized by its commitments to instruct students, faculty and staff to foster a climate, which encourages lifelong learning to maintain their status in society. Today the Government of India and academic institutions support information literacy through various resources such as school, college, and university libraries to support the information literacy in the society at various stages, which is helpful in the growth of country.

#### References

1. <http://www.libsuccess.org>
2. [http://www.en.wikipedia.org/wiki/information\\_literacy](http://www.en.wikipedia.org/wiki/information_literacy)
3. Available at <http://www.emeraldinsight.com>
4. American Library Association. Final Report: of the American library Association, prudential
5. <http://knol.google.com/k/information-literacy-a-review-of-literature>
6. KARISIDDAPPA (C R). Blending Information Literacy and Technology to Promote the Use of Digital Information Services in the Indian Universities. *SIS*; 27-29 Jan.; 2005; Visakhapatnam; p. 647-655.
7. CHAMPELL (S). Defining Information Literacy in the 21<sup>st</sup> century. *70th IFLA General Conference and Council*; 22-27 Aug.; 2004; Argentina; p. 234:

#### New Release

## THE WORLD OF CHEMISTRY

By Dr. Sapna Kumari

*Chemistry is the science concerned with the composition, structure, and properties of matter, as well as the changes it undergoes during chemical reactions. It is a physical science for studies of various atoms, molecules, crystals and other aggregates of matter whether in isolation or combination, which incorporates the concepts of energy and entropy in relation to the spontaneity of chemical processes. Modern chemistry evolved out of alchemy following the chemical revolution.*

# 'Kubla Khan' as the Waking Dream of Coleridge

Dr. Sunil Kumar

Coleridge fashioned his ideas on the relationship between poetry and dreams throughout much of his life span. He was attracted by the nature of dreams and was particularly intrigued by the fact that a dreamer passes no judgement and accepts with full faith all that is happening within the dream. He recognized that the state of poetic faith in which a dream places its viewer could be envied by poets, and came to believe that the aim of a poet is to create a state of illusion for the reader that is akin to, differing only in degree from, dreaming. In the *Biographia Literaria* he says:

The poet does not require us to be awake and believe; he solicits us only to yield ourselves to a dream; and this too with our eyes open, and our judgment *perdue* behind the curtain, ready to awaken us at the first motion of our will: and meantime, only, not to *disbelieve*.

By emulating the state of illusion in dreaming, a poet may create in the reader a tendency to believe the improbable, to suspend his judgement and to follow the poet into the waking-dream experience of imaginative fiction.

Coleridge also realized that poetry could not exactly emulate a dream, for to the waking mind dreams often seem absurd and irrational. Comparing Klopstock with Milton, Coleridge says: The inferiority of Klopstock's Messiah is inexpressible. I admit the prerogative of poetic feeling, and poetic faith; but I cannot suspend the judgment even for a moment. A poem may in one sense be a dream, but it must be a waking dream. (LL II 425)

Since the will is not fully disabled when reading as it is in sleep, one may pass a judgement of disbelief when the illusion is not strong enough to create or to sustain the reader's dream-like state. Coleridge held that poetry create a state in the reader that is similar to dreaming, but also compatible with the waking judgement. In 'Kubla Khan,' Coleridge was creating just such a waking-dream experience for the reader in order to achieve the highest state of poetic illusion, and this is, I would argue, the key to its success as a dream poem. He also believed, at least from 1804, that poetry communicates with its readers, not only through written language, but also through a common sympathy of generalizations. In 'Kubla Khan' Coleridge was evoking such sympathy in his readers through what is familiar and personal to all.

The extensive variety of critical readings is testimony to 'Kubla Khan's' dream-like language. Several of the images in the poem suggest certain interpretations, but rarely is there only one possibility. The Khan, for example, may be focused on as a figure of authority or instead as the man who 'ordered letters to be invented for his people', civilizing yet destroying the primal.

Coleridge was captivated by the states of mind between those of sleeping and waking. During the time that 'Kubla Khan' was written he was intrigued by mesmerism<sup>8</sup> and the magnetic sleep in which conscious volition was said to be suspended.<sup>9</sup> Coleridge would have recognized in the magnetic sleep similarities with the waking-dream state he wished to create for his readers. He would have also seen similarities with the state of mind produced by opium, the medical term for which was 'hypnotic' as deriving from the Greek *hupnotikos* meaning 'narcotic, causing sleep.'<sup>10</sup> If 'Kubla Khan' was an attempt to produce or reproduce an opium-related dream in a poem, it is evident that he would have sought to induce a type of hypnotic state with the use of poetics.

By creating a hypnotic rhythm, especially in the initial lines of 'Kubla Khan,' Coleridge was leading readers into the same 'charmed sleep'

---

Guest Faculty, Department of English, Murarka College, Sultanganj, Bhagalpur

waking-dream experience in which is suspended disbelief. As the rhythm charms the reader so too does the mythic quality of the poem. Xanadu and the Khan are both historical, yet legendary. They have an exotic quality about them and are so far beyond memorable history as to seem mythical. They create an atmosphere of historical romance, giving the reader a point of reference before he is led further into the waking dreamland that is created by romance.

The poem tells of a 'stately pleasure-dome decree[d]' by 'Kubla Khan' in the midst of a landscape at once seen and unseen. Allegorically it is the incarnation of a perfect and ideal vision standing majestically in the landscape of the mind and all of its known and unknown workings. The 'sacred river' that flows through all, connecting and bringing sustenance to the landscape represents the source of ideas and inspiration that allow the Khan to create. The landscape above ground, 'fertile' and 'bright', seems to have a visible perimeter in the form of the 'walls and towers' that 'were girdled round', but though the walls encompass the garden on the sides, below the ground the caverns stretch 'measureless to man/ Down to a sunless sea' to profound depths unknown, unseen, and impossible to contain.

The hypnotic rhythm of the verse continues, but with a more varied meter, to create a heightened dream effect and appear truer to nature—to the

supposed transcription of a real dream—than would a more structured meter and form. In an article entitled 'Coleridge, Mary Robinson, and the Prosody of Dreams,' Daniel Robinson writes effectively on the 'dream world' that Coleridge creates through his versification. Robinson suggests that Coleridge may have followed what he saw as Spenser's lead and 'devised a prosody of dreams to achieve a similar effect'. Indeed the varying verse of 'Kubla Khan' does appear to the reader to be less consciously constructed and more believably a product of the unconscious. The rhythm flows smoothly so as not to disturb the reader from the waking dream in which Coleridge wished to place him. Had the rhythm been too regular or equally too irregular, the result may have been noticeably conscious or jarring and would have dissolved the dream effect. Coleridge often noted the lack of surprise felt in sleeping dreams. Nothing in the rhythm of the poem he realized, could surprise the reader or the hypnotic effect would be lost.

The historical and exotic but natural romance of the first section slides deeper into the waking dream as it moves into a more supernatural, gothic romance. The 'deep romantic chasm' covered by cedars—ancient trees—is 'A savage place', wild and sublime. The description of the chasm invokes the imagery of romance: not only is it 'enchanted', it is 'holy', not in the traditional sense, but in the way in which Romantic

romance depicts a dark, superstitious and eerie side to religion. The place is only as holy as one 'haunted' by the archetypal Eve-like 'woman' [not a woman] wailing for her demon-lover' by the dim light of 'a waning moon'. The supernatural imagery of the figure who haunts and the demon she loves is balanced by its parallel in the Biblical figures of Eve and Satan. While the 'woman' and 'demon-lover' give the Biblical figures a supernatural and mythical quality, their Eve and Satan counterparts give them a familiar, quasi-historical balance. Having evoked the dream of romance with the exotic legend of Kubla Khan and Xanadu, Coleridge leads the reader further into the 'charmed sleep' with the more supernatural imagery of gothic romance.

While there is motion in the first eleven lines with the flowing of the 'sacred river' 'Through caverns measureless to man/ Down to a sunless sea', the movement is smooth and fluid. At line twelve the pace increases and the motion turns to turbulence as the chasm slants 'athwart' its 'cedarn cover,' as 'woman' wails, and as the pressure of the river and chasm builds to a climax and erupts with volcanic force. The imagery is of generation and is representative of creative energy and inspiration in the birth of ideas, as the sacred river explodes in one climactic moment of creativity:

And from this chasm, with ceaseless turmoil seething.

As if this earth in fast thick pants were bre.

A mighty fountain momentarily was forced:

Amid whose swift half-intermitted Burst.

Huge fragments vaulted like rebounding hai.

Or chaffy grain beneath the thresher's flail:

And mid these dancing rocks at once and ever.

It flung up momentarily the sacred river (17-24).

As the fountain of inspiration bursts forth from below, the sacred river flows from the cavern like lava. Down through the garden, 'Through wood and dale the sacred river ran' in all directions, 'meandering with a mazy motion' then back down through the 'caverns measureless to man' it 'sank in tumult to a lifeless ocean'. What the river touched along the way is inevitably fertilized and will provide the materials for creation.

There are sixteen, primarily scenic, transitions in the poem as the reader is led from one place to the next. The reader imagines first Xanadu where there is a pleasure-dome and a river, then measureless caverns, followed by a sunless sea. From there he is led back above-ground to the fertile ground, gardens, and rills girdled by walls and towers, then to ancient forests, and further to a chasm slanting down a green hill, and on throughout the poem. Coleridge emulates the movement of sleeping dreams as one image flows smoothly into another, yet the transitions

are harmony with the waking judgement and do not disturb the waking dream. The light, playful rhyme of the lines on the damsel become longer and heavier as the poem recalls the description of Xanadu and the vision of the pleasure-dome, serving to take the reader back to a more deeply charmed level of the waking dream. Where lines 37-42 hover between 3 and 4 feet, refusing to be pinned down, the verse slows significantly with the 5 feet of line 44, and with the long, heavy stresses of the 'o' and 'u' sounds in line 45 with 'That with mûsic lôûd and lông.' Just as sleep follows the deep sleep/REM/deep sleep cycle, so does the poem reflect differing levels of the depths of dreaming. While Coleridge could not have known of this cyclical phenomenon, he was intensely interested in the different levels of reverie, waking dream, trance or magnetic sleep, nightmare (in which he believed that one is between sleeping and waking) 21 and sleep, and it is likely that the different levels created for the reader by Coleridge are intentional, to emphasize the profound depths of the purely imaginative pleasure-dome and caverns.

Longing for the lost vision the 'I' (38) is confident that if only he could 'revive within me/ Her symphony and song' (43), he could create in poetry a vision of that creation:

[...] with music loud and long,

I would build that dome in air,

That sunny dome! those

caves of ice! (45-47)

Although he begins by describing a longed-for state, the conditionals are soon forgotten and by the end the poet has fed 'on honey-dew [...]/ And drank the milk of Paradise' (53-54). The 'I' has assumed the role of poet.<sup>22</sup> The increase in the pace of these lines recalls the original climax of lines 17-24, but this is a creative process in which the poet has a role. Where the inspired ideas originally rushed to the surface, he must now work to build up this second realization. He has lost the vision, but gained a poem created through human will. In a poem concerned with the loss of creative inspiration, the paradox is that through that loss Coleridge has created, for 'Kubla Khan' has been written.

The waking dream of the reader parallels the experience in the poem by revealing the creative process. The music of the damsel—the muse who pours forth the inspired strains—reveals to the poet the workings of the imagination in the creative process. She sings of Mount Abora, not of Kubla Khan, the pleasure dome, gardens or fountain, but because the creative process happens when she sings, he comes to see that process because of her. It is not Mount Abora he has seen in a vision, but the damsel herself. He wishes to revive her symphony and song, not so that he can finish a very short fragment of a poem on Mount Abora, but so that he can again take part in the creative act and through it come to understand more fully the

processes of the imagination in creativity. Coleridge has presented 'Kubla Khan' as a dream poem so that the reader can also take part in the creative process. However he believed that dreaming is a very purely imaginative experience and by placing the reader in a waking dream state, he is giving the reader the opportunity to see the creative process likewise revealed. Coleridge becomes for the reader, the damsel. His symphony and song—the poem of 'Kubla Khan'—enable the reader to understand the process for himself as it happens to him. As the reader imagines the gardens, fountain, caves, and the damsel, those images are created in his mind and he can experience first-hand personal emotions being evoked by the generalized images. It is through this reader involvement in the waking-dream experience that the poem reveals its representation of the creative process.

The waking dream of the reader parallels the experience in the poem by revealing the creative process. The music of the damsel—the muse who pours forth the inspired strains—reveals to the poet the workings of the imagination in the creative process. She sings of Mount Abora, not of Kubla Khan, the pleasure dome, gardens or fountain, but because the creative process happens when she sings, he comes to see that process because of her. It is not Mount Abora he has seen in a vision, but the damsel herself. He wishes to revive her symphony and song, not so that he can finish a very short fragment of

a poem on Mount Abora, but so that he can again take part in the creative act and through it come to understand more fully the processes of the imagination in creativity. Coleridge has presented 'Kubla Khan' as a dream poem so that the reader can also take part in the creative process. Coleridge would have recognized that reading is always a creative act. However he believed that dreaming is a very purely imaginative experience and by placing the reader in a waking dream state, he is giving the reader the opportunity to see the creative process likewise revealed. Coleridge becomes for the reader, the damsel. As the reader imagines the gardens, fountain, caves, and the damsel, those images are created in his mind and he can experience first-hand personal emotions being evoked by the generalized images. It is through this reader involvement in the waking-dream experience that the poem reveals its representation of the creative process.

Through its hypnotic rhythm, scenic transitions and apparent visionary sight, 'Kubla Khan' has, as Lamb says of Spenser,

[...] the shifting mutations of the most rambling dream, [even while] our judgment [is] yet all the time awake, and neither able nor willing to detect the fallacy,— [it] is a proof of that hidden sanity which still guides the poet in his wildest seeming-aberrations.

Coleridge has achieved what he calls the aim of a true poet by creating a state of poetic

illusion akin to dreaming. He places his reader in a 'charmed sleep,'<sup>24</sup> creating for him a waking-dream experience and it is through this artful balance of dream and waking judgement that 'Kubla Khan' has its success as a dream poem.

## References

1. Norman Fruman, *Coleridge, the Damaged Archangel* (London: George Allen and Unwin, 1972).
2. K. M. Wheeler, *The Creative Mind in Coleridge's Poetry* (Cambridge, MA: Harvard UP, 1981) 33.
3. Sandra Gilbert and Susan Gubar, 'The Mirror and the Vamp: Reflections on Feminist Criticism,' *The Future of Literary Theory*, ed. Ralph Cohen (New York: Routledge, 1989). Cf: Alan Richardson, 'Coleridge and the Dream of an Embodied Mind,' *Romanticism* 5.1 (1999).
4. M. H. Rowe, "'Kubla Khan" and the Structure of the Psyche', *English: The Journal of the English Association* 40.167 (1991).
5. Norman Fruman, *Coleridge, the Damaged Archangel* (London: George Allen and Unwin, 1972).
6. Eli Marcovitz, 'Bemoaning the Lost Dream: Coleridge's "Kubla Khan" and Addiction,' *International Journal of Psychosis* 44 (1964).
7. All poetry quotations in the present chapter are taken from PW 11 512-14. They are hereafter only cited by line number.
8. Jennifer Ford, *Coleridge on Dreaming: Romanticism, Dreams and the Medical Imagination*, Cambridge Studies in Romanticism 26 (Cambridge: Cambridge UP, 1998) 103.
9. 'Hypnotic,' *The New Oxford Dictionary of English*, 2001 ed. Cf: 'Hypnotic,' *Oxford English Dictionary*, 2nd ed, 1989; rpt 1991.
10. William Hazlitt, *The Selected Writings of William Hazlitt*, ed. Duncan Wu, vol. 2, Pickering Masters (London: Pickering, 1998) 205. 9 vols.
11. Samuel Taylor Coleridge, *Coleridge's Miscellaneous Criticism*, ed. Thomas Middleton Raysor (London: Constable, 1936) 36.

# India's National Food Security Act: Entitlement of Hunger

Dr. Vidyapati Gautam

In a complex context of rising food prices, well maintained under-nutrition among children and women, growing hunger and inequality, the Government of India initiated a process to enact National Food Security Act (NFSA). The Empowered Group of Ministers (EGoM) was set up by the central government to outline the framework of this act. The two key – and problematic – points proposed by the EGoM in the draft food security law are that the definition of food security would be “limited to the specific issue of food grains security (wheat and rice) and be delinked from the larger issue of nutrition security”; and only 25kg of food grains are provided per family, despite the fact that an average family of five, including two children, requires about 60 kg of food grains, 5kg pulses and 4ltrs of edible oil per month. According to article 47 of India's constitution, “The State shall regard the raising of the level of nutrition and the standard of living of its people and the improvement of public health as among its primary duties”. Any discussion and legislation on food security should therefore cover all nutritional aspects needed for survival; sufficient micronutrients and calorific norms should be provided through local foodstuff.

One of the major causes of increasing malnutrition in India is the dearth of fat and protein in the food plate. By keeping the quota of grains so low and without ensuring entitlement of pulses (for protein) and edible oil (for fat), India will not be able to reduce or eliminate malnutrition – this is a point that the pro-market government must comprehend! Every Indian adult should be eligible for 14kg of grains (including nutritious coarse grains like jawar,

bajra and jaudhari) at the rate of Rs 2 per kg, 1.5kg pulses at the rate of Rs 20 per kg, and edible oil at the rate of Rs 35 per kg. It should be ensured that children get half of the above mentioned quota. Furthermore, the ration card should be made in the name of the female head of the family. In fact, the proposed provision of 25kg grain is far less than the 35kg per family quota fixed by the Supreme Court in its 10 January 2008 order. If the 25kg entitlement is legalized, it will demean the verdict of India's apex court.

The path on which government officers such as agriculture minister Sharad Pawar are progressing shows no interest in providing food security to deprived sectors of society, such as the elderly, widows, disabled persons, children, destitute and pregnant women. Today, 46 percent of India's children and 55 percent of its women are malnourished, the world's highest infant mortality, child mortality and maternal mortality are recorded in India, and 40 percent of the world's starvation-hit people live in our country. In these circumstances, limiting legal food entitlements is a constitutional outrage, and a testimony that the present structure of the state corresponds to profit mongers and neo-capitalists rather than people suffering from chronic hunger, exclusion and social insecurity.

During the past 10 years, when India's GDP grew fastest at 8 and 9 percent, there was also the fastest increase in the number of starvation-hit people. Ignoring the fact that drought, floods, typhoons and climate change have led to an increase in starvation is an insult to democracy. Change in agriculture patterns and crop priorities, such as food for bio-fuel and the diversion of agricultural land for industrial purposes, have led the world to a food crisis. Should not the draft food bill address these structural causes of hunger, or is the state's obligation met by the distribution of limited food grain and conditional cash transfers?

The continual statements by India's prime minister, agriculture and finance ministers that the rising prices of food commodities is out of control, shows the failure of the government and of the world's fastest growing economy in controlling food production and distribution mechanisms. It also proves that development priorities now are controlled by the market and certain corporations. Since 2005, the government has been promoting the corporations' direct food grain procurement from the farmers, instead of

M.A., Ph.D., Labour and Social Welfare

strengthening systems to protect farmers and food production. The Indian government seems to have no compunction in violating the Supreme Court's order on right to food, which the Court significantly linked to the fundamental right to life. Since 2001, the apex court is hearing public interest litigation on hunger, malnutrition, social insecurity and employment related rights issues, and has passed 65 such orders that hold the government accountable and require it to allocate sufficient resources. It is now clear that the government is attempting to save itself from the directives of the Supreme Court through this new proposed law; its intention is not in fact to fight hunger. The Mid-Day Meal scheme and the anganwadi (child care) centres are also schemes for food security, but the government is trying its best to keep them out of the legal rights ambit—these and other existing schemes are not included in the proposed law—so that the private sector may be given leeway into the production and supply of supplementary nutrition and school meals. It can be said that the government is trying to unravel the relationship between life and food—as defined by the judiciary—by restricting food security provisions to Below-Poverty-Line families and 25kgs of food grain. The Supreme Court's progressive orders ensuring a multitude of food rights, such as providing 35kgs ration per family, subsidized rations for poor families under the Antyodaya Anna Yojana scheme, supplementary nutritious food and care for infants and children under the age of six through the Integrated Child Development Services, security to pregnant

and lactating women under the National Maternity Benefit Scheme and the Janani Suraksha Yojana, mid-day meals at schools, national old age pensions, along with provisions for the destitute, urban poor, homeless children, single women and widows. Government officials are making their best efforts to bury these rights. The EGoM's draft law proposes deficient rights to be delivered through a collapsed public distribution system (PDS<sup>1</sup>), as well as a boycott of certain social sectors at a time when the Justice Wadhwa Commission recommends widening the ambit of these rights and reforms in the PDS, in its recent report to the Supreme Court. This suggests that the group of ministers is strategically moving to systemically demolish interventions designed in the court for ensuring citizens' right to food.

The draft law makes the central government responsible for identifying poverty levels and allocating food or money to state governments, while the state governments are responsible for the implementation and monitoring of the resources. It seems some in the government are working hard to fabricate a political rhyme out of this law. After all, vases of dried flowers adorn big palaces even if they lack life or scent. If dead things can add to the beauty of palaces, then beauty can be looked for in people living and dying with hunger too, as is being done in the proposed law.

State governments are not allowed to make decisions in accordance to state needs, to extend rights or provide better food security, under the proposed law. This will only add to the pressure on state

governments to give more of their own resources. If the example of Chhattisgarh state is taken, the government is forced to spend Rs 18 thousand million per year, just to provide food grains to beneficiaries. If the central government does not fulfil its responsibilities and if all poor families are not entitled to food grains, state governments would have to spend an estimated Rs 230 thousand million from their own budgets. It is surprising that state governments and opposition political parties are remaining silent on this atrocious law. Their silence will diminish the democratic space and pride of the poor and food insecure in India.

### References

- Abdullah, A Mohamed : *Food Security and Gender Inequality*, Abjiheet, Delhi, 2008.
- Ashman, K.: *Seeds of Change: Strategies for Food Security for the Inner City*. University of California, 1993.
- Avanish K. Tiwari: *Food Security and Global Economy*, Pentagon Press, Delhi, 2009.
- Brij K. Taimni: *Food Security in 21 Century : Perspective and Vision*, Konark, Delhi, 2001.
- Chakraborty, Sudip : *Food Security and Child Labour : The Case of a Hazardous Occupation*, Deep and Deep, Delhi, 2011.
- Cristobal Noe Aguilar : *Food Science and Food Biotechnology in Developing Countries*, Asiatic Pub, 2008.
- Ghose, Arpita : *Globalization, Agricultural Growth and Food Security in India*, Deep and Deep, Delhi, 2011.
- Hanumantha Rao, C.H. : *Agriculture, Food Security, Poverty and Environment*, Oxford University Press, Delhi, 2006.
- Kulkarni, G.K. and B.N. Pandey: *Bioresources for Food Security and Rural Livelihood*, Narendra Pub, Delhi, 2010.
- Narasaiah, M Lakshmi : *Economic Growth and Food Security*, Discovery Publishing House, Delhi, 2008.

## **Globalization and Local Cultures: Issues and Perspectives in India**

**Dr. Surendra Mohan**

There are two levels, theoretically, at which the relationship between the processes of globalization and the responses of the local cultures can be analysed. Firstly, one has to recognize the near universal feeling of disenchantment in the social sciences from the totalizing and generalizing paradigms of positivism – a product of the European renaissance ideology. Positivism proposed abstract systems and categories of culture and society, which often proved inadequate in respect of fuller comprehension of reality. A more meaningful understanding of culture called for reflexive or empathic sensitivity in the concepts and methods of social science.

Analytically, it has contributed to the growth in the phenomenological methods to study local cultures, and the use of ethno-methodological categories. A radical expression of the revolt against positivism is found in the post-modern rejection of the totalizing concepts of culture and social system. In the new approach, focus is upon the local, the particularistic and reflexive dimensions of culture. The significance of the 'local' in the interpretation of culture has also been theoretically recognized in social anthropology. It makes a departure from the 'etic' mode of the understanding of the 'other culture' to an 'emic' approach or a creative balance between the two perspectives. This approach in social anthropology offers the possibility in its paradigm to resolve the conceptual dichotomies of global versus local or historical versus nomological. It helps analytically to transcend the duality of the

'subject-object' in the study of culture. This orientation, which is not confined now to only social anthropology, has emerged from empirical-historical studies in history, sociology and other social sciences. In India, the affirmation of this integrative paradigm in the studies of culture has come from the observational studies of the communities, the exploration of their 'oral' and the textual traditions and the studies of the local dynamics of culture and society.

Secondly, the need in social science to reformulate categories and methods to study culture has been necessitated by the technological revolution in the systems of communication, such as the increased uses of computers, telephony, Internet, etc., which have impacted deeply upon social institutions and modes of interaction. These have also revolutionized the institutions of finance and banking, trade and fiscal relationships, style of life and leisure activities. These changes created social, cultural and institutional forces which surpass the boundaries of the nation-state. Paradoxically, however, these changes impact upon the institutions of local culture and social forms such as the family, neighbourhood and the community in a destabilizing manner and generate many forms of social anomie. At the same time, the universal reach of the communication media, such as the Internet, telephony, etc., have made it possible to produce and augment 'virtual localities' and 'virtual neighbourhoods', etc. Thus, the production of locality, as Arjun Appadurai terms it, goes hand in hand with the erosion of real-time and real-space bonds of communitarianism and local cultures. The disintegration of the folk culture and the folk societies due to marketization of economy and commoditification of production processes, through entrenchment of the capitalist mode of production in agriculture converts 'peasants' into 'farmers', eroding the traditional cultural patterns. It is evident, therefore, that in conceptual and theoretical terms, the relationship between the local culture and the processes of globalization should take into account both the analytical and substantive perspectives of the changing cultural realities.

### *The Indian Perspectives*

There exists a long tradition of research and

---

Lecturer, R.K.D. College, Patna

analysis in India on the conceptual and substantive dimensions of culture at various levels of its existence: the local, the regional and the national.

The national movement and the exposure to the western culture mediated by the colonial rule made Indians very self-conscious of their cultural identity. The anxieties about the impact of globalization and marketization of economy, media and information systems, the leisure and style of life etc., which have direct impact upon the symbolic contents and the foundations of the tradition, have today generated anxious debate among the scholars, the people and the political parties on the policy responses of the state. Such policy has long been in the making, but today the process of globalization and its impact on culture, both local and national, give it a new urgency (Singh, 1994). In most studies of cultural change in India the significance of locality and local culture and its relationship with the nation-state and the national culture has been widely recognized.

This is manifested from the sociology and social history of communities and cultures in India and the trends in the methods of their study. Significance of 'locality' and its role as the building-block of Indian culture and civilization has been increasingly accepted. And, as the processes of economic and social development have expanded, the importance of local cultures and the particularistic expressions of ideology and sentiments have been taken

note of in formulation of the public policies as well as in the analysis of 'nation-state'. For instance, many studies of the communities and their social structure have consciously used people's perspective on social and cultural issues both for analysis of structures and policy formulations to induce change. Increasingly, emic method of analysis has been preferred to the etic mode which was dominating earlier (Mencher, 1978). Social historians have been making use of the emic paradigm as it was found to be particularly sensitive to locality-specific categories in the analysis of cultural reality. The contributions of Burton Stein (1980) and D. Ludden (1985) on the economic and social history of south India fall in this category. Stein brought out the significance of *nadu* (locality or region) in the governance of polity during the time of the Cholas (900-1000 A.D.). Ludden affirms the role of local communities and their autonomy in the operation of agrarian economy. This development in methodology marks also an integrative convergence of different paradigms of analysis of social reality. One could witness emerging convergence between the Marxist and the functionalist perspectives in many recent studies. The cultural and social boundedness of Indian culture by locality and region has long been recognized in the studies of caste, family and rural communities – the three basic social institutions of India. Caste and kinship ties even today have a marked regional and local cultural character.

These developments amply illustrate the recognition of plurality and locality in the analysis of Indian reality and in the social and economic policies for the transformation of society.

## References

- Asha, K. : *Globalization, Democracy and Culture : Situating Gandhian Alternatives*, Jaipur, Pointer, 2002.
- Bala Kiran : *Social and Economic Development of Scheduled Tribes*, Deep & Deep, Delhi, 2000.
- Bhasin M. K. : *Genetics of Castes and Tribes of India*, Kamla-Raj Enterprises, Delhi, 2001.
- Daniel M. : *Socio-Cultural and Religious Life of Mao Naga Tribe*, Mittal Pub, Delhi, 2008.
- Dutta N.C. : *Politics of Identity and Nation Building in North-East India*, New Delhi: South Asian Press, 1997.
- Gandhi Malli : *Denotified Tribes: Dimensions of Change*, Kanishka, Delhi, 2008.
- Ghosh Abhik : *History and Culture of the Oraon Tribe : Some Aspects of Their Social Life*, Mohit Pub, Delhi, 2003.
- Ian Copland: *Hindu Nationalism and Governance*, Oxford University Press, Delhi, 2007.
- Karma Oraon : *Dimension of Religion, Magic and Festivals of Indian Tribe : The Munda*, Kanishka, 2002.
- Nath, Trilok: *Politics of the Depressed Classes*, Delhi, Deputy Publications, 1987.
- Khan, Rana Muhammad Sarwar : *The Rajputs: History, Clans, Culture and Nobility*, Eastern Book Corporation 2005.
- Nile Green: *Indian Sufism Since the Seventeenth Century: Saints*, Manohar, Delhi, 2006.
- Phillip Gowins: *Sufism : A Path for Today: The Sovereign Soul*, Readworthy, Delhi, 2008.
- Raziuddin Aquil: *Sufism and Society in Medieval India*, Oxford University Press, Delhi, 2010.
- Satyamurthy, T.V.: *Region, Religion, Caste, Gender and Culture in Contemporary India*, Delhi, OUP, 1996.

## The Administration of Public Funds

Dr. Praveen Kumar Tiwari

*The Importance of Proper Fiscal Administration has been Underestimated*

Gradually, consideration has been directed to the use to which the funds were put, until fiscal students have become much concerned about public expenditures. A third important phase of public funds-their administration-has been recognized only recently as being of any particular consequence. It is true that in the very early development of fiscal systems much attention was given to methods for handling revenues and expenditures. As the pressure for funds became more pronounced, however, attention became concentrated on sources of revenue, while little was thought or said concerning the management of the public funds. It is only recently that the importance of this aspect has again begun to receive due consideration.

Various factors have caused modern fiscal students to emphasize the importance of the proper administration of public funds. Expenditures, in numerous political divisions, have become so large that the burden of the revenue charge is felt keenly. Many political units have reached the limit of indebtedness, as well as the maximum tax rate, while a scarcity of funds still exists. Under such conditions the question naturally arises whether the revenues and expenditures have been properly handled. The increased emphasis which has been placed recently upon proper methods of accounting in private business enterprises, has no doubt stimulated interest in the handling of public funds. A modern business firm keeps in close touch with revenues and expenditures through its skilled accountants, and because of this

demand the importance of the accounting profession has increased many times. Since this close management has proved so beneficial to private enterprise, many have seen the need for a similar policy in handling public funds. The continual increase in the number of charges of graft and misappropriation of funds on the part of fiscal officials has no doubt been an important factor in leading citizens to demand a stricter account of the services which these officials render. It is the purpose of this chapter to indicate some of the deficiencies in methods that have been used in handling public funds, and to suggest some improvements.

### **The Administration of Public Funds Should Harmonize with Other Institutions**

When the amount of funds which fiscal officials handled was small, the method in which they were administered was of little concern to others than the officials. As the amount of funds began to increase with the gradual extension of government activity, it became quite possible that the method of handling the funds would be of interest to others than the officials into whose hands the funds were placed.

Adam Smith's axiom that taxes should be paid at a time when it was most convenient is worthy of consideration. In the supply of capital there are seasons of scarcity and seasons of plenty. It is indicative of poor judgment on the part of the fiscal officials, if the collection of revenue is so arranged that the time for its payment comes when the contributor is least able to meet it-that is, at the season when money is already scarce. If such an arrangement exists, it will mean a still greater strain upon bank reserves than what would nominally occur, with a corresponding raise in the discount rate. If, on the other hand, fiscal officials so arrange that substantial payments by the government are made at times when money is already plentiful, the difficulties of a cheap money are increased by such action. In the formulation of fiscal plans, moreover, the possible effects on individual industries have not always been given due consideration.

Many illustrations of these difficulties have occurred in the revenues and expenditures of various political units. One of the outstanding examples, however, has been in the fiscal machinery of the Federal government. In the establishment of the first and second United States

---

Faculty Dept. of Management, VKSU, Arrah

banks consideration was given to their ability to aid individual enterprise. President Jackson went to the extreme in using the government funds for the aid of general industry when he distributed them among the banks of his choice. The resulting speculation, followed by the panic of 1837, led to the adoption of the independent treasury system. The system was not put into actual operation until 1847, and has since remained in some form.

#### *The Independent Treasury-*

The original intention of the plan of the independent treasury was to keep all the funds of the government in this treasury or the sub-treasuries for which provision was made. The chief difficulty with this arrangement was that large sums of capital, which might otherwise have been used as the basis for bank credit, or for productive enterprise, were held in the vaults of the government until they were needed to meet some obligation. These payments were of course at irregular intervals, and frequently had a noticeable effect on the money market. After some years the Secretary of the Treasury was authorized to make deposits, under certain conditions, with national banks. Such deposits were made at the discretion of the Secretary, and the opinions of all Secretaries were not the same, nor could a definite policy of any particular one be relied upon.

The result has been an element of uncertainty in the banking system and in the money market. It could not be foreseen just what policy would be followed by the

#### *Secretary of the Treasury-*

Banks did not know whether to anticipate deposits or

withdrawals. There was no law which regulated these activities, and the practice was so diverse that no definite action could be anticipated. As there has been no uniformity in the receipts and disbursements of the government from year to year, or from month to month, so there has always been more or less uncertainty as to how banks and other industries would be affected by these variations in the operation of the treasury.

The result has been a constant speculation among banks as to what the action of the Secretary of the Treasury would be. The Secretary has been in no way connected with the banks or other industries, yet has had control over a factor which vitally affected their welfare—a situation under which it has been impossible to expect satisfactory cooperation. The independent treasury system still exists, but it has sunk into insignificance to such an extent since the adoption of the Federal Reserve Banking System that its influence is scarcely felt.

#### *The Expenditure of Federal Funds is Carefully Scrutinized*

In the establishment of the Treasury Department there was a diversity of opinion as to what form it should take. Many felt that it would be unwise to intrust the handling of the nation's finances to any particular individual, and contended that the funds should be handled by a commission. Many considered that it would be impossible to secure a man who would be honest enough to intrust with so much responsibility. After much debate the Treasury Department was established

under one head, the Secretary of the Treasury. Unlike other departments, this department is independent of the control of the President, but is closely allied to Congress. To obtain information on financial matters, Congress may inquire directly of the Treasury Department, without the consent of the President.

#### *Organization of Treasury Department-*

The internal organization of the Treasury Department was carefully worked out, and was designed to be a system of checks. At times it has proved rather cumbersome. Besides the Secretary there was to be appointed an assistant Secretary, a comptroller, an auditor, a treasurer, and a register. As the business of the department expanded it became necessary to increase the number of some of these officers, and to assign particular funds to their jurisdiction. It is the duty of the comptroller to scrutinize the correctness of the accounts, and to countersign warrants drawn by the Secretary of the Treasury. The register must preserve vouchers and bills, while the treasurer sees that no funds are improperly paid. The auditor must see that the accounts are properly kept. In order to secure funds from the United States Treasury, it is first necessary that an appropriation be made by Congress, and that the warrant be signed by the Secretary, countersigned by the comptroller, and recorded by the register.

*Later Modifications-*As the business of the treasury expanded, the number of auditors and comptrollers was increased, and a portion of the accounts was distributed to the different branches. To use all

the checks, however, which were first intended, began to prove too complex and cumbersome. In 1894 Congress modified the system by abolishing all the comptrollers except one. Such detailed revisions of accounts as had formerly been practiced were also modified.

There now are six auditors, whose duties are divided in the following manner: the first auditor takes care of the accounts of the Treasury Department; the second auditor handles the accounts of the War Department; the third auditor handles the accounts of the Department of Interior; the fourth auditor reviews the Navy Department accounts; the fifth auditor is concerned chiefly with the accounts of the State Department; while the sixth auditor looks after the accounts of the Post Office Department.

Under the present arrangement the work of the auditors is not reviewed by the comptroller, unless he has reason to question it, or unless some claimant makes an appeal which necessitates a review.

The comptroller keeps a record of congressional appropriations, and on the basis of these appropriations opens a credit account with the various departments of the amount of funds at their disposal. Warrants, when properly indorsed, are debited to these accounts, and it is one of the duties of the comptroller to see that warrants are not drawn in excess of the appropriations.

Claims against the government which the Treasury Department refuses to recognize may be reviewed in the Court of Claims, or carried from here to the Supreme

Court. Recourse may also be had, of course, in petitioning Congress against any decision of the Treasury Department. There has been little question as to the integrity of the Treasury Department, while the system of checks, cumbersome and time-consuming as it often is, has served the purpose for which it was intended. The funds of the government are closely guarded, and warrants are paid only to those who are expected to receive funds. It has not been deemed necessary, as in a number of countries, to have the accounts of the department audited by a legislative committee. Such an experiment was tried by the House of Representatives in the early years of the department, but was not continued. The fact that the department officials may be called upon at any time to make a report to Congress, or may be subject at any time to an investigation of their affairs, has seemed to maintain the efficiency and integrity of the department at a comparatively high level. An avenue is left open to fraud, however, which would be difficult to detect under the present arrangement.

### References

- Benería, Lourdes. *Gender, Development, and Globalization, Economics as if All People Mattered*, New York and London, Routledge, 2003.
- Burke, Frank M., *Valuation and Valuation Planning for Closely Held Finance*, Englewood Cliffs, NJ, Prentice Hall, 1981.
- Caplin, A. and Schotter, A.: *The Foundations of Positive and Normative Finance*, New York, Oxford University Press, 2008.
- Commons, J. R., *Institutional Economics-Its Place in Political Economy*, The University of Wisconsin Press, Madison, Wisconsin, 1934.
- Cootner, Paul : *The Random Character of Public Finance*, MIT Press, 1964.
- Dimson, Elroy: *Stock Market Anomalies*, Cambridge University Press, 1988.
- Gowdy, J., *Coevolution Economics: The Economy, Society and the Environment*, Kluwer, Boston, 1994.
- Granger, Clive W. J.: *Empirical Modeling in Economics, Specification and Evaluation*, London, Cambridge University Press, 1999.
- Guala, F.: *The Methodology of Experimental Economics*, New York, Cambridge University Press, 2005.
- Guarti, Luigi, *The Valuation of Finance*, Blackwell Publishing, 1994.
- Harrigan, K. R.: *Strategies for Declining Businesses*. Lexington, MA: Heath, 1980
- Hausman, D. M.: *The Inexact and Separate Science of Economics*, Cambridge, Cambridge University Press, 1992.
- Hayek, F. A. *Individualism and Economic Order*, The University of Chicago Press, Chicago, 1948.
- Hunt, E. K. *History of Public Finance, A Critical Perspective*, New York, HarperCollins, 1992.
- Link, Albert N.: *Evaluating Economic Damages, A Handbook for Attorneys*, Westport, CT, Quorum Books, 1992.
- Marris, R. L., and Wood, A.: *The Corporate Economy*, London: Macmillan, 1971.
- Martin, Gerald D.: *Determining Economic Damages*, Santa Ana, CA: James Publishing, 1995.
- Meyer, M. W.: *Theory of Finance*, Indianapolis, 1977.
- Mooney, J. D., and Reiley, A. C.: *Onward Industry*, New York, 1931.
- Plous, S.: *The Psychology of Judgement and Decision Making*, New York, McGraw-Hill, 1993
- Ross, D.: *Economic Theory and Cognitive Science*, Cambridge, Mass., MIT Press, 2006.
- Scott, W. R.: *Organizations: Rational, Natural, and Open Systems*, Englewood Cliffs, 1981.
- Selznick, P.: *Leadership in Administration, A Sociological Interpretation*, New York, Harper & Row, 1957.

## Role of E-Business in the New Economy

**Bhupesh Kumar Tripathi**

In context of the electronic revolution taking place in our economy we must recognize these changes take place in a larger economic context. Global competition, interest rates, laws and regulations, social concerns, industry traditions, consumer preferences etc., are all part of environment affecting business activities.

Besides, electronic and non electronic businesses share available economic resources including natural resources, equipment, telecommunication employees' skills etc. E-business, globalization and internet are interdependent. The more global players exist, the more business they want to do which will attract more people to get direct internet access. There are many categories of e-business such as e-commerce, e-marketing, e-mailing, e-auction, and e-supply and so on.

The integration of these categories through internet enhances existing business or to create new virtual business. E-business commonly referred to as "e-Business" or "e-business enable companies to link their internal and external data processing systems more efficiently and flexibly, to work more closely with suppliers and partners, and to better satisfy the needs and expectations of their customers.

In practice, e-business is more than just e-commerce. While e-business refers to more strategic focus with an emphasis on the functions using electronic capabilities, e-commerce is a subset of an overall e-business strategy. E-business involves business processes spanning the entire value chain: electronic purchasing and supply chain management, processing orders electronically, handling customer service, and

cooperating with business partners. E-business can be conducted using the Web, the Internet, intranets, extranets, or some combination of these.

### **Benefits of e-Business**

**Expand Market Coverage** E-Business eliminates these limitations of geography and time zones. The whole world is the available market, 24 hours a day, 7 days a week, 365 days in a year. Worldwide business professionals, buyers, and decision-makers have access to the Internet, spanning all time zones. The buyer conducts business "where" and "when" they want to without traditional limitations. So, with e-Business a firm creates a global, "365x24x7" availability to its customers.

The firms can offer complimentary and supplementary products, and add-on promotions as buyers make selections. This leads to a larger volume of ordering, creating a higher revenue stream at a marginally low cost per transaction. It makes previously uneconomical markets attractive. This increases the size of the available market by turning marginal segments into profitable ones. This ability to turn frogs into princes is powered by e-Business's low variable costs for addressing marginal segments. The power of the add-on products can also be sold into these previously unprofitable segments, turning them into substantially profitable ones.

**Reduce Costs:** The major cost-reduction benefit is the promise of changing the distribution of products and services to customers. Products requiring little or no experience in the buying cycle can be purchased by the customer on the Internet and delivered directly without intermediaries. The elimination of various layers of distribution is the major cost reduction benefit to the market.

The National Association of Purchasing Management outlines the following benefits:

- Reduction in process variations
- Reductions in costs and errors
- Vendor sourcing strategy support

---

Research Scholar, VKSU, Arrah

- Improvements in process capability
- Procurement paradigm shift from passive to active
- Elimination of unwanted paper trail
- Improved access to information
- Reduction in costs and cycle times.

### **Strengthen Customer Relationships**

The purpose of a business is to find and keep customers. E-Business has the ability to deliver benefits that can address both aspects of this statement, by delivering better purchase experiences to the buyer. Buyers are migrating to Internet buying in situations when it's faster, better, and cheaper than traditional methods. Faster e-Business assures faster delivery of products and services by speeding up order fulfillment, and delivering into just-in-time upstream processes, particularly in Business-to-Business environments.

Better Paper and client-server based systems with their "version control" limitations created problems that set limits to their efficiency. The "write-once, read-many" environment of e-Business assures that internal and external audiences see and work with the same up-to-date, accurate data. Additionally, where little customer-vendor interaction is required, e-Business creates an opportunity for virtual self-service counters.

Cheaper The Internet turns every vendor into an equal in a competitive bid. The customer

now has more choice in suppliers. The customer has more alternate vendors, and lower prices are anticipated in all e-Business driven markets.

E-commerce is the process of buying, transferring, or exchanging products, services, and/or information via computer networks, including the internet, seeks to add revenue streams, build and enhance relationships with clients and partners and to improve efficiency. E-Commerce that is conducted between businesses is referred to as business-to-business or B2B. B2B can be open to all interested parties (e.g. commodity exchange) or limited to specific, pre-qualified participants (private electronic market). Electronic commerce that is conducted between businesses and consumers, on the other hand, is referred to as business-to-consumer or B2C. This is the type of e-commerce conducted by companies such as Amazon.com. E-Commerce is generally considered to be the sales aspect of e-business. It also consists of the exchange of data to facilitate the financing and payment aspects of the business transactions.

E-mail is a method of exchanging digital messages. E-mail systems are based on a store-and-forward model in which e-mail computer server systems accept, forward, deliver and store messages on behalf of users, who only need to connect to the e-mail infrastructure, typically an e-mail server, with a network-enabled device for the duration of message submission or retrieval. Email advertising

becoming widely used as a means of distributing advertising messages to people on internet. Email advertising is being tied to the use of promotions and gimmicks. The main advantage of email advertising is that it is cheap to implement and can include feedback facility.

E-mailing Postal services and telecommunications companies are losing market share to the electronic communication, especially, e-mail. It combines the strength of a phone call is its immediacy and the letter has the advantage that everything is in written form. The internet enables instant communication in written form, either by e-mail or on line chat.

More and more businesses are talking digitally to each other. Other than a phone call, e-mails can contain more than just a text. It is possible to attach files like formatted documents, presentation, images or sound. Information can be shared much more easily-mail does also change the way to people communicate. Instead of writing down every aspect in a single letter; thoughts may be spread over multiple e-mails.

E-procurement The registered users look for buyers or sellers of goods and services. They may specify costs or invite bids. Transactions can be initiated and completed. Ongoing purchases may qualify customers for volume discounts or special offers. E-procurement software may make it possible to automate some buying and selling. Companies can control inventories more effectively, reduce purchasing agent

overhead, and improve manufacturing cycles. There are seven main types of e-procurement

- Web-based ERP Creating and approving purchasing requisitions, placing purchase orders and receiving goods and services by using a software system based on Internet.
- E-MRO (Maintenance, Repair and Overhaul) same as web-based ERP except that the goods and services ordered are non-product related MRO supplies.
- E-sourcing Identifying new suppliers for a specific category of purchasing requirements using Internet.
- E-tendering Sending requests for information and prices to suppliers and receiving the responses of suppliers through Internet.
- E-reverse auctioning Using Internet to buy goods and services from a number of known or unknown suppliers.
- E-informing Collection and distribution of purchase information both from and to internal and external parties.
- E-market sites buying communities can access preferred suppliers' products and services, add to shopping carts, create requisition, and seek approval, receipt purchase orders and process electronic invoices with integration to

suppliers' supply chains and buyers' financial systems.

The e-procurement value chain consists of Indent Management, e-Tendering, e-Auctioning, Vendor Management, Catalogue Management, and Contract Management. Elements of e-procurement include Request For Information, Request For Proposal, Request For Quotation, RFx (the previous three together), and eRFx (software for managing RFx projects).

E-shopping is the process of purchasing products or services over the Internet. An online shop, e-shop, e-store, internet shop, web shop, web store, online store, or virtual store evokes the physical analogy of buying products or services at a bricks-and-mortar retailer or in a shopping mall. The metaphor of an online catalogue is also used, by analogy with mail order catalogues. All types of stores have retail web sites, including those that do and do not also have physical storefronts and paper catalogues. Online shopping is a type of electronic commerce used for business-to-business (B2B) and business-to-consumer (B2C) transactions.

### References

- Alvesson, M. and H. Willmott: *Commerce Studies*, Sage, New Delhi, 1992.
- Belkaoui, A.R.: *Accounting Theory*, London, Academic Press Ltd, 1992.
- Blanshard, B.: *The Uses of A Commerce Education*, La Salle, Open Court, 1973.
- Bragg, S. M.: *Accounting Best Practices*, John Wiley & Sons, 2001.

- Choi, F. D.S. and Mueller, G. G.: *International Accounting*, New York, Prentice-Hall International Inc, 1992.
- Dancy, J.: *Introduction to Contemporary Epistemology*, Oxford, Blackwell Publishers Ltd., 1996
- DeGeorge, R. T.: *Business Ethics*, London, Macmillan Publishing Co., 1990.
- Donald N.: *The Rhetoric of Commerce Education*, Madison, University of Wisconsin Press, 1985.
- Galbraith, J.K.: *A History of Economics: the past as the Present*, London: Penguin Books, 1987.
- Keen, S.: *Debunking Economics: The Naked Emperor of the Social Sciences*, Pluto Press, Sydney, 2001.
- Loomes, G. : "Experimental Commerce Education," New York, St. Martin's Press, 1989.
- Morris, J.: *Software Industry Accounting*, John Wiley & Sons, 2000.
- Roslender, R.: *Sociological Perspectives on Modern Accountancy*, London, Routledge, 1992.
- Ross, D. : *Commerce Theory and Cognitive Science*, Cambridge, Mass., MIT Press, 2006.
- Mellor, J. W.: *The New Economics of Growth*, Ithaca, Cornell University Press, 1976.
- P. Venkateshwara Rao: *Dairy Farm Business Management*, Biotech Books, Delhi, 2008.
- Parry M.L.: *Climatic Change, Agriculture and Settlements*, Dawson Folkestone UK, 1978.
- Smith, V. L.: *Papers in Experimental Economics*, Cambridge, Cambridge University Press, 1991.
- Throsby, David, *Economics and Culture*, Cambridge University Press, 2001.
- Tietenberg, Tom, *Environmental Economics and Policy*, New York, HarperCollins, 1994
- Towse, Ruth ed.: *A Handbook of Cultural Economics*, Edward Elgar, 2003.
- Weber, M.: *The Theory of Social and Economic Organizations*, New York, Oxford University Press, 1947.
- Roth, A. E. : "Introduction to Experimental Commerce," Princeton, Princeton University Press, 1995.

# ***The Institutions and Governance of Economic Reform: Theoretical Extensions and Applications***

**Dr. Sharada Nand Sahni**

Policymakers contemplating large scale restructuring of politically sensitive sectors of the economy typically have only a limited window of political opportunity in which to implement their reforms (Keeler, 1993). This paper presents a theoretical framework that aims to assist policymakers in maximizing the returns from such opportunities. While a growing body of theoretical evidence (Megginson et. al., 1994) supports the claim that privatization can yield substantial productivity gains, the difficulties inherent in privatizing monopolies have also been repeatedly uncovered.

Policymakers committed to enhancing the efficiency of state-owned enterprises but wary of public recrimination for failed privatizations have myriads of often contradictory theoretical approaches and arguments to consider in their policy design. This paper highlights the potential for combining three such frameworks that share their origins in *The New Institutional Economics*. It argues that a nuanced combination of agency, property rights and transaction cost theory helps explain the successes and failures of New Zealand's experience with state owned enterprise reform with special reference to the utility sector. This new institutional approach to public sector reform is consistent with a large

body of recent theoretical and empirical work from the 'public management' perspective. However, it may also be feasible to extend the framework presented here to address the added concerns voiced within the 'public governance' perspective. First, the new institutional approach can encompass the need to guard legality and legitimacy as suggested by the inclusion of probity (Williamson, 1999). Public networks or interrelated transactions may be used as the unit of analysis as demonstrated in the private sector by Nickerson and Silverman (1997). Such extensions are beyond the scope of this article that seeks to summarize an emerging underlying theoretical framework for the 'public management' perspective on public sector reform. Successful reform efforts must get the incentives and property rights right but they must also tackle the difficult contracting issues surrounding the reform of many state sector activities.

In short, they must get the regulatory governance structure right as well. While this analytical framework was proposed by Williamson (1996), recent theoretical and empirical contributions by Levy and Spiller (1996) and Heller and McCubbins (1996) and others have allowed for an operationalization of this next stage of reform design. The central tenet is that government's must take advantage of whatever mechanisms they have at their disposal – either an independent judiciary or regulatory rules and procedures – which can best provide a credible commitment against interference in the day-to-day operations of an enterprise.

In Section III, evidence will be presented that New Zealand's institutional environment offered limited credibility for regulatory rules and procedures but was relatively more efficient at providing commitment to privatized firms through contract. However, their privatization program foundered when the government failed to sufficiently consider the hazards involved in transferring highly politicized transactions produced using technologies characterized by substantial economies of scale and scope and requiring large quantities of sunk assets from the public to the private sector. Section IV concludes

---

Daudpur Kothi, MIT, Muzaffarpur

and argues that the theoretical framework has resonance beyond the case study of New Zealand by surveying recent empirical work on utility privatization.

Williamson (1996) claims that the macro approach of centralized planning and targeting of accounting aggregates has been largely discredited. In its place, has emerged a more microeconomic approach based on liberalization, deregulation and privatization. More recently the importance of the precondition of an institutional environment that supports the market forms of organization implicit in this viewpoint has reigned ascendant. Williamson argues for a more microanalytic approach in which the concern over property rights is supplemented by an analysis of the optimal governance mechanisms for private sector transactions. In the context of utility privatization, the choice between contract and legislation based regulation may be as important for the long-term performance of the enterprise as the choice to privatize.

The neoclassical or neoliberal recipe for economic reform includes a hard budget constraint, alignment of spending priorities with economic returns, tax efficiency, financial and trade liberalization including a lifting of any restrictions on foreign direct investment, deregulation and privatization and the establishment of secure private property rights. Of these six recommendations, five can be summarized in the

prescription: 'get the prices right.' By eliminating politically imposed constraints on development and improving transparency and accountability, the government frees economic actors to seek economic returns. Tremendous gains have been realized from stabilization and reform programs across Latin America and around the world that have followed this simple dictum. Rampant inflation has been controlled, substantial one-time efficiency gains have been made in state-owned, regulated and privatized enterprises, new markets have been created and investor confidence restored. Earlier interest in alternative forms of business-government relations characterized by closer and more informal personal ties have waned in the onset of the Mexican debt crisis of 1995 and the East Asian crisis of 1997-98.

However, a growing consensus is emerging around the hypothesis that getting the prices right is a necessary but not sufficient condition for successful state sector reform. Political institutions are increasingly accepted as crucial determinants of economic outcomes (North, 1991; Williamson, 1996; and Henisz, 1998). One institution that is commonly cited as having a tremendous economic impact is that of private property. Regardless of how carefully we design contracts and incentives, we should not expect state-owned enterprises to be able to replicate the performance of a privatized counterpart. The rationale follows Williamson's (1985) impossibility of selective ownership argument by

claiming that public ownership is unable to control agency costs as effectively as the private sector model. While both governance structures face positive transaction costs, agency problems and complex internal contracts, the institutional arrangement for mitigating these problems varies widely across organizational form. In the private sector, the dilemma posed by the separation of ownership and control is dealt with through the discipline of the sharemarket, market for corporate control, monitoring by bondholders, expert board of directors, managerial labour market, mutual monitoring by managers, threat of bankruptcy and competition in product markets (Jennings and Cameron, 1987).

In the public sector, each of these avenues is severely constrained. Outputs are often sold in non-competitive or tightly regulated markets. There often exists at least an implicit government bailout guarantee that eliminates or reduces the threat of bankruptcy. Most importantly, while both private sector shareholders and voters (the implicit shareholders of state-owned enterprises) have incentives to free ride and must bear some costs to become informed, the existence of a market for ownership provides a small number of entrepreneurial capitalists the incentive to overcome these costs and reap financial gain by trading until the share price reflects the net present value of expected future returns. Furthermore, board members can use the share price as a

relatively low cost measure of managerial performance and, assuming they hold an equity stake in the firm, they have an incentive to replace managers in whom the markets place low confidence. Thus every management decision in a state-owned enterprise including pricing, production, marketing and diversification is subjected to reduced scrutiny giving managers greater discretion to pursue their own independent objective functions.

Despite any formal establishment of independent rights and responsibilities, incentive contracts, reporting requirements and operating independence, state owned enterprises remain subject to continued bureaucratic discretion and political intervention. As stressed by Weingast (1995), the establishment of formal property rights does not automatically create market incentives nor provide a credible commitment against expropriation or strategic action by the government.

Those incentives are dependent on the incentives of individual economic actors and those rights must be self-enforcing for a credible commitment to obtain. State owned enterprises, however independently constituted or separated from political control, remain the property of the state as represented by elected public officials. They will, as such, unavoidably be more conscious or made more conscious of political and social constraints crucial to the reelection of the party in power. This may include, but is not limited to,

price restraint, hiring policies, or cultural values. Policymakers who fail to impose these political or social objectives on the enterprises face the possible recrimination of the voters.

### References

- Dalrymple A : *Observations on the Copper Coinage wanted in Circars*, London, 1794.
- Dan Nabudere: *The Political Economy of Imperialism*, London, 1977.
- Dikshit, D.P. *Political History of the Chalukyas of Badami*. New Delhi: Abhinav, 1980.
- Ely, Bert : *The Role of Accounting in the S&L Crisis*, Washington, DC, National Commission on Financial Institution Reform, 1993.
- Fisher, Michael: *A Clash of Cultures: Awadh, the British, and the Mughals*, New Delhi, Manohar, 1987.
- DeGeorge, R. T.: *Business Ethics*, London, Macmillan Publishing Co., 1990.
- Ross, D. : *Commerce Theory and Cognitive Science*, Cambridge, Mass., MIT Press, 2006.
- Mellor, J. W.: *The New Economics of Growth*, Ithaca, Cornell University Press, 1976.
- Galbraith, J.K.: *A History of Economics: the past as the Present*, London: Penguin Books, 1987.
- Gillian G. Garcia : *Financial Deregulation and Monetary Control: Historical Perspective and Impact of the 1980 Act*, Stanford, CA, Hoover Institution Press, 1982.
- Haupt, Ottomar: *Distribution of Stock of Money in Different Countries*, Effingham, Wilson and Co., London, 1892.
- Inderjit Singh: *Economic Development As an Adaptive Process: The Green Revolution in the Indian Punjab*, New York, Cambridge University Press, 1977.
- Maheshwari, Shriram: *Rural Development in India: A Public Policy Approach*, New Delhi, Sage, 1995.
- Metcalf, Thomas R.: *Land, Landlords and The British Raj: Northern India*

- in the Nineteenth Century*, Berkeley, UCP, 1976.
- Mishra, Jayashri: *Social and Economic Conditions under the Imperial Rashtrakutas*, New Delhi, Commonwealth, 1992.
- James R. : *The Great Savings and Loan Debacle*, Washington, DC, American Enterprise Institute Press, 1991.
- Keen, S.: *Debunking Economics: The Naked Emperor of the Social Sciences*, Pluto Press, Sydney, 2001.
- Morris, J.: *Software Industry Accounting*, John Wiley & Sons, 2000.
- Parry M.L.: *Climatic Change, Agriculture and Settlements*, Dawson Folkestone UK, 1978.
- John A. Tuccillo : *Taxation and Regulation of the Savings and Loan Industry*, Lexington, MLA, Heath Co., 1976.
- Jonathan E. : *Financial Deregulation and the Savings and Loan Crisis*, New York, S.C. Bernstein & Co., 1988.
- Keay, John: *The Honourable Company: A History of the English East India Company*, London, Harper Collins, 1991.
- Kumar, Dharma: *The Cambridge Economic History of India, c.1750-c.1970*, New Delhi, Cambridge University Press, 1983.
- Loomes, G. : *"Experimental Economics,"* New York, St. Martin's Press, 1989.
- Muthiah, S.: *A Social and Economic Atlas of India*, Oxford, Oxford University Press, 1987.
- Noorani, A.G. : *Indian Political Trials : 1775-1947*, New Delhi, Oxford University Press, 2005.
- Tietenberg, Tom, *Environmental Economics and Policy*, New York, HarperCollins, 1994
- Smith, V. L.: *Papers in Experimental Economics*, Cambridge, Cambridge University Press, 1991.
- Throsby, David, *Economics and Culture*, Cambridge University Press, 2001.
- Towse, Ruth ed.: *A Handbook of Cultural Economics*, Edward Elgar, 2003.
- Paul, Kegan : *Money and the Mechanism of Exchange*, London, 1890.